सामाजिक परिवर्तन और बीएसपी

एच.एल. दुसाध

सम्यक प्रकाशन

प्रथम संस्करण : 2005 (बुद्धाब्द 2549)
द्वितीय संस्करण : 2012 (बुद्धाब्द 2556)
तृतीय संस्करण : 2021 (बुद्धाब्द 2565)

ISBN : 978-93-90841-66-0

प्रकाशक : **सम्यक प्रकाशन**
32/3, पश्चिमपुरी, नई दिल्ली—110063
दूरभाष : 9810161823, 9810249352
Email : hellosamyak1965@gmail.com
Web : www.samyakprakashan.in

© सर्वाधिकार लेखकाधीन

मूल्य : 225 रुपये

रचना : **सामाजिक परिवर्तन और बीएसपी**
रचनाकार : एच.एल. दुसाध
आवरण : शान्त कला निकेतन
शब्दांकन : संदीप आर्ट एण्ड ग्राफिक्स

मुद्रक : बालाजी ऑफसेट प्रिंटर्स, नई दिल्ली

Samajik Parivartan Aur BSP (Hindi) by H.L. Dusadh

कांशीरामवाद

के प्रति समर्पित

आयरन लेडी

मायावती जी

को,

जिन्होंने एकाधिक बार

मुख्यमंत्री बनकर

हिन्दू ईश्वर व शास्त्रों को

भ्रान्त प्रमाणित करने के साथ ही बहुजनों में

शासक बनने की महत्वाकांक्षा में भारी इजाफा

कर दिया

भूमिका

यह स्थापित सत्य है कि 'सामाजिक संरचना' में निर्धारित कमेरों की भूमिका के कारण दलित समाज में ज्ञान को लिपिबद्ध करने की परंपरा का सर्वथा अभाव रहा है। समाज में धार्मिक आधार पर वैध ठहराई गई भूमिका के कारण दलितों को प्रकृति से अंतरक्रिया कर अपने तथा समाज के लिए संसाधन एकत्र करने होते थे। यानि कि श्रम परिश्रम एवं उत्पादन ये थी उनकी पूंजी जो कलात्मकता, कल्पनाशीलता तथा अन्वेषणों एव अविष्कारों से भरी हुई थी। परंतु शब्दों में, ज्ञान एवं विज्ञान आदि को लिपिबद्ध करने का उनको अधिकार नहीं था। इसलिए ही तथाकथित सवर्णों में व्याप्त कोडीफाइड ज्ञान की परंपरा के विपरीत दलितों में मौखिक ज्ञान (Oral tradition of knowledge) की परंपरा विद्यमान थी। अतः दलित समुदाय जो भी ज्ञान एकत्रित करता, वह मौखिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित कर देता था।

लिखित ज्ञान (Codified knowledge) की परंपरा न होने के कारण ही दलितों में ज्ञान, विज्ञान, कला, कल्पना, सौंदर्य, अविष्कारों का अपार भंडार होते हुए भी अपना कहने के लिए कुछ नहीं था। उनको उनके ही ज्ञान से वंचित कर उन्हें योग्यता विहीन कह कर परिभाषित किया गया। इसके विपरीत उत्पादन की परंपरा का सरासर अभाव होते हुए भी सवर्णो/ब्राह्मणों को योग्य घोषित कर महिमामंडित किया गया। महात्मा फुले ने ब्राह्मणों से एक बार प्रश्न किया था कि *क्या किसी ब्राह्मण ने खेतों में अन्न उपजाने हेतु कभी अपने हाथों को मल से साना है ?* यानी कि क्या ब्राह्मण या अन्य तथाकथित उच्च वर्ण ने खेतों में कभी अन्न उपजाया है ? मेरा तो मानना है अन्न ही नहीं, हमें पूछना चाहिए कि तथाकथित उच्च वर्ण के सदस्यों के समाज में ऐसी कौन सी वस्तु है, जिसका निर्माण उन्होंने अपने हाथों से किया है ? मुझे विश्वास है कि उत्तर नकारात्मक ही होगा। अतः जब तथाकथित सवर्णों ने इस समाज में कोई उत्पादन किया ही नहीं, तो फिर ज्ञान, विज्ञान, अविष्कार तथा कलात्मकता भी उनकी नहीं हुई और तार्किक आधार पर फिर यह सब तो दलितों का है। तो फिर सवर्ण अयोग्य तथा दलित योग्य हुए।

दलितों की इस स्थापित भूमिका (Role) एवं प्रस्थिति (Status) को नवीन दृष्टिकोण या परिपेक्ष्य से विश्लेषित एवं परिभाषित करने हेतु दलितों को अपने ज्ञान, विज्ञान, श्रम, परिश्रम, कलात्मकता, कल्पनाशीलता, आविष्कार, शोध आदि पर पुनः स्वत्व स्थापित करना होगा। इस प्रक्रिया में जितना आवश्यक है कि दलित समाज के सदस्यों की सकारात्मक छवि को चिन्हित कर प्रचारित किया जाए उतना ही यह भी आवश्यक है कि तथाकथित सवर्ण समाज के सदस्यों की नकारात्मक छवि द्वारा समाज को उनका वास्तविक चेहरा दिखाया जाए। एच.एल. दुसाध की यह पुस्तक इसी दिशा में एक निर्भीक तथा साहसिक कदम है।

इटली के मशहूर एवं क्रांतिकारी लेखक एन्टोनियो ग्राम्शी ने वर्चस्व यानि हेजीमोनी के सिद्धांत को परिभाषित करते हुए कहा था कि एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर वैचारिक एवं सांस्कृतिक प्रभुत्व स्थापित करना ही वर्चस्वता या हेजीमोनी है। यह प्रभुत्व/वर्चस्व *'बनावटी सर्वसम्मति'* द्वारा सामाजिक संस्थाओं एवं सांस्कृतिक संरचनाओं में निहित तत्वों के माध्यम से किया जाता है। ग्राम्शी के अनुसार पूंजीपति समाज, समाज की प्रमुख संस्थाओं जिसमें धार्मिक, न्यायपालिका, शिक्षा, प्रचार माध्यम (प्रेस मीडिया) द्वारा ऐसे विचारों को एवं विश्वासों को प्रोत्साहित करता है, जो शासक वर्ग को ही लाभान्वित करते हैं। ग्राम्शी का मानना था कि 'राज्य' (State) ही नहीं *'नागर समाज'* (Civil Society) भी इसलिए शोषित समाज के शोषण में सहयोग करती है। इस संदर्भ में ग्राम्शी कमेरों को आगाह करता है कि अगर शासक वर्ग की वर्चस्वता को तोड़ना है, तो शोषित वर्ग की 'वैकल्पिक वर्चस्वता' स्थापित करनी होगी।[1] इसलिए उन्हें स्थापित सामाजिक मूल्यों, संरचनाओं तथा संस्थाओं को अपने दृष्टिकोण से विश्लेषित कर खंडित करना होगा।

दुसाध जी की यह पुस्तक अनजाने ही ग्राम्शी द्वारा प्रतिपादित 'वर्चस्वता' के सिद्धांत को रेखांकित करती है। ग्राम्शी ने यद्यपि यह सिद्धांत इटली के तत्कालीन समाज में चिन्हित किया था, परंतु दुसाध इस सिद्धांत को वर्तमान भारतीय समाज में कैसे क्रियान्वित हो रहा है, दिखा रहे हैं। इसलिए पुस्तक में उनके लेखों में राज्य सत्ता, धर्म, न्याय व्यवस्था, शिक्षा, प्रचार माध्यम, खेल आदि अनेक सामाजिक संस्थाओं का वस्तुनिष्ठ आंकलन देखने को मिलता है। धार्मिक वर्चस्वता का उल्लेख वे ज्योतिबा फुले के जीवन काल से आरंभ कर पेरियार, बाबा साहेब आंबेडकर, कांशीराम तक ले आते हैं तथा हिंदूवादी वर्तमान संगठनों के छद्म को अपनी पैनी दृष्टि से चिन्हित करते हैं और उसके *'वैशिष्ट्य ज्ञान संकोचन'* को भी उजागर कतरे हैं। साथ ही ब्राह्मणी सत्ता को वे अल्पमत में बताते हैं। ब्राह्मणवाद से टकराने तथा उसका विनाश करने हेतु दुसाध फुले, पेरियार तथा आंबेडकर आदि दलित एवं पिछड़े समुदाय के चिंतकों एवं मनीषियों के विचारों को प्रेषित करते हैं। परंतु उनके विचारों का आंकलन दुसाध का अपना ओरिजनल आंकलन है। वे किसी स्थापित विचारक एवं मनीषी से उधार नहीं मांगते हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है उनकी अपनी शब्दावली तथा अपने सिद्धांत जैसे–दलितों की दयनीय दशा को वे 'दैविक-दासता' का शिकार कहकर परिभाषित करते हैं। अपने शैक्षणिक जीवन में मैंने यह शब्द या कानसेप्ट पहले कभी नहीं सुना या पढ़ा। दूसरा उदाहरण देखें, *लोकतंत्र को अपंग बनाने वाली चेतना का उत्स वर्ण/जाति व्यवस्था है। .... भारत के वर्ण-व्यवस्था की सबसे बड़ी बुराई देश की संपदा व लाभकारी पेशों का असमान वितरण है। ......भारत की वर्ण-व्यवस्था जिसे हिंदू आरक्षण व्यवस्था कहना ज्यादा सही होगा, में शिक्षा, भूमि, संपदा, व्यवसाय-वाणिज्य का अधिकार मात्र ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्यों में ही वितरित रहा। लेकिन शूद्रातिशूद्र पूरी तरह वितरणहीनता के शिकार रहे।* अतः हम देखते हैं कि दुसाध का भारतीय सामाजिक व्यवस्था का आंकलन सामान्य दलित आंकलनों से मात्रात्मक रूप से भिन्न है, जो अत्यंत उच्चकोटि के थियोरेटीशिन के कलम का कमाल है। वरना साधारणतया दलित समुदाय समाज में अपनी सामाजिक व्यवस्था को सामाजिक वंचना

के एकांगी दृष्टिकोण से देखता है। परंतु दुसाध इसे वितरण व्यवस्था कें अंतर्गत आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, शैक्षणिक संस्थाओं की समग्रता में परिभाषित करते हैं। वितरण (Distribution) तथा आरक्षण (Reservation) के अंतर्द्वंदवाद (Dilecticism) को अभी तक भारतीय व्यवस्था में किसी ने चिन्हित नहीं किया था। इसलिए दुसाध की कुशाग्र बुद्धि तथा पैनी दृष्टि दोनों ही बधाई के पात्र हैं।

प्रचारतंत्र ने भारतीय तथाकथित उच्च वर्ण के वर्चस्व को स्थापित ही नहीं किया,उस वर्चस्व को यथावत किस तरह कायम रखा है, इन कारकों की खोज करते हुए अपने लेख 'हिंदू प्रचारतंत्र में बहुजन समाज' में दुसाध लिखते हैं कि वैदिक साहित्य ने दास जातियों के शोषण तथा घृणा की जमीन को तैयार किया। उनका मानना है कि *प्राचीनकाल की वैदिक मनीषा जहां मनुवाद को दृढ़ता प्रदान करने में जुटी रही, वहीं मध्ययुगीन मनीषा उसे पूर्ववत रखने में निमग्न रही...... तुलसी, सुर, मीरा के परवर्ती काल का बंकिम, टैगोर, प्रेमचंद, निराला, महादेवी वर्मा के युग का भारत भी मूलत: यथावतवादी ही रहा।'इसी क्रम में वे कहते हैं कि पश्चिम के वैज्ञानिक मनीषियों द्वारा सृष्ट सिनेमा, टी.वी. जैसे जन माध्यम भी उनकी उस मानसिकता से अछूते नहीं रहे हैं।* दुसाध बड़े भारी मन से लिखते हैं कि यद्यपि फिल्मों ने सवर्णो/ब्राह्मणों के वर्चस्व को तो चित्रित किया, परंतु उनकी निकृष्ट एवं दलितों की दयनीय दशा एवं शोषण को किंचित मात्र प्रदर्शित नहीं किया। उदाहरणार्थ, *कृत्रिमता और कृत्रिमता को ही दिखाने वाले भारतीय फिल्मकारों ने सर्वाधिक कृत्रिमता का परिचय बहुजन समाज को चित्रित करने में दिया है। वर्ण-व्यवस्था में मानवेतर बने बहुजन समाज का इन्होंने कभी यथार्थ चित्रण नहीं किया। पेशवाकाल के हिंदू राज का चित्रण तो किया, किंतु गले में थूकदानी और पदचिन्ह मिटाने के लिए कमर में झाड़ू बांधे दलितों को नहीं दिखाया.... जातिभेद के कारण देश में उत्पन्न विच्छिन्नता को नहीं दिखाया।* ऐसे अनेक तथ्य हैं, जो श्री दुसाध अपने लेखों में उद्‌घाटित करते हैं, जिन सबका उल्लेख यहां नहीं किया जा सकता। परंतु मैं समझता हूं कि तथाकथित सवर्णों के प्रचारतंत्र के माध्यम से अपनी वर्चस्वता को पहले स्थापित करने व फिर बाद में बनाए रखने को समझने के लिए ये उदाहरण पर्याप्त होंगे।

सही कहा गया है कि वास्तविकता (Reality), सामाजिकता (Socially) द्वारा निर्मित (Constructed) है। शास्त्रीय (Classical) समाजशास्त्रियों कार्ल मार्क्स तथा इमाइल दुर्खीम का भी यही मत है और वर्तमान समय में बर्जर तथा लकमैन ने भी अपना नवीन दृष्टिकोण रखा है।[2] अगर उपरोक्त सिद्धांत का परीक्षण लेखन के परिपेक्ष्य में किया जाए, तो हम क्या पाएंगे ? हम पाएंगे कि सामाजिक संरचना में आवंटित लेखक की प्रस्थित (Status) उसके ज्ञान के उत्पादन पर अभूतपूर्व प्रभाव डालती है। क्योंकि सामाजिक संरचना में आवंटित प्रस्थित द्वारा ही व्यक्ति को अधिकार, विशेषाधिकार एवं सेवा प्राप्त होते हैं, जो बाद में वंचना तथा संचय के रूप में सामने आते हैं तथा लेखक की चेतना का सृजन करते हैं और यह चेतना लेखक की रचनाओं में परिलक्षित होती है। अत: जिस लेखक की सामाजिक संरचना में प्रस्थित के कारण विशेषाधिकार प्राप्त हुए हैं, उसके पक्ष में सामाजिक

संचय आएगा और उसकी चेतना में सर्वथा सामाजिक संरचना को यथास्थिति में बनाए रखने हेतु भाव होंगे, जो उसकी जितने भी बौद्धिक उत्पादन–लेखन, फिल्म, पत्रकारिता, साहित्य आदि में परिलक्षित होगा। इसके विपरीत जिस लेखक की सामाजिक संरचना में आवंटित प्रस्थित के कारण सेवा करने के ही अधिकार प्राप्त हुए हैं, उसके पक्ष में सामाजिक वंचना ही आएगी और उसकी चेतना पर यह वंचना अपना प्रभाव डालेगी और वह अपने बौद्धिक उत्पादनों में सामाजिक संरचना में संरचनात्मक परिवर्तन की बात करेगा।

उपरोक्त परिपेक्ष्य में अगर दलितों द्वारा उनके लेखन का परीक्षण किया जाए, तो हम यही पाएंगे। यह सभी जानते हैं कि भारतीय समाज में दलितों की संरचनात्मक ढांचे में क्या स्थिति है और इस दयनीय प्रस्थित के कारण उनके हिस्से में वंचना ही आई है। चाहे वह सामाजिक हो, आर्थिक या फिर राजनैतिक। इन्हीं वंचनाओं से ही दलितों की चेतना का सर्जन हुआ और जब उनकी चेतना का सर्जन वंचनाओं के आधार पर हुआ है, जो कि सवर्णों की चेतना से भिन्न है, क्योंकि वह संचय के आधार पर सृजित हुई है, तो उनके लेखन में सामाजिक संरचना में संरचनात्मक परिवर्तन के अनेक उपाय नजर आते हैं। शायद इसलिए ही ये लेखक समाज में घटित होने वाले विभिन्न कालक्रमों (Processes) को सवर्ण/ब्राह्मणों से भिन्न दृष्टिकोण से परिभाषित एवं वर्णित करते हैं।

एच.एल. दुसाध के लेखों का यह संग्रह उनकी सामाजिक संरचना में आवंटित प्रस्थित के कारण विकसित चेतना को अभिव्यक्त करता है। इस कारण ही वे भारतीय समाज में घटित होने वाले अनेक कालक्रमों का सवर्ण लेखकों से भिन्न रूप में आंकलन करते हैं। इसलिए ही भारतीय राजनीति में जाति के इस्तेमाल को जहां सवर्ण/ब्राह्मण लेखक मानवता का कलंक कह कर परिभाषित करते हैं, वहीं दुसाध उसे '*जाति चेतना का राजनीतिकरण*' कह कर उसे वंचित जातियों के उत्थान का मार्ग परिभाषित करते हैं। उनका मानना है कि सवर्ण समाज जाति चेतना के राजनीतिकरण से इसलिए डरा हुआ है, *क्योंकि जाति के ध्रुवीकरण की आंधी में ब्राह्मण समाज, क्षत्रिय समाज या वैश्य समाज के नाम पर सवर्णों का चुनाव जीतना दुष्कर है। ये तभी जीत सकते हैं, जब हिंदू समाज के अंग के रूप में मुकाबले में उतरें।* यानी कि दुसाध भारतीय राजनीति में वर्तमान समय में दो प्रकार के मोबिलाईजेशन (Mobilization) देख रहे हैं, एक धर्म के नाम पर और दूसरा जाति के नाम पर। परंतु इन दोनों में वे जातीय ध्रुवीकरण के पक्ष में हैं। क्योंकि वे मानते हैं कि धर्म की राजनीति तथाकथित सवर्णों द्वारा अपना प्रभुत्व, वर्चस्व तथा शासन कायम रखने के लिए है, जबकि जातीय चेतना का राजनीतिकरण भारतीय समाज में संरचनात्क परिवर्तन के लिए वंचितों एवं शोषितों की मुहिम है। उन्हीं के शब्दों में, *आज ब्राह्मणों के नेतृत्व में जिन 10-15 प्रतिशत प्रभु जातियों का देश के अर्थतंत्र, शिक्षा, स्वास्थ्य, मीडिया, उद्योग एवं वाणिज्य इत्यादि के क्षेत्र में प्राय: 90 प्रतिशत कब्जा है, उसे बरकरार रखने के लिए उनका धर्म की राजनीति से दूर जाना कठिन है। दूसरी तरफ राष्ट्रीय संसाधनों से वंचित की गई जातियों को अपनी भागीदारी हासिल करने के लिए सत्ता पर कब्जा जमाना आवश्यक है जिसके लिए जाति के नाम पर ध्रुवीकृत होने*

के सिवाय कोई विकल्प नहीं है। अत: दुसाध जाति चेतना के राजनीतिकरण को सकारात्मक दृष्टि से परिभाषित करते हैं, जो कि सामाजिक संरचना में आवंटित प्रस्थित के कारण उनकी चेतना का प्रभाव परिलक्षित करता है।

दुसाध की लेखनी सत्यता को सवर्णों से भिन्न रूप में परिभाषित करती है, उसका दूसरा उदाहरण है 'बहुजन समाज पार्टी' के आंदोलन का वस्तुनिष्ठ आंकलन। ज्यादातर बुद्धिजीवी सवर्ण एवं दलित बसपा के आंदोलन को समझने में कामयाब नहीं हो रहे हैं। कुछ जानबूझ कर, कुछ अनजाने में परंतु दुसाध उन चंद दलित लेखकों में से एक हैं, जो भारतीय समाज में बसपा के कालक्रम को समग्रता तथा उसके निहितार्थों को भली-भांति समझते हैं। मैं नहीं समझता कि हिंदी लेखन में बसपा को भारतीय संरचनात्मक परिवर्तन के एक कारक के रूप में, किसी लेखक ने ऐसा अध्ययन किया है। यहीं वे अन्य लेखकों विशेषकर सवर्ण लेखकों से सामाजिक संरचना में आवंटित प्रस्थित की वजह से एकदम भिन्न नजर आते हैं। इसलिए सवर्ण लेखक बसपा को जातीय अलगाव को बढ़ावा देने वाले एक राजनैतिक दल मान कर सांप्रदायिक ताकतों का साथी मानकर खारिज कर देते हैं। इसके विपरीत दुसाध बसपा के संस्थापक कांशीराम को भारतीय समाज का चिकित्सक तथा बसपा को संरचनात्मक परिवर्तन का संवाहक मानते हैं। उनका मानना है कि *बसपा के सत्ता में आने से दलितों में सांस्कृतिक स्तर पर भारी बदलाव आने लगा। लोगों ने हिंदू देवी-देवताओं की मूर्तियों को घरों से निकालकर नदी-तालाबों में डुबोना शुरू कर दिया और उनकी जगह फुले, पेरियार, आंबेडकर, गौतम बुद्ध, कांशीराम इत्यादि की तस्वीरें लगाने लगे। ऐसे में बसपा जहां चुनाव में एक राजनीतिक पार्टी नजर आती है, वहीं सामाजिक स्तर पर सामाजिक विद्रोह का दर्पण भी दिखाती है।* दुसाध का मानना है कि बसपा का विरोध राजनैतिक हलके में विरोधी दलों तथा समुदाय के अस्तित्व को सामने लाता है। वे साफ कहते हैं, *दरअसल बसपा विरोधी मुहिम के पीछे धर्मनिरपेक्षतावादी नेताओं की भाजपा (सांप्रदायिकता) विरोधी मानसिकता नहीं, उनके खुद के राजनीतिक वजूद की रक्षा की चिंता ही मूल कारण है। .....चूंकि बसपा विरोधी मुहिम में जुटे अधिकांश नेता सवर्ण हैं। इसलिए भारतीय राजनीति में जाति चेतना को लगातार बढ़ावा देने में जुटी बसपा से दहशत खा रहे हैं।*

अत: दुसाध भारतीय राजनीति को दलित/बहुजन दृष्टिकोण से परिभाषित कर पूरे डिसकोर्स के गर्भ में छिपे तथ्यों को उजागर करते हैं। वे साफ भारतीय राजनीति के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप के सरोकारों को एक पारंगत शल्यचिकित्सक की भांति काट-काट कर दिखाते हैं और फिर उसको वैकल्पिक मत के टांकों से सिल देते हैं। इसीलिए शायद वे कांशीराम को भारतीय समाज का चिकित्सक घोषित करते हैं। इतना ही नहीं वे बामसेफ को आर.एस.एस. के, बहुजन समाज को हिंदू समाज के, आंबेडकर पार्क को राम मंदिर के आमने-सामने खड़ा कर बहुजन समाज का विकल्प देने की सार्थक कोशिश भी करते हैं। उनका मानना है कि बसपा द्वारा जो क्रांति की शुरूआत की गई है, वह विश्व की अनेक क्रांतियों से भिन्न है। दुसाध के अनुसार, *दुनिया में ज्यादातर क्रांतियां समाज के निम्नतर स्तर पर पड़े लोगों को*

साथ लेकर हुई हैं। फ्रांस की राज्य क्रांति या माओ द्वारा चीन की क्रांति समाज के निचले स्तर के लोगों को साथ लेकर हुई। पर, कांशीराम ने भारत में क्रांति के इस सूत्र को उलट कर समाज के सबसे उत्पीड़ित वर्ग के पढ़े-लिखे लोगों को अपना साथी बनाया। यानी कि दलित मध्य वर्ग ने इस क्रांति में योगदान किया। दलित मध्य वर्ग द्वारा क्रांति के आगाज का रहस्योद्घाटन कर दुसाध मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धांत को ही खारिज कर देते हैं और यह बताते हैं कि अगर समाज में व्यक्तियों के मध्य समाज के ऋण से मुक्त (Pay Back to Society) की भावना को भरा जाए, तो भी क्रांति संभव है न कि शोषितों को उनका शोषण याद दिलाने से ही क्रांति आती है। है न नवीन परिकल्पना ! ऐसा स्थापित है कि वैज्ञानिक ज्ञान की क्रांति आंकड़ों के संकलन मात्र से ही नहीं, अपितु पैराडाइम (Paradigm) में परिवर्तन से आती है।[3] जब व्याख्या तथा परिकल्पना की रूपरेखा या प्रश्नों के नवीन समूह खड़े किए जाते हैं, तब ही वैज्ञानिक ज्ञान की प्राप्ति होती है। प्रसिद्ध इतिहासकार रोमिला थापर के अनुसार यह इतिहास एवं सामाजिक विज्ञान के लिए भी सही है।[4] अगर इस परीक्षण को हम दुसाध के लेखों पर लागू करें, तो हम पाएंगे कि दुसाध अपने लेखों में भारतीय समाज की प्रत्येक संस्थाओं के आंकलन हेतु नवीन परिकल्पना तथा प्रश्नों का नवीन समूह खड़ा करते हैं। यह परिकल्पना है, 'भारतीय संस्थाओं में जाति का प्रकार्य' (Function of Caste in Indian Institution)। यद्यपि यह संग्रह दुसाध के लेखों का है फिर भी वे भारतीय समाज की सभी महत्त्वपूर्ण संस्थाओं में जाति के दृष्टिकोण से विषय प्रवेश करते हुए उसका आंकलन करते हैं।

'जातीय समाज' (Caste Society) में जाति ने अब तक परोक्ष (Latently) रूप से किस प्रकार समाज की संस्थाओं को प्रभावित किया है, उसके वे अनेक उदाहरण देते हैं। वे राज्य सत्ता, धर्म, आर्थिक जगत, सांस्कृतिक क्षेत्र, मीडिया, शिक्षण संस्थाओं आदि अनेक क्षेत्रों में दलितों को मात्र जाति के आधार पर ही वंचित एव बहिष्कृत किए जाने को अपनी लेखनी से इस पुस्तक में उठा रहे हैं। परंतु जाति की वंचना होते हुए भी योग्य दलितों को जाति के नाम पर क्रीड़ा जगत से कैसे वंचित किया गया, इसकी विवेचना अद्‌भुत है। दुसाध लिखते हैं कि *वर्ण-व्यवस्था द्वारा बहुसंख्यक भारत की जनता को प्रभुवर्ग द्वारा मानवेतर बनाने के बाद देश हित विरोधी जो दूसरा सबसे बड़ा कुकृत्य संपन्न किया गया, वह देश के बहुजन समाज को प्रतियोगिता के मुक्त क्रीड़ांगन से दूर रखना.......... प्रतियोगिता के मुक्त क्रीड़ांगन से एकलव्यों और कर्णों को बहिष्कृत रखने की षडयंत्र की जो धारा प्राचीन भारत से शुरू हुई, वह आज तक अटूट है।* दुसाध का मानना है कि दलित/बहुजन जातियों में आसाधारण शारीरिक क्षमता है, जिसका सबसे बड़ा प्रमाण है, सहस्रों वर्षो से कृषि के प्राचीन व अविकसित उपकरणों के सहारे, मूलतः अपने परिश्रम पर निर्भर रह कर राष्ट्र का पेट भरना और खेलों के लिए शारीरिक क्षमता का होना अतिआवश्यक है। जो दलितों के पास तो है, परंतु तथाकथित सवर्णों के पास नहीं। इसलिए दुसाध का मानना है कि परिश्रमी जातियां ही खेलों में कमाल दिखा सकती हैं और उन्होंने दिखाया भी है। उदाहरण हेतु वे खसाबा जाधव, लिएंडर पेस, कर्णम मल्लैश्वरी, पी.टी. ऊषा, ज्योतिर्मय सिकदार के नाम भी प्रस्तुत करते

हैं। इसके विपरीत सवर्णों की खेल क्षमता पर कटाक्ष करते हुए वे लिखते हैं कि *यहां अनुत्पादक जातियों से गीत सेठी, सचिन तेंदुलकर, सुनील गासकर, विश्वनाथन आनंद इत्यादि ने वैसे खेलों में सफलता पाई है, जिनमें दमखम नहीं मात्र तकनीकी कौशल व अभ्यास के सहारे चैंपियन हुआ जा सकता है। भारत में सबसे लोकप्रिय खेल क्रिकेट में फास्ट बॉलिंग में सवर्णों का कोई खास अवदान नहीं है, क्योंकि इसमें दमखम की जरूरत है।*

भारतीय समाज की अनेक संस्थाओं के आंकलन में जाति/वर्ण, वितरण, आरक्षण, भारतीय संस्कृति के अंधकार पक्ष आदि अनेक प्रश्नों के समूह से दुसाध ने भारतीय समाज में 'केंद्र बिंदु' बने सवर्ण समाज की योग्यता एवं भूमिका पर प्रश्न चिन्ह लगाया है। इस प्रश्न चिन्ह से वे संतुष्ट नहीं होते, इसलिए ही वे दलित/बहुजन समाज की योग्यता एवं भूमिका को विस्तृत रूप से वर्णित करते हैं। इस पूरे डिसकोर्स में दुसाध जैक्स डेरिडा की 'डीकंस्ट्रक्शन' विध्वंस के सिद्धांत के करीब पहुंच जाते हैं। डेरिडा के 'विध्वंस' (Deconstruction) के सिद्धांत के अनुसार पश्चिमी विचार (Western Thought) 'केंद्र की धारणा' पर आधारित है और सभी अर्थ इस केंद्र पर आधारित हैं। डेरिडा के लिए 'केंद्र' वर्जित करने का प्रयत्न करता है। ऐसा करने में दूसरों को वे उपेक्षित, दमित या उपांत घोषित कर देते हैं। जैसे पुरुष प्रधान समाज में पुरुष केंद्र में है और महिला उपेक्षित या उपांत में।[5] ऐसे कई उदाहरण दिए जा सकते हैं। भारत में यही बात सवर्णों/ब्राह्मणों या द्विजों पर लागू होती है। वे ही 'केंद्र' हैं, चाहे वे कितने ही निष्क्रिय या अयोग्य क्यों न हों और दलित/बहुजन/महिला सभी उपेक्षित/दमित या उपांत हैं। इसलिए हमें भारतीय समाज को समझने के लिए सवर्ण/द्विज के केंद्र को खंडित कर दलितों/बहुजनों का नवीन केंद्र गढ़ना होगा। दुसाध का लेखन द्विजों/ब्राह्मणों के इस केंद्र को खंडित करता है। यहां इस पुस्तक में इस केंद्र को खंडित करने हेतु ही उनका संदर्भ लेते हैं, न कि उनको महिमामंडित करने हेतु, न ही उनके वर्चस्व का बखान करने के लिए।

मुझे पूर्ण आशा है कि दुसाध के लेखों का संग्रह दलितों में नवीन चेतना का संचार करेगा। यह पुस्तक सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, शैक्षणिक, प्रचार-तंत्र, खेल-कूद, सिनेमा इत्यादि में व्याप्त अंतर्द्वंदों को चिन्हित करने में सहायक होगी तथा दलितों को भारत में उपरोक्त संस्थाओं में दमनकारी तत्वों के खिलाफ संघर्ष करने के लिए प्रोत्साहित करेगी। इतना ही नहीं यह पुस्तक तथाकथित सवर्ण/द्विज/ब्राह्मणों की संस्कृति के समानांतर दलित संस्कृति के होने का भी अहसास कराती है, जो आने वाले समय में और निखर कर सामने आएगी।

वैसे दुसाध की नवीन परिकल्पनाओं, संरचनाओं तथा वस्तुनिष्ठ आंकलन को किताब की भूमिका में समेटना संभव नहीं है। क्योंकि एक स्वतंत्र पत्रकार के रूप में उनके लेखों में मुद्दों का क्षितिज इतना व्यापक है कि एक औसत दर्जे के बुद्धिजीवी द्वारा उसका विश्लेषण संभव है ही नहीं। दुसाध के ज्ञान एवं सामान्य विज्ञान का कैनवस यू.पी. से लेकर यू.एस.ए. तक है। छोटी से छोटी गांव की जानकारी से लेकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अश्वेतों का फिल्मों

में योगदान या आर्थिक जगत में 'डाइवर्सिटी प्रिंसिपल' सभी पर उनका समान अधिकार है। उनके सूक्ष्मतम तथा उच्चतम स्तरों के ज्ञान को पढ़कर पाठक यह सोचने पर अवश्य मजबूर होगा कि पत्रकार है या किसी विश्वविद्यालय के प्रोफेसर। यहां मैं पत्रकार एवं प्रोफेसर की तुलना नहीं, बल्कि जर्नलिस्ट (Journalist) एवं विशेषज्ञ (Specialist) की तुलना कर रहा हूं। मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि दुसाध जर्नलिस्ट हैं, फिर भी वे अपने लेखों में किसी भी विषय के विशेषज्ञ की भांति ही विषय की बारीकियों को विश्लेषित करते हैं। क्या दुसाध के लिए कोई समाचार पत्र जगह बनाएगा ? जबकि दुसाध उत्तर जानते हैं, फिर भी समय एवं समाज की धारा के विरुद्ध उनका लिखना जारी है, जो उनके असामान्य संबल, कुशाग्रता तथा निष्काम क्रिया का प्रतीक है। इस असामान्य संबल के बल पर ही दुसाध ने स्वतंत्र पत्रकारिता में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है और आज वे दलित समाज के अग्रणी स्वतंत्र पत्रकारों में हैं। इसलिए ही आप दुसाध के लेखों से प्रेम कर सकते हैं या ईर्ष्या पर आप उनको कभी भूल नहीं सकते।

भवतु सब्बमंगलं।

–डॉ. विवेक कुमार
सामाजिक पद्धति अध्ययन केंद्र,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली–110 067

संदर्भ :

1. *डेविड जैरी एंड जारिया जैरी, 2000, कॉलिन्स डिक्शनरी ऑफ सोशियोलॉजी, हार्पर कॉलिंस, नई दिल्ली।*
2. *बरजर, पी. एंड लकमैन, 1967, दि सोशल कंसट्रक्शन ऑफ रियलिटि, दि पेनग्यून प्रेस, लंदन।*
3. *टी., कुन, 1970, दि स्ट्रक्चर ऑफ साइंटिफिक रिवोल्यूशन, शिकागों।*
4. *थापर, रोमिला, 1992, इंटरप्रेटिंग अरली इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।*
5. *जिम पोवेल, 2000, डेरिडा फॉर बिगनर्स, ओरिएंट लौंगमैन, नई दिल्ली।*

लेखकीय

सामाजिक परिवर्तन के सूत्रों से लैस : कांशीरामवाद

मानव समाज परिवर्तनशील है, जैसा कि परिवर्तनशील समग्र सृष्टि है। कन्दरावासी अवस्था से मानव का उन्नत सभ्यता स्तर तक का आरोहण तो और कुछ नहीं, धारावाहिक परिवर्तन की परिणत अवस्था मात्र है। समाज अपने नित्य नये प्रयोजन से एक के बाद एक संस्कृति, प्रथा, अर्थनीति, शासन व्यवस्थादि के संरचना को जन्म देता आया है और यही सब मिल-जुलकर परिवर्तन का कारक बनते हैं। एक व्यवस्था के प्रयोजन की समाप्ति पर दूसरी व्यवस्था उसका स्थान ग्रहण करती रही है। सामाजिक व्यवस्थादि का यह रूप परिवर्तन अंत में विकास व उन्नयन के रूप में परिणत होता है। किन्तु सिर्फ रूपान्तरण नहीं, परिवर्तन जब उच्चतर से निम्नतर अवस्था में पड़े लोगों के जीवन में सुखद बदलाव लाने में सक्षम होता है वही सामाजिक परिवर्तन प्रगति या विकास के रूप में विशेषित होता है। इस हिसाब से भारत में उन्नयनमूलक सामाजिक परिवर्तन उस परिवर्तन को ही कहा जा सकता है जो यहां की परंपरागत वितरण व्यवस्था (वर्ण-व्यवस्था) में वितरण शून्यता (Non-distribution) का सदियों से शिकार बनी बहुसंख्यक आबादी को समाज के प्रत्येक क्षेत्र में उसकी हिस्सेदारी लेने की क्षमता और योग्यता अर्जन व उसे प्रमाणित करने की अपार, अबाध प्रतियोगिता का अवसर सुलभ करा सके। ऐसा परिवर्तन जो निम्नवर्ण में अवस्थित हजारों जातियों के लोगों को उच्चवर्ण सवर्णो की भांति समाज की सभी सुख सुविधाओं के भोग का अधिकारी बना सके। दूसरे शब्दों में Substream में पड़े लोगों को Mainstream में प्रविष्ट कराने वाला परिवर्तन ही सच्चा सामाजिक परिवर्तन कहला सकता है।

सामाजिक परिवर्तन के उपरोक्त वैशिष्ट्य के आधार भारत समाज का आंकलन करने पर इसकी अपरिवर्तनशीलता मानव विकास के इतिहास के एक विस्मयकर व्यतिक्रम के रूप में नजर आती है। इसका यह चेहरा देखकर ही महान समाज विज्ञानी कार्ल मार्क्स ने खिन्न मन से लिखा है, *भारत के अतीत का राजनैतिक स्वरूप जितना भी परिवर्तनशील क्यों न रहा हो, सुदूर पुराकाल से लेकर वर्तमान तक इसके सामाजिक रूप में रत्तीभर भी परिवर्तन नहीं आया है; एकदम अपरिवर्तित रह गया है। इस समाज की आर्थिक संरचना को कोई भी परिवर्तन बदल नहीं पाया है। परिणाम स्वरूप दूसरे देशों के प्राचीन व मध्ययुग के राजा, बैरन्स, नाईट्स, गिल्ड मास्टर, दास इत्यादि का जहां समाज में आज कोई अस्तित्व नहीं, यह सब परिभाषाएं श्रेणी समाज वाले देशों में अर्थहीन एवं अतीत का इतिहास मात्र रह गई है; भारत समाज के प्रागैतिहासिक ब्राह्मण, शूद्रादि आज भी वहीं आदिम महात्म लिये स्वमहिंमा विद्यमान एवं संपूर्ण शक्ति से क्रियाशील है।*

वास्तव में राजा-बैरन्स और ब्राह्मण-शूद्रादि की तुलना करते हुए मार्क्स ने जो उपरोक्त टिप्पणी की है उसे बेझिझक सामाजिक परिवर्तन के इतिहास का सार कहा जा सकता है। यह एक इतनी तात्पर्यपूर्ण टिप्पणी है जिसका अवलंबन कर मानव समाज के विकास का निर्भूल चित्र देखा जा सकता है। मार्क्स ने जिन राजा, बैरन्स, गिल्ड मास्टर इत्यादि की चर्चा की है वे विश्व में विद्यमान श्रेणी समाज में मानव की स्तरीभूत श्रेणियां थी जबकि ब्राह्मण शूद्रादि जाति/वर्ण व्यवस्था के मानव समूह। मानव समाज की नैसर्गिक अग्रगति के क्रम में प्राय: विश्वमय विकसित श्रेणी समाजों Class Society की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि इसमें प्रधानत: गरीब-अमीर की दो श्रेणियों में विभाजित मानव समूहों की श्रेणीयां बराबर से परिवर्तनशील रही। ऐसे समाजों ने व्याप्त प्रतियोगिता के अवसर के कारण गरीब अपने परिश्रम और उद्यम के सहारे अमीर श्रेणी में उत्तोलित तो अमीर अपने दुर्व्यसनों व प्रतियोगिता में पिछड़ने के कारण गरीब की श्रेणी में स्खलित होते रहे हैं। श्रेणी समाजों का यह परिवर्तनवादी चरित्र प्राचीन रोम में भी कायम था जहां के लोग पैट्रिशियन, प्लेबियन, नाइट्स, व दास के रूप में विभाजित थे। मध्य युगीन यूरोप में उनका स्थान सामन्त, अणुसामन्त, गिल्डमास्टर, जर्निमैन व भूमिदासों ने ले लिया। परिवर्तनशील श्रेणी समाज में वे राजा, बैरन्स, नाइट्स, दास, भूमिदास इत्यादि विलुप्त होकर की मालिक श्रेणी और श्रमिक श्रेणी के रूप में रह गये हैं। रोम के समाज परिवर्तन पर विहंगम दृष्टि निक्षेप करने पर हम पाते हैं कि एक समय जो वहां दास थे वही आज वहां के शासक हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे डर्विन का पालित बन्दर समय के विवर्तन के साथ मानवाकृति में परिवर्तित हो गया।

राजा, बैरन्स, गिल्डकर्ता, दास इत्यादि मानव समूहों के विपरित ब्राह्मण, शूद्रादि मानव गोष्ठियां सुदूर अतीत की एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की उपज हैं, जो मूलत: संपदा संसाधनों व पेशों की वितरण व्यवस्था है। जी हां, वर्ण-व्यवस्था राष्ट्र की संपदा, संसाधनो, पेशों व सामाजिक मर्यादा की वितरण की व्यवस्था है। दैवियकृत के रूप में प्रचारित यह व्यवस्था वास्तव में मानवाकृत एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था है, जिसके प्रवर्तकों का लक्ष्य चिरकाल के लिए बौद्धिक कर्म से जुड़े पेशों, भू-स्वामित्व, शासन-प्रशासन, उद्योग-व्यापारादि के अधिकार कुछ विशेष मानव समूहों के मध्य ही वितरित करना था। उनकी उस योजना के तहत अध्ययन-अध्यापन, पौरोहित्य, मंत्रोपचार, राज्य संचालन में मंत्रणादान इत्यादि का अधिकार ब्राह्मण; भूस्वामित्व, राज्य संचालन, सैन्यकार्य इत्यादि क्षत्रिय और व्यवसाय-वाणिज्यदि का अधिकार हमेशा के लिए वैश्य नामक मानव गोष्ठी के लिए आरक्षित होकर रह गए। ये विशेष-विशेष अधिकार विशेष-विशेष मानव समूहों के लिए इस कारण चिरस्थाई होकर रह गये कि हिन्दू वितरण-व्यवस्था में इन अधिकारों के भोग के लिए विभिन्न मानवगोष्ठियां जन्म सूत्र से ही अधिकृत रही। किसी विशेष समूह के अधिकृत क्षेत्र में दूसरों का प्रवेश शास्त्रादेशों द्वारा कठोरता पूर्वक वर्जित रहे। इसमें भौतिक संसाधनों के मात्रा के अनुरूप ही विशेष-विशेष समूहों के लिए सामाजिक मर्यादा भी वितरित रही।

वर्ण-व्यवस्था में जहां सामाजिक मर्यादा सहित जागतिक सुख के समस्त संसाधन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य नामक अत्यन्त अल्पसंख्यक तीन मानव समूहों के मध्य वितरित

होकर रह गये वहीं 85 प्रतिशत विपुल आबादी के प्रतिनिधि शूद्रातिशूद्रों के हिस्से में आया अधिकार संपन्न तीन वर्ण के लोगों की सेवा से जुड़े कार्य। लेकिन उच्च वर्णों की सेवा का जो कार्य बहुजनों के जिम्मे आया उस सेवा की खासियत यह थी कि यह पारिश्रमिक रहित थी। सेवा के विनिमय में उसका मूल्य मांगने की इजाजत वर्ण-व्यवस्था में नहीं रहीं। वितरणवादी वर्ण-व्यवस्था में बहुजनों को वितरणशून्यता का तो शिकार बनाया ही गया, मनुष्य रूप में इनकी मानवीय सत्ता को भी निर्ममता से अस्वीकृत किया गया। फलतः हजारों वर्षों से शूद्रातिशूद्रों के रूप में गण्य भारत का विशालतम मानव समूह पश्वाधम व नर-पशु (Human cattle) में परिणत होकर रह गया। वर्ण-व्यवस्था नामक ईश्वरकृत धार्मिक व्यवस्था में ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्यों की भांति राष्ट्र की संपदा व लाभकारी पेशों के भोग का रत्ती भर भी अधिकार न होने के कारण नर-पशुओं के लिए शिक्षक, चिकित्सक, पुरोहित, भू-स्वामी, राजा, सैनिक, व्यवसायी इत्यादि बनने का कोई अवसर नहीं रहा। वित्त में इनकी नाममात्र भी हिस्सेदारी नहीं रही। मानव सभ्यता के विशाल कालखण्ड में समग्र विश्व में जितने लोगों को घोरतर वंचना व अमानवीयता का शिकार बनना पड़ा है वह संख्या अकेले भारत के नर-पशुओं के समक्ष छोटी पड़ जायेगी। नरपशुओं का सम्पूर्ण मानव में तब्दीली ही भारत में सामाजिक परिवर्तन को सार्थकता प्रदान कर सकती है, जो नहीं हुआ इसलिए ही समाजविज्ञानी इसे एक अपरिवर्तित समाज कहकर निंदित करते रहे हैं।

बहरहाल ऐसा क्यों कर हो गया कि दूसरे देशों के दास समय के बदलाव के साथ वहां के मालिक हो गये और भारत के दास (शूद्रातिशूद्र) दास ही रह गये। इस कारण को अगर थोड़े से शब्दों में बतलाना हो तो यही कहा जा सकता है कि दूसरे देशों के वंचितों में मानव का स्वभाविक गुण-उन्नततर जीवन स्तर की चाह और वित्तवासना था जो कि ऐतिहासिक कारणों से भारत के शूद्रातिशूद्रों में पूरी तरह अविद्यमान रही। यूं तो समाज परिवर्तन के पृष्ठ में एकाधिक कारण रहे हैं पर प्रधान कारण वंचितों में बेहतर जीवन जीने की उत्कट चाह और वित्तवासना ही है। इन कारणों से ही दूसरे देशों के वंचित जनगण ने बार-बार परिवर्तन की तरंगे पैदा करने की कोशिश किया। उनके प्रयासों को प्रचलित व्यवस्था की सुविधाभोगी लोगों के विरोध और बाधाओं का भी सामना करना पड़ा। लेकिन दास जीवन से मुक्ति पाने की जबरदस्त चाह ने उनमें सर्वसाधन सम्पन्न सुविधाभोगी समूह द्वारा खड़ी की गई प्रबल बाधाओं को अतिक्रम करने का मनोबल प्रदान किया। उन्नततर जीवन जीने की लालसा ने उन्हें अपने शोषकों के विरुद्ध शक्ति प्रयोग के साथ-साथ कभी-कभी रक्तपात तक करने के लिए मजबूर कर दिया। इसी से दूसरे देशों में क्रांतियों के कई इतिहास रचे गये। ब्रिटेन में 1215 में ब्रिटिश जनगण के सशस्त्र संग्राम के द्वारा 'मैग्नाकार्टा' और ठपसस व्ि त्पहीज के रास्ते होते हुए 1649 में राजा चार्ल्स के सिरोच्छेद एवं 1688 में राजा जेम्स के प्रजाभय से पलायन के बाद जनगण का राज कहे जाने वाली संसदीय प्रणाली को जो पूर्णता मिली उसके मूल में, हॉब्स, लॉक जैसे क्रांतिकारी दार्शनिकों की भूमिका के बाबजूद, सर्वोपरि वहां के जनगण की अपने मानवीय अधिकारों का अर्जन एवं उन्नततर जीवन की जबरदस्त चाह थी। फ्रांस, रूस होते हुए चीन में समाज परिवर्तन का जो असाधारण इतिहास रचित हुआ उसके नायक रूसो, वाल्टेयर, लेनिन, माओ इत्यादि

जरूर रहे लेकिन शोषण की चक्की में पिसती वहां की जनता में यदि अपनी दुरावस्था से मुक्ति की चाह नहीं होती, समाज के रूप परिवर्तन की महागाथा तैयार नहीं होती।

परिवर्तन भारत में भी हुआ। हजारों वर्ष पूर्व यहां के समाज का जो चेहरा था वह आज नहीं है और आज जो है वह कल नहीं रहेगा। लेकिन यहां जो भी परिवर्तन हुआ वह ब्रिटेन, फ्रांस, रूस, चीन इत्यादि की भांति क्रांतिकारी पद्धति Revolution Process नहीं, विवर्तन अर्थात Evolution Process में हुआ। जैसा कि हम सभी जानते हैं कोई प्रयास करे या नहीं, समाज में धीरे-धीरे एक परिवर्तन होते ही रहता है जिसे Evolution Process (क्रमिक विकास) कहते हैं। वहीं द्रुत गति से प्रबल बाधा को परास्त कर जब किसी चीज का आमूल परिवर्तन घटित होता है, वह क्रांतिकारी परिवर्तन के रूप में चिन्हित हो जाता है। ऐसे परिवर्तन के पृष्ठ में बहुधा विशेष घटना, किसी विशेष व्यक्ति या किसी विशेष मानव समूह के प्रयास व संघर्ष की विशेष भूमिका रहती है। सुदूर अतीत से ही 85 प्रतिशत आबादी को समस्त मानवीय अधिकारों से वंचित एवं उसे नर-पशु व मानवेतर में परिणत कर जिस तरह उसका शोषण किया गया उससे दूसरे देशों के बहुत पहले ही भारत में क्रांतिकारी परिवर्तन हो जाना चाहिए था। पर, नहीं हुआ तो इसलिए कि वंचित वर्ग में अपनी दुरावस्था से मुक्ति पाने की कभी तीव्र ललक ही पैदा न हो सकी। यहां तक कि आधुनिक विश्व में द्रुत सामाजिक परिवर्तनों की असंख्य घटनायें भी इनमें क्रांतिकारी परिवर्तन की ज्वाला न भर सकीं।

अगर विशाल संख्यक भारतीय दासों में उच्च वर्ण सवर्णों की भांति अधीकारों के भोग की आकांक्षा, उन्नततर जीवन जीने की चाह और वित्त की वासना पैदा न हो सकी तो उसका कारण वर्ण-व्यवस्था का ईश्वरकृत होना था। वितरणवादी वर्ण-व्यवस्था के दैवियकृत प्रचारित किये जाने के कारण इस व्यवस्था में वितरणहीनता का शिकार होने वालों को शिकायत शोषकों से न होकर खुद से रही। इन्होंने यह मान लिया था कि उनके पूर्व जन्मों के कुकर्मों से कुपित होकर ईश्वर ने ही पापों का प्रायश्चित करने के लिए दास जीवन दिया है। निष्ठापूर्वक दास जीवन का पालन ही अगले जन्म में ब्राह्मणों की भांति सुख ऐश्वर्य व मान-सम्मान का जीवन सुलभ करा सकता है। इस विश्वास ने उनमें एक ऐसा वीभत्स संतोषबोध पैदा कर दिया कि वर्तमान जन्म में पशुवत जीवन से मुक्ति की तीव्र चाह ही पैदा न हो सकी। दूसरे देशों में परिवर्तन के लिए दासों के पेशी संचालन का एक कारण यह था उन्हें अपने शोषक के रूप में लार्ड्स, बैरन्स, गिल्ड मास्टर्स इत्यादि चेहरा साफ नजर आया था इसलिए वे इनके विरुद्ध संधर्ष के लिए उठ खड़े हुए थे। पर, भारत में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शोषक के रूप में न नजर आकर ऐसे मानव समूह के रूप में विद्यमान थे जिन्होंने अपने पूर्व जन्म के सुकर्मों के विनिमय में ईश्वर से पुरस्कार स्वरूप श्रेयकर जीवन पाया था। अतः शोषक उनके लिए घृणा का पात्र न होकर श्रद्धा करने लायक विशिष्ट मनुष्य प्राणी थे। सच में देखा जाए तो शूद्रातिशूद्र योरोपीय लार्ड्स, डयूक, बैरन्सों का भारतीय संस्करण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों का दास न होकर दैविक दास Divine slave रहे। मनुष्य रूपी मालिकों के विरुद्ध तो दास संगठित हो सकते हैं पर ईश्वर के शोषण के समक्ष तो नतमस्तक ही रहेंगे। दैविक-दासत्व के कारण वे कर्म-शुद्धता के शास्त्रादेशों को खुद ईश्वर का आदेश मानकर

सवर्णों के अधिकृत क्षेत्र में घुसने का कोई उपक्रम नहीं चलाये। इनकी मानसिकता का निर्भूल आंकलन कर ही मेरे गुरु एस.के. विश्वास निम्न टिप्पणी करने के लिए बाध्य हुए।

जाति व्यवस्था की प्रतिकूल भट्ठी में झोके गये मूल भारतीय बहुजन समाज में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। बहुजन समाज अज्ञानता के अंधकार और अशेष दरिद्रता की चक्की में पीसता हुआ, असहाय होकर एक ही (Stagnant) जीवन यात्रा का अभ्यस्त बना रहा। जातिभेद स्वरूप Sterilisation पद्धति से इनकी स्वाधीनता की इच्छा, वित्त वासना, धर्म वासना सब लुप्त हो गयी है। ये लोग चन्द्र गुप्त मौर्य का उत्तरसूरी नहीं होना चाहते। ये लोग टाटा, बिड़ला, हेनरी फोर्ड बनने की वासना नहीं पालते, न ही पोप या पुरोहित होने का दु:साहसपूर्ण सपना देखते। 'ऐनास्थेसिया' के प्रयोग के बाद जैसे जीवकोश बोध शून्य हो जाता है वैसे ही ये लोग अपमान या सम्मान की चेतना से शून्य हो गये हैं। इनमें परिवर्तन या प्रगति का कोई लक्षण नहीं है।

भारत में इवोल्यूसन पद्धति की विपरीत धारा में अगर समाज का रूप बदल न हो सका तो उसका एक अन्यतम कारण क्रांतिकारी व्यक्तित्वों की अविद्यमानता रही। दूसरे देशों में घटित द्रुत परिवर्तनों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि ऐसे परिवर्तनों में प्राय: ही समाज को कुछ विरल व्यक्तित्वों का नेतृत्व मिलता रहा है। किसी असाधारण व्यक्ति की सोच जब पूरे समाज की सोच बन जाती है तभी समाज में परिवर्तन की गति का उफान आता है। ऐसा विरल व्यक्तित्व जनगण को उसकी दुरावस्था से अवगत कराकर उसे इससे मुक्ति के लिए मानसिक रूप से तैयार करता है एवं प्रयोजन पड़ने में परिवर्तन के लिए खुद सक्रिय नेतृत्व प्रदान करता है। ऐसा ही व्यक्ति समाज पुरुष कहलाता है। इसलिए क्रांतिकारी परिवर्तनों के साथ हाब्स, लॉक, रुसो वाल्टेयर, मार्क्स, लेनिन, माओत्से तुंग, चे गुवेवरा जैसों का नाम जुड़ा पाते हैं। पर, सिख गुरुओं को अगर छोड़ दिया जाय तो 19वीं सदी के पूर्व तब भारत में क्रांति चेतना सम्पन्न पुरुष भूमिष्ठ ही नहीं हुए। जबकि ऐसे लोगों की सर्वाधिक जरूरत भारत भूमि को ही थी। कारण, यहां के दास, दैविक दास थे जो अपने दासत्व का उपभोग कर रहे थे। दैविक दासत्व ने इनमें वीभत्स संतोष बोध भर दिया था, जिससे जानवरों से बदतर जिंदगी में बदलाव की कोई रुचि ही नहीं थी। अवश्य ही मध्ययुग में कुछ भक्त कवियों का उदय हुआ जो हिन्दू धर्म में व्याप्त कुछ खामियों आलोचना कर क्रांतिकारी के विशेषणों से भूषित हो गये। लेकिन ये असल में विशुद्ध भक्त ही थे जिन्होंने महज वैकल्पिक पूजा पद्धति दिया। यदि वास्तव में क्रांतिकारी होते हो शूद्रातिशूद्रों को डिवाइन स्लेवरी से मुक्त कर उनमें वीभत्स-संतोष बोध की जगह उग्र-असंतोष बोध पैदा करते। इसके लिए जरूरी था हिन्दू-धर्म के ध्वंस और ईश्वर के अस्तित्व को नकारने का साहसिक अभियान। कहना न होगा उनमें रंच मात्र भी चार्वाक का साहस नहीं था। वे खुद ही दैविक दास थे, तो औरों को दासत्व से कैसे मुक्त ही कराते ?

भारत में समाज परिवर्तन की करुण दशा के मूल में एक बड़ा कारण यह था कि इस देश की आर्थिक संरचना विदेशी शासन की देख-रेख में तैयार हुई थी जो मूल निवासियों की आर्थिक दशा परिवर्तन के लिए अनुकूल नहीं थी। प्राय: साढ़े तीन हजार वर्ष पूर्व भारत में आर्यो (ब्राह्मणों) का शासन स्थापित हुआ। इन्होंने मूल निवासियों की विशाल मानव शक्ति

को नि:शुल्क सेवा के काम में इस्तेमाल के लिए ही वर्ण-व्यवस्थाधारित आर्थिक तन्त्र को जन्म दिया, जिसमें देश की संपदा और लाभकारी पेशों में दासों को कोई हिस्सेदारी ही नहीं मिली। अवश्य ही साढ़े तीन हजार वर्ष के विशाल काल खण्ड में कुछ सौ वर्षों के लिए बौद्ध भारत में वर्ण-व्यवस्था आधारित आर्थिक संरचना ध्वंस्त हुई जिसमें शूद्रों के जीवन में व्यापक परिवर्तन जरूर हुआ उसके बाद मुसलमान काल आया जिसमें साहित्य, संगीत वास्तुकला इत्यादि में भारत नई ऊँचाईयों को छुआ। लेकिन मूल भारतीय समाज इससे अछूता रह गया।

वास्तव में इस्लाम विजेताओं के आगमन से परिवर्तन विरोधी जाति/वर्ण-व्यवस्था के ध्वंस की बेहतर संभावना उजागर हो गयी थी। कारण, मुसलमान विजेता एक हाथ में कुरान और दूसरे हाथ में चमचमाती तलवार लेकर अरब के तपते रेगिस्तान से एक ऐसे मिशन पर निकले थे जिसके तहत मूर्ति पूजा पद्धति और सामाजिक विच्छिन्नता का खात्मा और इंसानियत का स्थापना उनका अत्याज्य कर्तव्य बनता था। यह कर्तव्य उन्हें उस हिन्दूवादी वितरण व्यवस्था के उत्स हिन्दू धर्म के अस्तित्व को विलिन करने के लिए प्रेरित कर सकता था जिसके कारण 85 प्रतिशत आबादी अधिकारविहिन मानव समूह बन नारकीय जीवन जी रही थी। लेकिन अरब विजेता इस दिशा में अग्रसर नहीं हुए तो इसलिए कि वे मिश्नरी न होकर ऐसे वीर थे जिनके लिए जन्नत समान भारत भूमि भोग का सामान मुहैय्या कराने वाली एक माध्यम थी। चूंकि ऐशो आराम के लिए शोषण अनिवार्य था इसलिए उन्होंने प्राचीन विदेशागतों के साथ दोस्ताना संबंध बनाकर इस देश के मूल निवासियों का शोषण करना अपना लक्ष्य बनाया। प्राचीन और मध्ययुगीन विदेशियों के मिलित प्रयास से बहुजनों का श्रम ताज महल, ऐश महल, मंदिर, शिवालों में परिणत होता रहा और परिवर्तन का चक्र मंद गति से चलता रहा।

मध्य काल के अरब विजेताओं की भूमिका से पूरी तरह हताश होकर कुछ मानवेतर समूहों ने शासक बदल का मन बनाया और उन्हें मिल गये अंग्रेज। 1757 में 600 अस्पृश्यों ने 200 अंग्रेजों के साथ मिलकर प्लासी युद्ध के रास्ते ब्रिटिश साम्राज्य की बुनियाद रखी जिसे 1818 में कोरेगांव के मैदान में डॉ. आंबेडकर के सजातियों के सहयोग से पूर्णता मिली। शुरू में नवाबी रोष के डर से ब्राह्मणादि सवर्ण अंग्रजों से दूर ही दूर रहे। ऐसे में मजदूर, डाकवाहक, चौकीदार, सिपाही इत्यादि बनकर अस्पृश्य ही पहले-पहल अंग्रेजों के निकट आये। बौद्धोत्तर भारत में पहली बार अंग्रेजों ने दिया अस्पृश्यों को हथियार स्पर्स का अधिकार और अस्पृश्यों ने सैनिक के रूप में दिखाया असाधारण दक्षता जो अंग्रेजी हुकमत के स्थापित होने का बना बड़ा कारण। ऐसे में भारत विजय में अंग्रेजों का साझीदार होने के कारण ब्रिटिशराज के सौजन्य से सर्व-निम्न में अवस्थित समाज में व्यापक परिवर्तन का एक बड़ा आधार मिल गया था। पर, ब्रिटिश राज इसमें सहायक न बन सका। कारण, अंग्रेजी साम्राज्य के प्रसार के साथ-साथ जिस ब्राह्मण समाज ने अस्पृश्यों को दूर सरका कर अंग्रेजों की निकटता जय कर ली थी, खुद अंग्रेजों द्वारा ही आर्यतत्व के आविष्कार के साथ उस समाज के साथ उनका बंधुत्व स्थापित हो गया। फलत: जबरदस्त परिवर्तनकारी ब्रिटिश राज में सुखद परिवर्तन ब्राह्मण व उसके सहयोगी समाज में आया। सर, सीआईई, राय चौधरी, रायबहादुर इत्यादि के भूषणों से मुख्यत: ब्राह्मण समाज की ही चमक

बढ़ी। लेकिन यह मानना गलत होगा कि दो सौ वर्षों के अंग्रजी राज का सुफल सिर्फ ब्राह्मण व सवर्ण समाज को ही मिला।

ब्रिटिश राज में विकसित अर्द्ध पूंजीवादी व्यवस्था, ईसाई धर्म, व्यापक सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था (स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय, मेडिकल व इंजिनियरिंग कालेज) एवं नई अर्थ व्यवस्था (जमीदारी, महालवारी, रैयतवारी) के प्रभाव से भारत में प्रगतिमूलक परिवर्तन की जो बयार बही वह शूद्रातिशूद्र समाज को भी थोड़ा स्पर्स की। मैकाले के भाइयों ने भारतीय दंड संहिता लागू कर कानून की नजरों में सबको एक बराबर मनुष्यप्राणी मानने की जो प्रक्रिया शुरू किया वह बहुजन समाज के परिवर्तन में चक्के में ग्रीस का काम किया। इससे भी बड़ी बात यह हुई कि बौद्धकाल के बाद पहली बार हिंदूवादी वितरण-व्यवस्था पर करारा प्रहार हुआ। हजारों वर्ष से जो सब पेशे मात्र अल्पजन सवर्णों के लिए आरक्षित थे उसे अंग्रेजों ने कानून बनाकर शूद्रातिशूद्रों के लिए भी मुक्त कर दिया। फलतः ब्रिटिश राज में ही दलित पिछड़ों को राजा, डाक्टर, इंजिनियर, वकील, अध्यापक, व्यवसायी इत्यादि बनने का भी अधिकार मिला। अगर हिंदू आरक्षण (वर्ण-व्यवस्था) के तहत इन्हें शिक्षा सहित समस्त मानवीय अधिकारों से वंचित कर एकदम पंगु नहीं बना दिया गया होता तो अंग्रेजी राज के सौजन्य से मानवेतर समाज का चेहरा कुछ और होता। अंग्रेजी राज में गणतांत्रिक चेतना का उन्मेष भी कम बड़ी बात नहीं थी। उन्होंने ब्रिटेन से लाकर भारत में संसदीय प्रणाली की जो बुनियाद रखी उसका लाभ उठा कर स्वाधीन भारत में 85 प्रतिशत वाला मानव समूह बड़ी आसानी से सत्ता पर कब्जा जमाकर सामाजिक परिवर्तन की लहरे पैदा कर सकता था, जो दुर्भाग्यवश नहीं हुआ। लेकिन भविष्य में यदि सामाजिक परिवर्तन होगा तो संसदीय प्रणाली के रास्ते ही होगा।

ब्रितानी राज में एक बड़ी अच्छी बात यह हुई कि फादर विलियम केरी जैसे समाज संस्कारक की प्रेरणा और लार्ड मैकाले की शिक्षा, कानून नीति के सौजन्य से भारत में कई परिवर्तनकामी व्यक्तित्वों का उदय हुआ। लेकिन जातिवादी समाज में विकसित अपनी चेतना के कारण सामाजिक परिवर्तन में वे शतप्रतिशत योगदान न कर सके। इस चेतना का खुलासा करते हुए डॉ. आंबेडकर ने कहा है– *हिन्दुओं में उस चेतना का सवर्था अभाव है जिसे समाज विज्ञानी 'सर्व वर्ग की चेतना' कहते हैं। उनकी चेतना सर्ववर्ग से संबंधित नहीं है। हरेक हिन्दू में जो चेतना पाई जाती है, वह उसकी अपनी जाति के बारे में होती है। जब भी कोई समुदाय अपने स्वार्थ की रक्षा की भावना से प्रेरित होता है तो उसमें असामाजिकता की भावना पैदा हो जाती है। यह असामाजिक की भावना ही अर्थात अपने स्वार्थ की रक्षा की भावना विभिन्न जातियों के एक दूसरे से अलग होने का एक ऐसा ही विशिष्ट लक्षण है, जैसा कि अलग-अलग राष्ट्रों का। ब्राह्मणों का मुख्य उद्देश्य यह है कि गैर-ब्राह्मणों के विरुद्ध अपने स्वार्थ की रक्षा करें और गैर-ब्राह्मणों का उद्देश्य यह है कि ब्राह्मणों के विरुद्ध अपने स्वार्थ की रक्षा करें। इसीलिए हिन्दू समुदाय विभिन्न जातियों का संग्रह मात्र नहीं है, बल्कि वह शत्रुओं का समुदाय है। उसका हर विरोधी वर्ग स्वयं अपने लिए और अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए जीना चाहता है।*

वास्तव में समग्र वर्ग की चेतना का अभाव हिन्दुओं में इतनी बड़ी व्याधि रही कि इससे बड़े से बड़े राजा महाराजा, साधु-संत, नेता तक मुक्त नहीं। ऐसी चेतना के अभाव में ही

जिस कांग्रेस का जन्म के समय निम्न जातियों का उन्नयन प्रमुख एजेंडा था उसी कांग्रेस का नेतृत्व ब्राह्मण तिलक के हाथ में आते ही उसका एकमेव लक्ष्य स्वाधीनता संग्राम के नाम पर हिंदू राज की स्थापना बन गया। इसी चेतना के अभाव में मंडलोतर काल में जब ब्राह्मणराज पर संकट आया 'ब्रह्म सत्य, जगत मिथ्या' में विश्वास करने वाले साधु-संतों के वेश में छिपे ब्राह्मणों ने राम जन्म भूमि मुक्ति आंदोलन के नाम पर कई हजार करोड़ की संपदा और असंख्य लोगों की प्राणहानि करा दिया। सर्व वर्ग की चेतना की कमी के कारण ही प्रधानमंत्री के जिम्मेदार पद पर बैठ कर, ब्राह्मण अटलजी ने अपने शत्रु अब्राह्मण समाज को कमजोर करने के लिए देश की सुरक्षा तक से जुड़े सरकारी उपक्रमों को बेचना शुरू कर दिया। इसी चेतना की शून्यता के कारण अंग्रेज भारत में परिवर्तनकामी सवर्ण महापुरुष अपनी क्षमता का उपयोग सकारात्मक सामाजिक परिर्वतन में न कर सके। अगर ऐसा नहीं होता तो राजा राममोहन राय और पंडित विद्यासागर जैसे महापुरुष क्यों कर क्रमश: सती प्रथा और विधवा प्रथा जैसी उन सामाजिक बुराइयों के खात्मे में ही अपना सर्वस्व उड़ेलते जो बुराइयाँ मात्र उनके समाज की समस्यायें थीं।

समग्र वर्ग की चेतना के अभाव के कारण अगर मानवेतर समाज उच्चवर्ण परिवर्तनकामी व्यक्तियों की प्रतिभा के सुफल से वंचित रहा तो इसी कारण उसे अपने समाज में जन्मे कुछ असाधारण क्रांति पुरुषों के कार्यों का शत प्रतिशत लाभ भी मिला। ब्रिटिश राज में दलित-पिछड़े समाज में ऐसे कुछ विरल व्यक्तियों का जन्म हुआ जिन्होंने सामाजिक परिवर्तन के समस्त सूत्र इजाद कर दिये। ऐसे लोगों में पहला नाम ज्योतिबा फुले का था जिन्हें भारत में सामाजिक क्रांति का प्रणेता माना जाता है। जिन दिनों भारत से हजारों मील दूर कार्ल मार्क्स ग्रन्थालयों की खाक छानकर श्रेणी समाज में सर्वहारा वर्ग की मुक्ति का सूत्र ढूढ़ रहे थे ठीक उन्हीं दिनों पुणे के खौफनाक ब्राह्मणों के बीच रहकर शुद्र फुले भी सहस्रों वर्ष पूर्व हिंदू वितरण व्यवस्था में संपदा, संसाधनों के साथ मानवीय मर्यादा से भी वंचित किए गए लोगों का मुक्ति का सूत्र ढूंढने में निमग्न थे। मार्क्स शोषण को सर्वहारा के दुखों का कारण मानते हुए पूंजीवाद को प्रधान शत्रु चिन्हित कर वर्ग विहिन समाज के लिए सर्वहारा और पूंजीपति दो वर्गों को विद्यमानता के निर्भूल निष्कर्म पर पहुंच चुके थे। उनके विचार मंथन से जिन दिनों कम्यूनिष्ट पार्टी का घोषणापत्र सामने आया उसके कुछ वर्ष बाद ही प्रकाशित हुई फुले की विस्फोटक रचना गुलामगिरी। *मूलत: 1873 में प्रकाशित 'गुलामगिरी' तत्कालिन सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ शूद्रों और अछूतों का घोषणापत्र था। जिस तरह कार्ल-मार्क्स ने 1848 में पश्चिमी यूरोप के औद्यागिक समाज के सबसे ज्यादा शोषित और उत्पीड़ित समाज के अधकारों को रेखांकित करते हुए कम्युनिस्ट घोषणापत्र' निकाला था उसी तरह जोतीराव ने गुलामगिरी प्रकाशित कर भारत के सबसे अधिक शोषित एवं उत्पीड़ित तबके के अछूतों एवं शूद्रों के अधिकारों की घोषणा की। (शरद यादव, महात्मा फुले साहित्य व विचार पृ. 228)*

यह एक सुखद संयोग कहा जायेगा कि मार्क्स के समकालीन फुले ने बिना मार्क्स को पढ़े ही भारत में वर्ग विहिन समाज के निर्माण के लिए वर्ग बोध की चेतना का बीजारोपण कर दिया था। फुले के चिन्तन मनन के बाद गुलामगिरी में ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर दो वर्गों का स्पष्ट रूप

सामने, आया। गुलामगिरी में उन्होंने हिन्दू धर्म शास्त्रों में शूद्रातिशूद्रों के शोषण का निर्भूल चित्र प्रस्तुत किया। इसमें उन्होंने साफ कर दिया कि किस तरह विदेशी आर्यों (ब्राह्मणों) ने धर्मशास्त्रों के द्वारा मूलनिवासी शूद्रातिशूद्रों को गुलाम बनाकर सदियों से शोषण चक्र चलाया। भारत में वर्ग निर्माण और शोषितों के दुखों का कारण स्पष्ट करने के साथ ही पहली बार मानवेतरों के लिए नौकरियों मे हिस्सेदार की मांग उठाया। उन्होंने गुलामगिरी में लिखा, *हमारी दयालू सरकार (अंग्रेज सरकार) ने भट्ट-ब्राह्मणों को उनकी संख्यानुसार सरकारी कार्यालयों में नियुक्ति नहीं करना चाहिए, ऐसा मेरा कहना नहीं है। किंतु उसके साथ ही अन्य छोटी जातियों के लोगों को उनकी जनसंख्या के अनुसार नियुक्ति होनी चाहिए। इससे सभी भट्ट-ब्राह्मणों सरकारी नौकरो के लिए एक साथ मिलकर हमारे अज्ञानी शूद्रों को नुकसान पहुंचाना संभव नहीं होगा।*

वास्तव में फुले ने गुलामगिरी में आमूल सामाजिक परिवर्तन का संपूर्ण बुनियादी सूत्र रच दिया था। जिस तरह यूरोप के श्रेणी समाजों में परिवर्तन घटित करने में कम्यूनिस्ट घोषणापत्र ने प्रभावी भूमिका अदा किया वही काम भारत में गुलामगिरी कर सकती थी पर, नहीं कर सकी, तो इसलिए कि यूरोप के सर्वहारा की भांति भारत का दैविक दास शिक्षित नहीं था और जो परंपरागत बुद्धिजीवी वर्ग (ब्राह्मण) था उसके लिए कम्यूनिस्ट पार्टी के घोषणापत्र का समर्थन करना तो सुविधाजनक था पर, गुलामगिरी का अनुसरण तो अपना आसियाना फुंकने जैसा काम था। लेकिन गुलामगिरी में शूद्रातिशूद्रों की आर्थिक दशा में परिवर्तन लाने वाला जो सूत्र फूले ने दिया था उसे 1902 में कोल्हापुर के शाहूजी महाराज ने अपने सूबे में लागू कर एक दृष्टांत स्थापित किया। परवर्तीकाल में पेरियार ने समाज परिवर्तन के लिए जो संघर्ष एवं आंदोलन चलाया उससे परिणाम स्वरूप दक्षिण भारत में ब्राह्मण सत्ता का विनाश तो हुआ ही तमिल नाडू में 1929 से ही सरकारी नौकरियों में दलित एवं पिछड़ों को 70 प्रतिशत हिस्सेदारी मिली। फुले के मूलनिवासीवाद की बुनियादी विचारधारा लेकर पेरियार ने 'आत्मसम्मान' का जो आंदोलन चलाया उससे तमिलनाडू मे एक क्रांतिकारी बदलाव आया। अफसोस पेरियार के नेतृत्व में जिन पिछड़ों ने ब्राह्मणों को सत्ता से बेदखल किया वे अगर खुद ब्राह्मणवाद का शिकार न होकर दलितों के साथ समतामूलक व्यवहार किये होते, तो आत्मसम्मान का आंदोलन समग्र भारत में सामाजिक परिवर्तन का प्रेरणास्रोत बन गया होता। बावजूद इसके यह मामना ही होगा उन्होंने भारत में सामाजिक परिवर्तन की राह में पड़ी बाधाओं को दूर करने में अविस्मरणीय रोल अदा किया है। लोगों को दैविक दासता से मुक्ति के लिए हिन्दू-धर्म-शास्त्र-ईश्वर के विरुद्ध उन्होंने जो दु:साहसिक अभियान चलाया था वह परिवर्तन के आंदोलन की बेमिसाल घटना है।

लेकिन ज्योतिबा फुले ने सामाजिक परिवर्तन की जिस चेतना का बीजारोपण किया था वह डॉ. आंबेडकर के रूप में ही विशाल वृक्ष का रूप अख्तियार कर सका। डॉ. आंबेडकर ने जो ऐतिहासिक काम किया, उसके फलस्वरूप ही उन्हें मोजेस, लिंकन, बुकर टी. वाशिंग्टन का भारतीय संस्करण कहकर आदर दिया गया। इस दिशा में उन्होंने जो बुनियादी काम किया वह तो इतिहास की एक महागाथा है। जो समाज हजारों वर्षो से हिन्दू धर्म-शास्त्रों के विधानों द्वारा परिचालित हो रहा था एवं जिसमें विकास का अवसर समाज के अत्यन्त अल्पसंख्यक लोगों के लिए ही सुरक्षित था उसे पूरी तरह खारिज कर उन्होंने संविधान में सुनिश्चित किया,

प्रत्येक नागरिक को मिलेगा सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय; दिया जायेगा चिन्तन, विश्वास, धर्म एवं अभिव्यक्त की स्वाधीनता; मर्यादा एवं सुअवसर होगा सबके लिए समान। यह निश्चय ही समाज परिवर्तन की दिशा में कम बलिष्ठ कदम नहीं था। उन्होंने दैविक दासत्व से मुक्ति के लिए पूर्ववर्ती क्रांतिकारी महापुरुषों की भांति हिन्दू-धर्म व ईश्वर के विरुद्ध हमला तो किया ही इससे बढ़कर हिन्दू धर्म के परित्याग का आह्वान किया जो मानवेतरों की मुक्ति की दिशा में एक बहुत ही बलिष्ठ कदम था। उन्होंने दलितों (अस्पृश्य-आदिवासियों) के लिए आरक्षण का जो प्रावधान रचा, जो कि परवर्तीकाल में पिछड़ों को भी सुलभ हुआ, उससे वर्ण-व्यवस्था द्वारा Sub-stream में ठेले गये लोगों को Main Stream के करीब लाने अर्थात् बौद्धोत्तर भारत में पहली बार सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू हुई।

देश की दिशा निर्धारित करने वाली राजनीति में अस्पृश्य-आदिवासियों को उनकी जनसंख्यानुपात में हिस्सेदारी भी मिली। लेकिन डॉ. आंबेडकर के एकल प्रयासों से समाज परिवर्तन की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य होने के बावजूद स्वाधीनोत्तर भारत में समाज का चित्र मूल रूप से वही रहा जो मार्क्स ने डेढ़ शताधिक वर्ष पूर्व देखा था। हजारों वर्ष पूर्व ब्राह्मण-क्षत्रिय और वैश्य से युक्त जिस सवर्ण समाज का देश की संपदा, संस्थाओं और उच्चमान के लाभकारी पेशों पर एकाधिकार रहा, स्वाधीन भारत में भी उसका सांस्कृतिक स्रोतों एवं अर्थतंत्र पर प्राय: 90 प्रतिशत अधिकार बरकरार रहा। ब्राह्मण का 'भूदेवता', क्षत्रिय की जन अरण्य के 'सिंह' और वैश्य की 'साहूजी' के रूप में सामाजिक मर्यादा अटूट रही। 15 प्रतिशत से अधिक लोग कोर्ट-कचहरी, ऑफिस, शहर और शिल्प व्यवस्था, चिकित्सा और बाजार, फिल्म-टीवी, प्रिन्ट व इलेक्ट्रानिक्स मीडिया के अवसर का लाभ उठाने की क्षमता अर्जित नहीं कर पाये। पंद्रह प्रतिशत वालों को छोड़कर बाकी जनता में 16-18 प्रतिशत लोग विधर्मी व मलेच्छ के रूप में उपेक्षित; 52 प्रतिशत पिछड़े-अतिपिछड़े अयोग्य रूप में विघोषित; साढ़े सात प्रतिशत लोग आदिवासी जंगली रूप में धिक्कृत व निंदित एवं संयुक्त राज्य अमेरिका के समपरिमाण संख्यक लोग अछूत रूप में तिरस्कृत व बहिष्कृत रहे। इन पचासी प्रतिशत लोगों की दशा में परिवर्तन लाने के लिए ही 'गरीबी हटाओ' और 'संपूर्ण क्रांति' का नारा देकर सत्ता परिवर्तन तक किया गया पर, क्रांतिकारी परिवर्तन की कोई लहर पैदा नहीं हुई। इस कार्य 'में गांधीवादी, लोहियावादी, मार्क्सवादी, राष्ट्रवादी और आंबेडकरवादी सभी विचारधारा से जुड़ी बड़ी-बड़ी हस्तियों ने हाथ लगाया लेकिन परिवर्तन का चक्र रफ्तार नहीं पकड़ा। इस दिशा में 'बसपा' के संस्थापक कांशीराम एक भिन्न परिकल्पना लेकर सामने आये, जिस पर दुनिया भर के सामाजविज्ञानियों की नजरें टिकी हैं।

सामाजिक परिवर्तन की जो परिकल्पना लेकर कांशीराम आगे बढ़े उसका निर्माण प्रधानत: शूद्रातिशूद्र समाज में जन्मे ज्योतिबा फुले, नारायण गुरु, शाहूजी महाराज, पेरियार और डॉ. आंबेडकर के परिवर्तनकामी परिकल्पनाओं और विचारों के निचोड़े से हुआ है। उन्होंने अपनी परिकल्पनानुसार इनमें सबके कुछ विचारों को ग्रहण किया तो कुछ का परित्याग। इसलिए उन्हें न तो विशुद्ध आंबेडकर न ही फुले, पेरियारवादी ही कहा जा सकता है। कांशीराम के शब्दों में, *मेरा तरीका थोड़ा अलग है। जिस तरह कोई देहाती दही को मथकर*

मक्खन निकालता है, वैसे ही मैने समाज को मथा है। यह मक्खन अगर आग पर रखा जाय तो घी बन जाता है। कहना न होगा उन्होंने दलित-पिछड़े समाज में जन्में क्रांति पुरुषों के विचारों को मथकर एक अलग ही विचार का निर्माण किया है जिसे 'कांशीरामवाद' कहना खूब गलत नहीं होगा। इस नये वाद को विकसित करने के क्रम में उन्होंने परिवर्तनकारी महापुरुषों के विचारों का अध्ययन मनन किया ही, साथ ही भारत के चप्पे-चप्पे पर पहुंचकर समाज को मथकर जाना है क्या है इसकी अपरिवर्तनशीलता कारण और कैसे बनाया जा सकता परिवर्तन का रथ चक्र गतिमान।

बतौर एक लेखक कांशीराम के आंदोलनों का गहराई से अध्ययन करके मुझे लगता है कि आमूल सामाजिक परिवर्तन की दिशा में सारे बाधा-विघ्नों को दूर करने का उन्होंने प्राय: त्रुटिहीन सूत्र ढूढ लिया है। पूर्व पंक्तियों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि भारत में ऐसे परिवर्तन की दिशा में मुख्य बाधायें दासों का दैविक दासत्व और वीभत्स संतोषबोध ही रही हैं। इस नकारात्मक मानसिकता का ब्राह्मणों द्वारा निर्माण वर्ण/जाति व्यवस्था को ईश्वरकृत प्रचारित कर किया गया था। मेरे गुरु एस.के. बिश्वास की भाषा में कहा जाए, तो जाति-व्यवस्था जनित इस मानसिकता के करण दासों में स्वाधीनता की चेतना, वित्त वासना व सवर्णों की भांति उन्नतर जीवन जीने की ललक पैदा ही न हो सकी। एक कुशल मनोचिकित्सक की भांति कांशीराम ने ऐसी मानसिकता से उबारने की सफल प्रक्रिया शुरू किया। ऐसी मानसिकता से निजात दिलाने के लिए उन्होंने आधुनिक तथ्यों और समाजशास्त्रीय विश्लेषणों का सहारा लिया ही है पर, सर्वाधिक जोर इतिहास के सद्व्यवहार पर दिया है।

उनके अनुसार भारत का संपूर्ण इतिहास जातीय संघर्ष व जातीय वर्चस्व को स्थापित करने का इतिहास है जिसकी जड़े सिन्ध, सभ्यता में समाई हुई हैं। उन्होंने अपने सीमित प्रचार माध्यमों के द्वारा 85 प्रतिशत वालों में जेहन में यह बात बिठाने में कोई कसर नहीं छोड़ा है कि *प्राचीन विश्व में सुख समृद्धि की अनुपम मिसाल सिन्धु घाटी सभ्यता के जनक और कोई नहीं खुद उनके ही पुरखे थे जिन्हें छल-बल-कल से विदेशी आर्यों (आज के सवर्णों के पुरखों) ने पराजित कर भारत पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया। बाद में अधीन बनाये गये मूलनिवासियों की भावी पीढ़ी को चिरकाल के लिए दास के रूप में इस्तेमाल करने के लिए जाति व्यवस्था का निर्माण किया। जाति व्यवस्था से ही मूलनिवासी शूद्रों का सत्यानाश हुआ है। पढ़ने नहीं दिया गया, धन-धरती का मालिक नहीं बनने दिया गया। इससे हमें अपमान मिला है और आर्यों (सवर्णों) को धन, मान-सम्मान। समाज को अपमानित किया गया, गुलाम बनाया गया और ऐसी व्यवस्था बना दी गई कि आगे भी इस समाज से गुलाम पैदा होते रहे। ऐसे में सभी मूलनिवासियों को चाहिए कि आपसी दुश्मनी भुलाकर, संगठित होकर आर्यों को सत्ता से दूर धकेल कर हम अपने पुरुखों का खोया गौरव प्राप्त करें और धन-धरती का मालिक बने। कहना न होगा सिन्धु सभ्यता के इतिहास का अभूतपूर्व सद्व्यवहार करके उन्होंने परिवर्तन के मार्ग की कई बाधाओं पर एक साथ विजय पा लिया।*

पहला, दलित-पिछड़ों की सदियों से जारी दुरावस्था से मुक्ति के लिए कांशीराम ने सत्ता की चाबी हासिल करना अपने मिशन का प्रधान लक्ष्य रखा है। दास समाज आर्यों की सत्ता

से बेदखल करने के लिए अपना मन बनावे, इसके लिए सत्ता की उपयोगिता समझाने के लिए उन्होंने काफी पसीना बहाया है। अब धीरे-धीरे इस समाज में शासक बनने की उग्र चाह पैदा हो रही है। लेकिन तमाम तरह के उपक्रम करने के बावजूद, अगर कांशीराम सिन्धु सभ्यता के इतिहास पर बल नहीं दिये होते, यह चाह इतनी आसानी से पैदा नहीं होती। सिन्धु घाटी जैसी वैभवशाली सभ्यता के सृजनकार उनके ही पुरखे थे, यह उपलब्धि कर हजारों साल की दास जातियों में शासक जमात बनने की आकांक्षा तीव्रतर होती जा रही है।

क्रांतिकारी परिवर्तन के लिए आवश्यक है शासक-शोषक के रूप में मानव समूहों का दो वर्ग बने, जैसा कि रूस, फ्रांस, चीन इत्यादि की क्रांतियों के दरम्यान हुआ था। भारत जैसे देश में चार वर्ण से जाति के प्रायः दस हजार समूहों में विभक्त लोगों को शासक-शोषित के दो वर्गों में ध्रुवीवृत करना बहुत कठिन है। आधुनिक काल में भारत के लोगों को दो वर्गों में विभाजित करने का पहला उपक्रम ज्योतिबा फुले ने चलाया था। उन्होंने आर्य-अनार्य, ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर (क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रातिशूद्र) के रूप में दो वर्गों के वजूद को दर्शाने की मुहिम शुरू किया था। उनके बाद भी विभिन्न राजनीतिक दर्शन के कई लोगों ने सीढ़ीनुमा असंख्य समाज में बंटे लोगों को वर्ग के रूप में विभाजित करने की असफल कोशिश किया। पर, इस दिशा में एकमात्र कांशीराम ही सफल होते नजर आ रहे हैं। हालांकि कांशीराम की भी वर्ग निर्माण की मूल परिकल्पना फुले से ही ली गई है पर, इसमें व्यापकता है। फुले के आर्य-अनार्य वर्ग में सिर्फ ब्राह्मण आर्य और हिन्दुओं की बाकी जातियां ब्राह्मणेतर अनार्य वर्ग में थीं। जबकि कांशीराम के आर्य वर्ग में ब्राह्मण ही नहीं वर्ण-व्यवस्था से लाभान्वित होने वाले क्षत्रिय और वैश्य भी शामिल हैं। उसी तरह इनके अनार्य वर्ग में दलित-पिछड़े ही नहीं इनसे धर्मांतरित अल्पसंख्य भी हैं, जो सभी मिलकर बहुजन समाज बनाते हैं। कांशीराम के अनुसार धार्मिक अल्पसंख्यक समुदायों के प्राय 80 प्रतिशत लोग मूलनिवासी समुदाय के ही सदस्य हैं जो दलित-पिछड़ों की भांति ही अतीत में अल्पजन आर्यों के द्वारा सताये गये हैं। ऐसे में उनका आह्वान है कि सभी मूल भारतीय अनार्य समाज के लोग बहुजन समाज में तब्दील होकर अपने अधिकारों के लिए अल्पजन आर्यों के विरुद्ध संघर्ष करें। उनके प्रयासों से हजारो भागों में विभक्त समाज आश्चर्यजनक रूप से धीरे-धीरे वर्ग का रूप अख्तियार करने लगा है।

कांशीराम इस देश की संपदा संस्थाओ पर प्रायः 90 प्रतिशत कब्जा जमाये रखने वाले वर्ग के विरुद्ध जिन 6000 भागों में विभाजित मानव समूहों को एकीकृत कर बहुजन समाज के रूप में संगठित करना चाहते हैं, उसमें सबसे बड़ी बाधा है घृणा व शत्रुता जो वर्ण-व्यवसाय के प्रर्वतकों के सौजन्य से दस हजार जातियों के मध्य ही व्याप्त है। घृणा और शत्रुता की व्याप्ति ने सदियों से भारत को भ्रातृत्व का कंगाल बना कर रखा है। इस देश में सदियों से ढेरों साधु-संतों, समाज सुधारकों और राजनेताओं ने जाति समाज में भ्रातृत्व स्थापित करने का उपक्रम चलाया पर, कुछ हद तक कामयाब हुए तो एकमात्र कांशीराम ही। वे भी कामयाब नहीं होते अगर सिन्धु सभ्यता के सृजनकारों को आज के बहुजनों को पुरखे प्रमाणित करने पर बल नहीं दिये होते। आज अगर घृणा और शत्रुता की दीवार लांघकर भ्रातृभाव लिए

वर्ण-व्यवस्था में सतायी गयी जातियां बहुजन समाज में परिवर्तित होना शुरू हो चुकी हैं तो यह सोचकर ही वे एक दूसरे के निकट आ रही हैं कि उनके पुरखे एक थे। उनके जेहन में यह बात घर करने लगी है कि धन-धरती पर अपना प्रभुत्व अटूट रखने के लिए ही आर्यो ने साजिस करके उन्हें असंख्य भागो में बांटा है। कांशीराम का दावा है कि उन्होंने भाईचारा का अभियान चलाकर बहुजनों की 6000 जातियों में से 600 को जोड़ लिया है और यदि 1000 जातियों को भी वे जोड़ने में सफल हो जाते हैं तो बहुजन समाज को शासक बनाकर परिवर्तन आंधी बहा देंगे।

परिवर्तन के राह की बड़ी बाधा, बहुजनों के दैविक-दासत्व, के दूरीकरण में भी प्राचीन इतिहास कांशीराम के लिए सहायक हुआ है। उन्होंने, दैविक-गुलामी के उत्स, हिन्दू-धर्म-ईश्वर के विरुद्ध यम की भूमिका में अवतरित होने वाले पेरियार और डॉ. आंबेडकर को प्रचारित करने के साथ ही इसके मानवता विरोधी रूप को उजागर करने में बढ़-चढ़ कर काम किया है। लेकिन उन्हें दैविक गुलामी से शिक्षित मूलनिवासियों को मुक्ति दिलाने में ज्यादा सफलता इसलिए मिली कि उन्होंने हिन्दू-धर्म को आर्यो का धर्म कहकर प्रचारित किया। इससे आर्यो के विरुद्ध घृणाभाव पोषण करने वाले मूलनिवासियों में हिन्दू धर्म से दूरत्व की प्रक्रिया और तीव्रतर हुई, जिसके फलस्वरूप उनकी डिवाइन स्लेवरी में भी कमी का रुझान साफ दिख रहा है।

कांशीराम के सौजन्य से भारत में द्रुत सामाजिक परिवर्तन की और भी कुछ शर्तें पूरी होती दिख रही है। यह परीक्षित सत्य है कि दुनिया भर के क्रांतिकारी परिवर्तनों के मूल में रहे हैं प्राय: कुछ असाधारण समाज पुरुष। लेनिन, माओ, गुयेवरा, हो ची मिन्ह इत्यादि इसी श्रेणी के व्यक्तित्व रहे हैं। ऐसे असाधारण पुरुषों की सोच ही जब उनके देश के जनगण की भी सोच बनी तभी वहां परिवर्तन का उफान आया। अगर समाज परिवर्तन में विरल व्यक्तित्व के किसी समाज पुरुष का नेतृत्वदान कोई महत्वपूर्ण शर्त है तो कांशीराम एक संपूर्ण बहुजन नायक के रूप स्वयं मौजूद हैं। हम अकेले ही चले थे जानिबे मंजिल की ओर, लोग मिलते गये और कारवां बनते गया। यह एक शेर है जो बहुत मशहूर है लेकिन यह किसी पर सबसे फिट बैठता है तो वह कांशीराम ही हैं।

ईआरडीएल में सुख शान्ति की नौकरी के दौरान, राजस्थान के दलित कर्मचारी दीनाभाना के उत्पीड़न के मूल कारणों से अवगत होने के बाद कांशीराम में नाटकीय रूप से जो सांस्कृतिक, भावनात्मक व राजनीतिक संस्कार पड़ा, वह बिलकुल गौतम बुद्ध जैसा था। राजसिक सुख ऐश्वर्य के अभ्यस्त गौतम बुद्ध ने एक नाटकीय यात्रा के मध्य दुख-दारिद्र का साक्षात् कर, उसके दूरीकरण के उपायों की खोज के लिए जैसे गृह-त्याग किया था कुछ वैसा ही कांशीराम ने भी किया। आम दलितों की तुलना में बचपन में पर्याप्त सुख-स्वाछन्द का जीवन व्यतीत किये कांशीराम जिन दिनों ईआरडीएल में अफसर की नौकरी करते हुए 'दुल्हे का सेहरा' पहनने के सपने में विभोर थे, उन्हीं दिनों दीनाभाना के साथ वह घटना हुई, जिसने 31 वर्ष की अवस्था में उन्हें सांसारिक सुख से चिरकाल के लिए दूर रहने की प्रतिज्ञा लेने के लिए मजबूर कर दिया। दीनाभानों की दशा में बदलाव लाने के लिए नौकरी छोड़ने के बाद फुले, शाहूजी महाराज, नारायण गुरु, पेरियार, डॉ. आंबेडकर इत्यादि के विचारों सहित

वर्णवादी समाज को मथकर जो विचार निकाला उसके एक-एक शब्द उनके असंख्य अनुसरणकारियों के लिए वेदवाक्य हो गया। भारत में विरले ही ऐसा कोई समाज पुरुष हुआ होगा जिसके विचारों को पूरी तरह त्रुटिहीन व संपूर्ण मानकर उसके अनुसरणकारी अनुगमन किये होंगे। और अनुसरणकारी भी कैसे ! पूरी तरह से शिक्षित व जागरुक, जिनमें पद-प्रतिष्ठा की कोई चाह नहीं; कोई व्यक्तिगत महत्वकांक्षा नहीं। वे महज *समाज के ऋण से मुक्त होने के लिए* सामाजिक परिवर्तन में अपना रोल अदा करना चाहते हैं। ऐसे अनुसरणकारियों की संख्या दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है। पे बैक टु दी सोसाइटी के दिवानों में अपने साहेब से भी कहीं अधिक उग्रता है।

कांशीराम ने क्रांतिकारी परिवर्तनों के साथ ओत-प्रोत रूप से जुड़ी एक और अनिवार्य शर्त पूरी किया है। इतिहास साक्षी है कि द्रुत सामाजिक परिवर्तनों के साथ लेनिन, माओ, चे गुयेवरा इत्यादि ही नहीं, हाब्स, लॉक, रुसो, वाल्टेयर, गोर्की', तालस्ताय जैसे लेखकों का नाम भी जुड़ा होता है। लेखक ही पहले व्यवस्था की खामियों का उजागर कर उसके विरुद्ध जनगण में विद्रोह की भावना भरते हैं। बाद में कोई विरल व्यक्तित्व सम्पन्न नेता सामने आकर जनगण के आक्रोश को सत्ता परिवर्तन के कार्य में इस्तेमाल करता है। कांशीराम के उदय के पूर्व अपवाद रूप से कुछेक को छोड़कर बाकी लेखकों में उस क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्तन की चेतना का सवर्था अभाव था जिसका बीजारोपण फुले-पेरियार-आंबेडकर ने किया था। कांशीराम ने अपने आंदोलन के अंग के रूप में ज्यों-ज्यों फुले, शाहूजी महाराज, नारायण गुरु, पेरियार के परिवर्तनकामी विचारों को बहुजन समाज के बीच पहुचाना शुरू किया त्यों-त्यों बहुजन समाज के बीच जन्मे, विशेषकर दलित, लेखकों में बदलाव आता गया। दलित समाज के जो लेखक पहले गांधीवादी, मार्क्सवादी, राष्ट्रवादी विचारधारा का लेखन, रोमांटिक शेरो-शायरी कविता-कहानी की रचना किया करते थे वे धीरे-धीरे कांशीराम के बहुजन चिंतन के प्रभाव में जकड़ते गये। आज दलित साहित्य कांशीरामवादी साहित्य का ही दूसरा नाम हो गया है। इससे जुड़े लेखक कांशीराम की पार्टी बसपा की कुछ नीतियों से असहमत होने के बावजूद कांशीराम के परिवर्तनवादी मूल सूत्रों अर्थात हिन्दू-धर्म-संस्कृति व ईश्वर का ध्वंस; मूलनिवासी बहुजनों की एकता और आर्यवादी सत्ता के खात्मे पर ही अपने लेखन को केंद्रित किये हुए हैं। यही नहीं बहुत से लोग कांशीराम के परिवर्तनकारी आंदोलन को गति देने के लिए ही कलम पकड़े। ऐसे लोगों में एस.के. विश्वास, मोहनदास नैमिसराय, कंवल भारती, डॉ. विवेक कुमार जैसे भारत विख्यात लेखक व चिंतक हैं।

यह तुच्छ लेखक भी कांशीराम के पे बैक टु दी सोसाइटी के आह्वान से अनुप्राणित होकर ही लेखन में उतरा। उनके आमूल परिवर्तनकारी आंदोलन में अपना सहयोग देने के लिए ही मैंने पत्र शैली में 674 पृष्ठीय *आदि भारत मुक्ति : बहुजन समाज* जैसी पुस्तक लिखी। *भारत में बौद्ध धर्म का पतन क्यों और कैसे; भारत के मूल निवासी और आर्य आक्रमण* जैसी अनूदित रचनाओं के पीछे यही उद्देश्य क्रियाशील रहा। परवर्ती चरणों में जब सन् 2000 के उत्तरार्द्ध से पूरी तरह पत्रकारीय लेखन के प्रति खुद को समर्पित किया तब भी मेरे लेखन का मूल उद्देश्य

अटूट रहा। इस बीच 2002 के अप्रैल में शायद *'डाइवर्सिटी'* के पक्ष भी कलम चलाने के कारण ही मुझे दिल्ली के गुरुद्वारा राकबगंज स्थित कांशीराम के मुख पत्र *'बहुजन संगठक'* के आफिस से जलील कर निकाल दिया गया। उसके बाद मैंने आहत होकर 'बहुजन संगठक' में लेख देना जरूर बंद कर दिया। पर, चूंकि लेखन में उतरने का एकमेव लक्ष्य कांशीराम के आंदोलनों में अपनी टूटी-फूटी कलम से कुछ सहयोग करना रहा इसलिए अपमानित होने के बावजूद दैनिक पत्रों के संपादकीय पृष्ठ के लिए नियमित अंतराल पर बसपा के पक्ष में लेख लिखता रहा। पिछले चार वर्षों में लिखे गये वैसे लेखों का ही संग्रह प्रस्तुत पुस्तक में है।

जहां तक बसपा का सवाल है यह तय हो चुका है कि इसके द्वारा वैसा द्रुत सामाजिक परिवर्तन संभव नहीं है जैसा परिवर्तन फ्रांस, रूस या चीन क्रांति के द्वारा हुआ। फिर भी इसने सीमित साधनों के मध्य कुमारी मायावती के नेतृत्व में उत्तर प्रदेश में अल्पकाल की सत्ता के द्वारा सामाजिक, सांस्कृतिक व राजनैतिक बदलाव को जो रुझान दिखाया है, उससे प्रतीत होता है कि यदि यह पार्टी निष्ठापूर्वक 'कांशीरामवाद' का अनुसरण करती रही तो आनेवाले दिनों में मध्यम गति से आमूल परिवर्तन घटित करने में सफल हो सकती है। आज बसपा द्वारा जाति चेतना के राजनीतिकरण पर बल दिये जाने का प्रभाव सर्वत्र परिलक्षित हो रहा है। विशेषकर जाति चेतना के कारण हिंदी भाषी अंचलों में जाति के नाम पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि जैसी परंपरागत जातियों का चुनाव जीतना क्रमशः दुष्कर होते जा रहा है। ये जीत सकते हैं सिर्फ हिन्दू के नाम पर। इसलिए सवर्णवादी संघ परिवार को जाति चेतना का मुकाबला करने के लिए धार्मिक चेतना के राजनीतिकरण का अभियान गत डेढ़ दशक से चलाना पड़ रहा है। बसपा द्वारा निरंतर सत्ता में भागेदारी की मांग उठाये जाने से आतंकित होकर सर्वर्णवादी संघ तक आडवाणी, उमा भारती, नरेन्द्र मोदी, विनय कटियार, साध्वी ऋतम्भरा इत्यादि शूद्रों को अतिरिक्त आदर देने के विवश है। बसपा के डर से ही ब्राह्मणवादी पार्टियों में ढ़ेर सारे व्यक्तित्वहीन दलित-आदिवासी नेताओं को योग्यता से अधिक पुरस्कार मिल रहा है। एक जमाने में अधिकांश पार्टियों के अध्यक्ष ब्राह्मण होते थे पर, आज स्थिति उल्टी है तो बसपा के कारण ही। मुलायम सिंह यादव और लालू प्रसाद यादव की राजनीति में हैसियत बुलन्द हुई है तो उसका परोक्ष कारण बसपा का आंदोलन ही है। बसपा के कारण जिस मात्रा में शूद्रों की राजनीति में भागेदारी बढ़ी है अगर उसी मात्रा में वह उन्हें हिन्दू-धर्म-संस्कृतिक व ईश्वर से विमुक्त करने में सफल हो जाती है तो कांशीराम के सामाजिक परिवर्तन की परिकल्पना को अवश्य ही सफलता मिल जायेगी। उम्मीद करना चाहिए वह दिन आयेगा।

लेकिन परिवर्तन के मुक्कमल सूत्रों से लैस बसपा ने जिस तरह आर्थिक क्षेत्र में भागेदारी का सुस्पष्ट सूत्र देने वाली *डाइवर्सिटी* की उपेक्षा किया है। उससे मुझे भारी हैरानी हुई है। जो बसपा बहुजन समाज को आरक्षणदाता की भूमिका में देखना चाहती है वह निजी क्षेत्र में नौकरियों में आरक्षण का समर्थन; राशन और शराब इत्यादि की दूकानों में बहुजनों के संख्यानुपात में भागेदारी की मांग तो करती है पर, अमेरिकी डाइवर्सिटी की मांग पर चुप्पी साधे हुए है। डाइवर्सिटी का मतलब ही तो सरकारी व गैर सरकारी क्षेत्र की वस्तुओं की सप्लाई, उत्पादित वस्तुओं की डीलरशील में भागेदारी के साथ ठेकों, पार्किंग, फिल्म, प्रिन्ट

व इलेक्ट्रानिक मीडिया इत्यादि में भी शेयर ही है। बहुजनों की भागेदारी के नाम पर अनेको रैलियां निकालने वाली बसपा को क्या प्रत्येक क्षेत्र में ही वंचितों के भागेदारी की हिमायत करने वाली 'डाइवर्सिटी' को अपनाने के लिए आगे नहीं आना चाहिए ? यह तो उसके आंदोलन के लिए भी सहायक है। कांशीराम के प्रयत्नों से बसपा दासों में शासक बनने की आंकाक्षा पैदा करने में सफल हुई। डाइवर्सिटी अपना कर वह हजारों साल से व्यापार-उद्योग से वंचित किये लोगों में टाटा-बिड़ला, अंबानी, हेनरीफोर्ड इत्यादि बनने का भी आकांक्षा पैदा कर सकती है। ऐसे में कांशीराम के इस मूल-मंत्र–*हो सकता है आपलोग सारी समस्याओं को एक ही साथ समाप्त करने की बात सोचते हो, परंतु आपलोगों को ध्यान रखना चाहिए कि अगर हम एक ही झटके में सारी की सारी समस्याएं एक साथ समाप्त करना चाहें, तो मैं समझता हूं जिस तरह हम आज तक 'कनफ्यूज्ड' रहे हैं, उसी तरह आगे आने वाले समय में भी 'कन्फ्यूज्ड' रह जाएंगे और समस्याएं ज्यों की त्यों बनी रहेंगी। हमें सबसे समानता और सम्मान प्राप्त करना है। भीख मांगकर नहीं, अपने बल पर*– के बाबजूद बसपा को डाइवर्सिटी की संभावनाओं पर विचार करना चाहिए।

जहां तक बी.एस.पी. के आंदोलनों को समझने का सवाल है, जब कांशीराम के 'पे बैक टु दी सोसाइटी' के आह्वान से अनुप्रमाणित होकर ही पूर्णकालिक तौर पर लेखन में उतरा, तब जाहिर है कि इस मामले में उनके भाषण और लेखन से सर्वाधिक उपकृत हुआ। वैसे तो मेरे गुरु एस.के. विश्वास ने विविध विषयों के चिंतन की बुनियाद खड़ा करने में मूल्यवान योगदान किया ही है पर, बसपा के आंदोलनों की समझ विकसित करने में किसी पुस्तक ने सर्वाधिक मदद किया है, तो वे सुप्रसिद्ध पत्रकार अभय कुमार दूबे की काशीराम ही हैं। दूबेजी की पुस्तक 'कांशीराम' से दो चार होना मेरे लिए कुछ हद तक एक विस्मयकर अनुभव रहा। उनकी उस रचना ने ही मुझमें गैर-दलितों द्वारा बसपा को केंद्रित कर लिखे गए लेखों और पुस्तकों के पढ़ने की मानसिकता विकसित किया। उसके बाद तो बसपा पर कई गैर-दलित लेखकों की रचनाएं पढ़ गया। इनमें आर.के. सिंह के शोध ग्रंथ, *कांशीराम और बी.एस.पी. : दलित आंदोलन वैचारिक आधार ब्राह्मणवाद विरोध* ने खासा प्रभावित किया है। मनुवाद विरोधी दर्जनों विस्फोटक रचनाओं के सृजनकार बुद्ध शरण हंस का 'बहुजन चिंतन' भी मेरे लेखन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव विस्तार किया है। लेकिन हाल के वर्षों में जे.एन.यू. के सामाजिक पद्धति अध्ययन केंद्र के प्रोफेसर डॉ. विवेक कुमार ने जिस तरह सामाजिक परिवर्तन से बसपा की भूमिका को चिन्हित किया है उससे मेरा लेखन कुछ और ही तरह से प्रभावित हुआ। उनके अभिनव उद्योग से प्रेरित होकर मैंने भी इस दिशा में एक तुच्छ प्रयास किया है। इस प्रयास को डॉ. कुमार ने इस पुस्तक की भूमिका में जिस रूप में रेखांकित किया है वह मेरे पत्रकारीय जीवन का एक दुर्लभ पुरस्कार है। सर्व भारतीय स्तर पर बी.एस.पी. की राजनीति के एक विशेषज्ञ टिप्पणिकार के रूप में मान्य डॉ. कुमार ने भूमिका लिखकर जिस तरह इस पुस्तक को गरिमा प्रदान किया है, उसके लिए चिरआभारी रहूंगा।

बौद्धिक जगत से इतर भी कई ऐसे दुर्लभ व्यक्ति मिले, जिन्होंने अपनी जानकारियों और अनुभवों से मुझे काफी समृद्ध किया। ऐसे लोगों में पहला नाम दिवंगत जी.आर. खन्ना का

है। खन्ना साहब ही वह व्यक्ति थे, जिन्होंने 80 के दशक में लखनऊ में कांशीराम के 'बामसेफ' की शाखा खोलकर बी.एस.पी. के लिए जमीन तैयार किया। उनसे मेरी पहली मुलाकात 1990 में हुई थी। उन दिनों मैं कोलकाता में रह रहा था, जहां आंबेडकरवाद की हल्की-हल्की बयार बहनी शुरू हो गई थी और मैं क्रिकेट, फिल्म और आध्यात्म की दुनियां से बाहर कदम रखना शुरू कर दिया था। तब लेखन जगत से मेरा दूर-दूर तक कोई संपर्क नहीं था। हां, एक नाटकीय घटना के मध्य डॉ. आंबेडकर पर टी.वी. सिरीयल बनाने का निर्णय ले चुका था। इसी सिलसिले में बड़े भाई साहब रमाकांत जी से सलाह मश्विरा करने लखनऊ आया था और उन्होंने मुझे खन्ना साहब से मिलवा दिया। उस यात्रा के दौरान उनसे मेरी दो या तीन मुलाकातें हुई थीं। इन मुलाकातों में उन्हें हर बार जिस तरह दलित कर्मचारियों से जिनमें कई अधिकारी भी रहते थे, घिरा पाया और जिस तरह लोगों को उनका इंस्ट्रक्सन शिरोधार्य करते देखा वह मेरे जीवन का एक अभूतपूर्व अनुभव था। खन्ना साहब से घिरे लोगों को देखकर ऐसा लगता था जैसे लखनऊ का शतप्रतिशत दलित कर्मचारी ही सामाजिक परिवर्तन के अभियान में जुटा है। जबकि ऐसा नहीं था, कुछ प्रतिशत कर्मचारी ही जुड़े थे, पर जो जुड़े थे वे खन्ना साहब को दूसरा कांशीराम मानकर आदर देते नजर आए।

लखनऊ में दलित कर्मचारियों के भरमार का मतलब था उत्तर प्रदेश के दलितों का बौद्धिक व धन बल से समृद्ध तबका वहां वास कर रहा था। ऐसे लोग आमोद-प्रमोद छोड़ कर एक सामाजिक बदलाव की जुनून में खन्ना साहब के साथ खड़े थे। कांशीराम के पे बैक टु दी सोसाइटी का आह्वान मुझे पहले ही स्पर्श कर चुका था, पर शिद्दत के साथ वह भावना संचारित हुई खन्ना साहब और उनके साथियों से मिलकर। 1990 के बाद उन से मेरी दूसरी मुलाकात 2001 में हुई, जो परवर्ती चरणों में घनिष्ठता में तब्दील हो गई एवं जो उनके मृत्यु पर्यंत बनी रही। इसका कारण यह था कि अनिता-प्रशांत 2001 में उन्हीं मकान में रहने के लिए आ गए थे।

दिल्ली से जब भी बच्चों से मिलने लखनऊ जाता खन्ना साहब से बहुजन समाज की समस्याओं पर घंटों-घंटों चर्चा होती। इससे मुझे बामसेफ–डी.एस फोर और बी.एस.पी. के विषय में वह जानकारियां मिली जो ढेर सारी किताबें और पत्र-पत्रिकाएं पढ़कर भी नहीं जान पाता। उसी विराट बहुजन नायक के सौजन्य से और भी ढेरों पे बैक टु दी सोसाइटी के दिवानों के संसर्ग में आया, जिन्होंने बी.एस.पी. के लिए फिल्ड में काम करते हुए अपने अनुभवों से मुझे समृद्ध किया।

खन्ना साहब ने बहुजन समाज के लिए दलित कर्मचारियों को संगठित करने के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर किया ही था; इस समाज की असंख्य जातियां आपसी शत्रुता और घृणा का परित्याग का भ्रातृत्व भाव लिए विशाल बहुजन समाज में परिणत हों, इसके लिए एक भिन्न साहसिक कदम उठाया था। उन्होंने अपनी दत्तक पुत्री का विवाह बहुजन समाज की ही एक दूसरी जाति के परिवार में किया था। विजातिय विवाह का यह कोई वैसा आम दृष्टांत नहीं था, जिसमें दो भिन्न जातियों के लड़के-लड़की प्रेम के हाथों मजबूर होकर शादी का फैसला करते हैं और अभिभावक विवश होकर अपने समर्थन की मोहर लगा देते हैं। खन्ना साहब ने दूरगामी परिणाम को ध्यान में रखकर इच्छाकृत रूप से गैर-जाति के एक

अभिभावक को इसमें सहयोगे करने के लिए प्रेरित किया था। लड़के-लड़की ने मात्र अपने अभिभावकों का अनुसरण किया था। उनका यह कदम उनके असंख्य अनुंगामियों में कईयों को बहुजन समाज के निर्माण के लिए विजातीय विवाह का निर्णय लेने के लिए प्रेरित किया था। इन्हीं में एक थे चौधरी दंपत्ति

चौधरी दंपत्ति अर्थात एस.आर. चौधरी और शान्ति चौधरी लखनऊ में बामसेफ की स्थापना के बिल्कुल शुरूआती दौर से ही खन्ना साहब के साथ तन-मन-धन से जुट गए थे। नौकरी के बाद इनका सारा ध्यान-ज्ञान बहुजन समाज का निर्माण था। ये बहुजन मूव्हमेंट से स्वयं जुड़े और अपने आत्मीय स्वजनों का जोड़े। इन्हीं की प्रेरणा से मेरी बहू अनिता के मामा विजय बाबू इस आंदोलन से जुड़कर एकाधिक बार बाराबंकी के जिलाध्यक्ष बने और आज भी बने हुए हैं। खन्ना साहब ने जब विजातीय विवाह का दृष्टांत स्थापित किया, तब चौधरी दंपत्ति ने भी भविष्य में वैसा कुछ करने का फैसला किया। उधर 1997 में जब बहुजन समाज के निर्माण में कुछ योगदान करने के लिए *'आदि भारत मुक्ति : बहुजन समाज'* के लेखन में हाथ लगाया, तब धीरे-धीरे मुझमें भी यह भावना विकसित होने लगी कि बिना विजातीय विवाह को अमली रूप दिए, मोटे-मोटे ग्रंथ लिखना बेकार है। इसीलिए जब प्रशांत की उम्र शादी के लायक हो गई और बिरादरी से एक-एक कर प्रस्ताव आने लगे, उन प्रस्तावों को ठुकराने के सिवाय मेरे समक्ष कोई उपाय नहीं था। इसी बीच जीवन यात्रा के एक मोड़ पर चौधरी दंपत्ति से मेरी मुलाकात हुई, जिसकी परिणति अनिता-प्रशांत के चट-मंगनी, पट ब्याह में हुई। अनिता-प्रशांत की शादी में ही एक दशक के बाद चौधरी दंपत्ति के माध्यम से दुबारा खन्ना साहब से मुलाकात हुई। प्रशान्त की शादी के बाद चौधरीजी के माध्यम से खन्ना साहब और बसपा के जिलाध्यक्ष विजय बाबू ही नहीं के.एल. जाटव, डॉ. पी.एल. आदर्श, कंचन राम, सरदार सौदागर सिंह, केशव राम जैसे कई बहुजन संग्रामियों के निकटता जय करने का अवसर पाया। जिन दिनों में कला और संस्कृति की पोषिका बंग भूमि में रह कर क्रिकेटर जी.आर. विश्वनाथ और अभिनय सम्राट दिलिप कुमार को भगवान का अवतार मान कर घंटों फिल्म और क्रिकेट चर्चा में व्यस्त रहता; अपने पसंदीदे लेखक विमल मित्र के *'खरीदी कौड़ियों के मोल'* के नायक दीपंकर सेन के रूप में खुद को ढालने और किसी अन्जानी सती और लक्ष्मी दी के दुखों के मोचन की कल्पना में डूबा रहता; राम की कृपालाभ के लिए रामदास काठिया बाबा, श्यामाचरण लाहिड़ी, निगमानंद सरस्वती, भोलानाथ गिरी इत्यादि संत नायकों जैसी उत्कट भक्ति के अनुशीलन में व्यस्त था; उन दिनों ये बहुजन संग्रामी खन्ना साहब के नेतृत्व में फुले, पेरियार, आंबेडकर और कांशीराम के सपनों के भारत निर्माण के लिए अपने जीवन के सुखों की बलि चढ़ा रहे थे। इनकी आंखों में तैरता समाज परिवर्तन का सपना मुझे बताता, क्या है बी.एस.पी. ! इन लोगों की निकटता मुझे बराबर मेरी तुच्छता का एहसास कराती रही। फिल्म, क्रिकेट और आध्यात्म की दुनिया को जीवन का कीमती वक्त देकर अपने समाज के प्रति जिस दायित्वहीनता का परिचय दिया था, उसकी क्षतिपूर्ति के लिए मैं शायद उतना तत्पर नहीं होता यदि इनका सान्निध्य लाभ नहीं किया होता।

खन्ना साहब के द्वारा ही सामाजिक परिवर्तन के एक और अप्रतिम योद्धा, प्रभुलाल पासवान की निकटता मिली। हालांकि परिवर्तन का जो रास्ता आंबेडकर, फुले, पेरियार और कांशीराम ने बताया है, उससे प्रभुलालजी की पूरी सहमति नहीं है, लेकिन उच्च पदस्थ अधिकारी बनने की संभावना को लात मर जिस तरह उन्होंने अभावों को गले लगाते हुए शोषित समाज के लिए खुद को पूर्णकालिक तौर पर समर्पित किया उसकी झलक किसी औपन्यासिक नायक के जीवन में भी मिलना दुर्लभ है। समाजिक बदलाव के स्वनिर्मित फार्मूलों से लैस प्रभुलाल जी का जीवन समाज परिवर्तनकामियों को किसी भी सीमा तक त्याग करने की प्रेरणा देता है। मैं भी उनसे प्रचुर मात्रा में लाभान्वित हुआ। अब वे मेरे हृदय में एक महानायक के रूप में अपना स्थान बना चुके हैं। खन्ना साहब ने लखनऊ के जिन दलित कर्मचारियों को सामाजिक बदलाव के काम में जुटने के लिए प्रेरित किया था, उनमें अधिकांश का संपर्क गांवों से था, जहां के स्थानीय दलितों पर इन कर्मचारियों का प्रभाव था। लखनऊ ही नहीं उत्तर प्रदेश के दूसरे शहरों व कस्बों में फैले दलित कर्मचारियों के माध्यम से ही बसपा का आंदोलन गांवों तक पहुंचा। परवर्तीकाल में कांशीराम और मायावती के प्रेरक नेतृत्व के आकर्षण से करोड़ों ग्रामीणों ने हाथी पर मोहर लगाया।

खन्ना साहब के अतिरिक्त महाराष्ट्र के डी.के. खापर्डे, वामन मेश्राम जैसे असाधारण बहुजन नायकों की निकटता पाकर सामाजिक परिवर्तन की कर्मसूचियों को जाना और उस पर बी.एस.पी. को परखा तो परिवर्तन की एक उम्मीद दिखी। विरेन्द्र कुमार बिहार के एक ऐसे दलित अधिकारी हैं, जिनका सानिंध्य पाकर और गहराई से जाना, क्या होती है पे बैक टु दी सोसाइटी की भावना। इन महान बहुजन संग्रामियों से पढ़ा सामाजिक परिवर्तन का पाठ ही इस पुस्तक में संग्रहित लेखों में प्रतिबिंबित हुआ है। उनके इस अवदान के लिए आभार के कुछ शब्द-निश्चय ही पर्याप्त नहीं होंगे। सामाजिक परिवर्तन में इनके संघर्षों के निचोड़ को पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने के लिए एक और बहुजन संग्रामी शान्ति स्वरूप बौद्ध ने जो उद्योग लिया है, उसके लिए सदैव आभारी रहूंगा। आभारी रहूंगा ज्ञानेन्द्र रावत का जिन्होंने इस पुस्तक के संपादन में अपनी भारी ऊर्जा क्षरित की है।

अंत में। प्रसिद्ध स्तम्भकार चंद्रभान प्रसाद, पूर्व केन्द्रीय मत्री डॉ. संजय पासवान, आर. माझी, आर.पी. भारती, एन. प्रसाद, संजीत शामल, लालबाबू साव, पंचम कुमार, शिवचरण नोनिया, रतन साव, डॉ. शमीम अख्तर, केशवानंद चतुर्वेदी और नारायण दूबे जैसे शुभेच्छक मित्रों एवं दलित लेखक संघ के लेखक साथियों के प्रति अशेष आभार प्रकट करता हूं, जिनके सहयोग और उत्साहबर्द्धन के बिना मेरी कलम ही स्तब्ध हो जाती। वे इस रचना के समान रूप से अधिकारी है। अनिता-प्रशांत, बाबूजी और अपनी जीवन संगिनी मेवाती देवी के विषय में क्या कहूं, जिन्होंने मुझ जैसे सांसारिक दायित्व से निर्लिप्त व्यक्ति को सहर्ष झेलते हुए अपने कंधे पर घर-गृहस्थी का बोझ उठाते हुए, लेखन में मेरी एकाग्रता को अटूट रखा है।

-एच.एल. दुसाध

प्रकाशकीय

दलित पत्रकारिता के क्षेत्र में एच.एल. दुसाध जी जैसे जीवट के लोग विरले ही मिलेंगे। एक-एक करके दलितों से जुड़ी समस्याओं को निर्भीकता के साथ उठाने वाले दुसाध जी कभी आगा-पीछा नहीं देखते हैं, अर्थात् रणक्षेत्र में जूझ रहे योद्धा की भांति सदा अपने मारक विचारों की बौछार करते ही रहते हैं। मुझे याद नहीं आता कि मनुवाद और मनुवादियों की कुटिल नीतियों पर दुसाध जी से अधिक वज्र प्रहार किसी ओर ने किया हो। बहुजनों की हिमायत में किसी से भी टकरा जाने की हिम्मत दुसाध जी में ही देखने को मिल सकती है।

बी.एस.पी. कुछ लोगों के लिए केवल राजनीति का ही माध्यम हो सकती है ऐसे लोगों ने बी.एस.पी. से अपनी हित सधता न देखकर इस पार्टी से दूरी बनाकर रखना ही श्रेयकर समझा। ऐसी निराशा जनक स्थिति ने सर्वप्रथम दुसाध जी को ही उद्वेलित किया और वे पूर्ण निष्ठा और प्रतिबद्धता के साथ बी.एस.पी. के ध्वजवाहक के रूप में प्रकट होते हैं। आज का यह खरा सत्य है कि जहां बहुजनों और बहुजन समाज पार्टी की पत्रकारिता के संबंध में चर्चा छिड़ती है, तो दुसाध जी का नाम स्वतः ही सभी की जबान पर आ जाता है। मैं इस बात को उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि अथवा कमाई मानता हूं। आज हम पाते हैं कि दलित और बहुजनों से जुड़ी पत्रकारिता के साम्राज्य पर दुसाध जी का एकछत्र शासन स्थापित है।

कई बार दुसाध जी के लेख पढ़कर लगता है जैसे कि मेरे ही मन की बात उनके शब्दों में प्रकट हो गई है। 'दलित की पोशाक' लेख पढ़कर जाना कि मायावती की पोशाक भी मनुवादियों की आंख की फिटकिरी बनी हुई है। मेरे विचार में मायावती की पोशाक यदि मनुवादियों को आपत्तिजनक लगती है, तो मात्र इसलिए कि वे मनुवादियों के आदर्श पुरुष गांधीजी की भांति अंग प्रर्दशन नहीं करतीं। हमारा कहना है कि गांधी जी की पोशाक की शान में कसीदे पढ़ने वाले लोगों में यदि हिम्मत है, तो गांधीजी की लंगोटी वाली वेशभूषा वे अपनी महिला नेत्रियों को क्यों नहीं पहनाते। निश्चय रूप से यदि इनकी महिला नेत्रियां गांधीजी की वेशभूषा धारण करेंगी तो देश की आबरू ही लूटती नजर आएगी। अतः हमारा नम्र निवेदन है कि वे गांधी अथवा खजुराहो के मंदिर में स्थापित कामांध कामनियों की वेशभूषा के स्थान पर मायावती की पोशाक को ग्रहण करें। इस प्रकार अभद्र नग्न प्रदर्शन पर रोक के साथ-साथ देश में स्वच्छ एवं स्वस्थ वातावरण का निर्माण होगा।

डॉ. विवेक कुमार जी ने भूमिका लिखकर इस पुस्तक में चार चांद लगाने का कार्य किया है। मैं उनके प्रति हृदय से आभार व्यक्त करता हूं।

भवतु सब्बमंगलं।

–शांति स्वरूप बौद्ध

विषय सूची

1. भूमिका 5
2. लेखकीय–सामाजिक परिवर्तन के सूत्रों से लैस : कांशीरामवाद 13
3. प्रकाशकीय 32
4. विदेशों में मूलनिवासीवाद और भारत का बहुजन................................. 35
5. मुश्किल है जाति का विनाश... 42
6. बहुजन बने बिना मुश्किल है हिन्दू बर्बरता से लड़ना........................... 45
7. अस्पृश्यता का प्रतिकार.. 48
8. संगठित हुए बिना दुर्लभ है मानवाधिकारों का भोग 51
9. जाति उन्मूलन के लिए विजातीय विवाह 53
10. दलित विजातीय विवाह को आंदोलन का रूप दें................................ 57
11. जातीय अत्याचार के खिलाफ अंतरराष्ट्रीय सहयोग की गुहार 61
12. ओलंपिक की कसौटी पर भारत.. 64
13. खिलाड़ियों की महत्वाकांक्षा में बाधक जाति 66
14. खेलों में आरक्षण खेल नहीं.. 70
15. चैनलों से बाहर दलित 74
16. फिल्मों में उपेक्षित आंबेडकर 76
17. बॉलीवुड को कांशीराम की जरूरत है 81
18. बॉलीवुड अब क्या करे ?.. 88
19. आधुनिक भारत के शिलान्यासी : दुसाध 91
20. हिन्दू प्रचारतंत्र में बहुजन समाज 97
21. मीडिया में बीएसपी की संघ विरोधी भूमिका की अनदेखी 103
22. पे बैक टू दी सोसाइटी 125
23. राजनैतिक आरक्षण नहीं पूना-पैक्ट खत्म हो 126
24. संविधान समीक्षा पर राष्ट्रपति 128
25. कांशीराम का परिवर्तनवादी सूत्र... 133
26. ब्राह्मण आतंकवाद से सावधान.. 146
27. ब्राह्मणवाद के दास : कायस्थ.. 148
28. क्षत्रिय आतंकवाद की शिकार : फूलन 151
29. दलितों का भावान्तरण 153
30. दलित लक्ष्मण की रामभक्ति 155

31. इस्तेमाल होने के बाद, आई समाज की याद 158
32. बहुजन एकता के ध्वंस का कार्ड 160
33. राजनाथ सिंह की रणनीति के तार... 163
34. सामाजिक अन्याय का मूल 168
35. सामाजिक-न्याय से भाजपा का पलायन.. 174
36. मुलायम की रणनीति... 176
37. जाति बनी सवर्णों की समस्या 183
38. बाबा साहेब का अधूरा सपना पूरा करने के लिए :
कांशीराम की रणनीति 186
39. बीएसपी के जाति कार्ड का खौफ़ 191
40. जाति चेतना के राजनीतिकरण के पीछे 194
41. दलित आंदोलन की दशा और दिशा 197
42. भागीदारी का बसपाई दर्शन 200
43. मायावती की दुविधा 203
44. राजाशाही पर लोकशाही का कहर 207
45. मायावती को मुलायम का आभारी होना चाहिए................................. 210
46. धर्मनिरपेक्षतावादियों के निशाने पर भाजपा या बसपा ? 213
47. ब्राह्मणवाद के यम : पेरियार 219
48. सामाजिक क्रान्ति के पितामह : महात्मा फुले 225
49. आंबेडकर स्मारक : राम-मंदिर का तोड़ 230
50. एक सांस्कृतिक आंदोलन का निधन-यज्ञ.. 236
51. डॉ. आंबेडकर : राष्ट्रीय आंदोलन के खलनायक या नायक?............ 239
52. हिन्दुत्व का दर्शन सिर्फ ब्राह्मणों के लिए : डॉ. आंबेडकर................. 244
53. हिन्दुराज के मुकाबले के लिए दलित-मुस्लिम एकता : आंबेडकर..... 247
54. बहुजनवाद के सूत्रकार : डा. आंबेडकर 252
55. क्यों होता है बसपा से पाला बदल 257
56. दलित की पोशाक 260
57. फील गुड की काट : बहुजनों की सर्वत्र भागेदारी 263
58. मायावती का बर्थ-डे केक... 266
59. मायाराज के खात्मे का जश्न 269
60. मायावती को अपनाए बिना मुश्किल है नारी-मुक्ति............................ 273
61. सामाजिक परिवर्तन की कसौटी पर : पेरियारवाद 277
62. यदि कांशीराम न होते? 289

विदेशों में मूलनिवासीवाद और भारत का बहुजन

नई सहस्राब्दी के प्रारम्भिक वर्ष के अप्रैल के तीसरे सप्ताह से लेकर मई के तीसरे सप्ताह के मध्य तक जिम्बाब्वे में जहां विदेशी मूल के गोरों की जमीनों पर वहां के मूल निवासी कालों द्वारा जबरन दखल जमाने की घटनाएं हुईं, वहीं फिजी के मूल निवासियों ने गणतांत्रिक पद्धति द्वारा सत्तासीन हुए महेन्द्र चौधरी को सत्ता से बेदखल कर दिया। इन दोनों देशों में, विशेषकर फिजी में लोकतंत्र की उपेक्षा कर, पेशी संचालन का सहारा लिया गया। ये घटनाएं लोकतंत्रप्रेमियों के लिए जितनी भी व्यथा का कारण हों वर्षों से शोषित-शासित मूलनिवासियों के अधिकारों की हिमायतियों के लिए बहुत उत्साहवर्द्धक हैं।

आने वाले दिनों में विश्व इतिहास को प्रभावित करने में सक्षम इन घटनाओं के विश्लेषण का जहां तक प्रश्न है, वह भारत के बुद्धिजीवियों द्वारा गहराई से नहीं किया गया, जबकि उसकी घोरतर आवश्यकता थी। कारण, जिम्बाब्वे और फिजी की राजनैतिक व सामाजिक परिस्थितियों और भारत में एक भारी साम्यता है। विशेषकर फिजी की घटनाओं का तो भारत से सीधा संपर्क है क्योंकि वहां के मूल निवासियों का लक्ष्य बने लोग भारतीय मूल के हैं। जिम्बाब्वे में जिस तरह विदेशी मूल के मुट्ठी भर लोगों के पास 70% भू-स्वामित्व है, उससे भिन्न चित्र भारत का नहीं है। भारत के विदेशी मूल के आर्य न सिर्फ जिम्बाब्वे के गोरों की भांति भू-स्वामी हैं बल्कि वर्षों से सत्ता की चाबी भी उन्हीं के हाथों में हैं। यही नहीं राष्ट्र की समग्र आय के 80-90 प्रतिशत स्रोतों पर उनका ही एकाधिकार है। यह बात और है कि कल तक अपने विदेशी मूल के आर्य श्रेष्ठत्व पर गर्व करने वाली शासक गोष्ठी, आज अपनी छवि मूलनिवासी के रूप में प्रचारित करने के लिए सचेष्ट है। किन्तु ये विदेशी हैं, यह तथ्य नृतात्विक पुरातात्विक व साहित्यिक साक्ष्यों से तो प्रमाणित है ही 85% मूल भारतीय लोगों के प्रति ममत्व व समत्वरहित अमानवीय व्यवहार इनके विदेशी होने का सबसे बड़ा प्रमाण है। मूल भारतीयों के प्रति यहां की शासक गोष्ठी के निर्मम व्यवहार की तुलना सिर्फ दक्षिण अफ्रीका के मूलनिवासी अश्वेतों के प्रति विदेशी मूल के गोरों के आचरण से ही की जा सकती है। दक्षिण अफ्रीका में मूलनिवासियों के प्रति क्रूरता को जहां बंदूक की नाल पर पुष्ट कानून द्वारा अंजाम दिया गया, वहीं भारत में यह कार्य सदियों से क्षत्रियों के तलवारों के साये में संरक्षित हिन्दू शास्त्रों के विधानों को रूपायित करवा कर किया गया है। उभय देशों में अंजाम दिए गए इन अमानवीय कृत्यों के पृष्ठ में, विजयी और विजित जातियों के अवस्थानजन्य कारण रहे। शायद भारत में इस अवस्थान को दृष्टिगत रखकर ही डॉ. आंबेडकर को कहना पड़ा था- *व्यक्ति से व्यक्ति की नहीं, सवर्ण से दलित की मुलाकात ऐसे होती है जैसे एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से मिलता है।* वास्तव में इस देश में आर्य-अनार्य का मिलन दो राष्ट्रों के मिलन के दृश्य की ही

अवतारणा करता है। विजयी आर्य दाम्भिक उपेक्षा लिए दर्प से सिर ऊंचा करके मिलता है तो विजीत अनार्य नतमस्तक, वश्यता लिए। इस देश की आर्थिक संरचना अगर अर्द्ध सामन्तवादी या अर्द्धपूंजीवादी है तो ये विदेशी मूल के आर्य ही भारत की सामन्तशाही या बुर्जुवा श्रेणी हैं, जिनके द्वारा देश में संपूर्ण आर्थिक और सामाजिक वैषम्य सृष्ट है।

जिन देशों की परिस्थितियों में भारत से इतनी साम्यता है, विश्व की निद्रा भंग करने वाली उन उभय देशों की घटनाओं का गहराई से विश्लेषण करने की बजाय, सदा की तरह भारत के बुद्धिजीवी एक बार फिर दूरगामी घटनाओं पर, सतही हाय-तौबा मचा कर रह गए। जबकि जिम्बाब्वे की घटनाओं ने तो भूमि के समान वितरण के हिमायती मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों के लिए, भूमि वितरण के मुद्दे पर व्यापक बहस का, एक स्वर्णिम अवसर सुलभ कराया था। परंतु वे इस दिशा में अग्रसर नहीं हुए, शायद इच्छाकृत रूप से ही। यहां के मुख्यधारा के बुद्धिजीवियों को, जो मुख्यतया आर्य गोष्ठी से हैं, इन घटनाओं में एक लम्पट राष्ट्रवाद का उदय और लोकतंत्र की हत्या तो नजर आई, पर मूल निवासियों की अपने देश की सत्ता और प्राकृतिक संसाधनों पर स्व-स्वामित्व की उत्कट चाह नजर नहीं आई। फिजी के जार्ज स्पेट और उनके साथियों को गुंडा करार देते समय इन्हें एक बार भी डॉ. लोहिया की सतर्क वाणी की याद नहीं आई कि जिन्दा कौमें पांच साल तक इंतजार नहीं करतीं। अपनी मातृभूमि के सम्मान के लिए संघर्षरत लोगों को गुंडा, आतंकी करार देना शासक जातियों के चरित्र का अंग रहा है। भारत की स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत लोगों को ही कब अंग्रेजों ने देशभक्त कहा था!

इस देश की प्रिंट व इलैक्ट्रॉनिक मीडिया सहित राष्ट्र के विचारों का निर्माण करने वाले समस्त स्रोतों के एकाधिकारी, मुख्यधारा की मनीषा की यह विराट ट्रेजडी रही कि वह इच्छाकृत रूप से किसी भी मानवीय समस्या की जड़ में जाना नहीं चाहती। जैसे पिछले दिनों उ.प्र. के महोबा जिले के सतरपुवा में सती बनी चरणशाह के सतीदाह की घटना को बहुतेरे तरीके से धिक्कृत करने के बावजूद किसी ने भी उस घटना के मूल में क्रियाशील, हिन्दू धर्म शास्त्रों और ईश्वर की तरफ अगुंली नहीं उठाई। उसी तरह 'फायर' फिल्म के विरुद्ध राष्ट्रवादियों के रोषानल में इन्हें मात्र अभिव्यक्ति की स्वाधीनता पर संकट ही दिखाई पड़ा। जबकि उक्त फिल्म के विरोध के पृष्ठ में जो मनोवैज्ञानिक कारण क्रियाशील था वह यह कि हिन्दू उर्फ आर्य मूल के लोगों में, अपने अतीत के कुत्सित व बर्बर रूप को साक्षात् करने का साहस नहीं है। हिन्दू-धर्म-संस्कृति का कुत्सित रूप उजागर करने वाली विधवा-प्रथा तो पहली व शेष प्रथा नहीं है। इसलिए *वाटर* फिल्म का निर्माण रोकना राष्ट्रवादियों की विवशता थी। अन्यथा अच्छी कहानियों के कंगाल भारतीय फिल्म निर्माता, *वाटर* से उत्साहित होकर कल कन्या वध, नर-वध, गंगा-प्रवाह, काशी-करवट, सती-प्रथा इत्यादि सहित हिन्दू-धर्म के उत्स से सृष्ट अनगिनत अमानवीय कुसंस्कारों और कुप्रथाओं पर फिल्में बनाने का क्रम शुरू कर देते। इससे उस हिन्दू-धर्म का भयंकर रूप ही जन साधारण के समक्ष उजागर हो जाता जिस हिन्दू-धर्म की बुनियाद पर राष्ट्रवाद का तोरण विकसित किया जा रहा है।

सच तो यह है कि उपरी तौर पर राष्ट्रवादियों की भर्त्सना करने वाले मुख्यधारा के

अधिकांश कलमधारी प्रछन्न राष्ट्रवादी हैं। इसलिये ही उन्होंने अपने संपादकीयों में, फिजी के भारतीय मूल के लोगों को कायर कहकर, उन्हें मूल निवासियों के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए ललकारा है। न सिर्फ हिन्दू मीडिया ने मूलनिवासीवाद की लपेट आए भारतीय मूल के प्रवासी भारतीयों को ललकारा बल्कि राष्ट्रवादियों के नेतृत्व में चलने वाली सरकार के नेतृत्व केन्द्र को भी फिजी में उठे मूलनिवासीवाद को रोकने के लिए उकसाया। किन्तु राष्ट्रवादी नेतृत्व ने मुख्यधारा के कलमधारियों के बार-बार कोंचने से तिलमिला कर, न तो फिजी के मूलनिवासीवाद के विरुद्ध राष्ट्रसंघ में अपील की और न ही भारतीय मूल के फिजीवासियों की रक्षा के लिए, सुरक्षा परिषद् के द्वारस्थ हुई। महान राष्ट्रवादी प्रधानमंत्री वाजपेयी की सरकारप्राय: चुप्पी साध ली। वाजपेयी सरकार की यह चुप्पी भोले भाले मुख्यधारा के बुद्धिजीवियों के लिए समझ से परे की बात लगी। जबकि वाजपेयी सरकार की इस मुद्दे पर चुप्पी के कारण शीशे की तरह साफ हैं। उन्हें देखने के लिए किसी चश्मे की जरूरत है ?

दरअसल वाजपेयी और उनके साथियो ने मूल भारतीय अनार्यो की ही क्रांतिकारी धर्मान्तरित संतानों के विरुद्ध *बाबर की संतानों का अरमान मिटाकर छोड़ेंगे* का नारा विघोषित करते हुए, बाबरी मस्जिद के ध्वंस से लेकर गत आम चुनाव तक सोनिया गांधी के विरुद्ध 'विदेशी मूल' का मुद्दा उठाकर, एक दशक की मशक्कत के बाद राष्ट्रवाद के रथ पर सवार होकर जिस तरह केन्द्र की सत्ता पर कब्जा किया, वही कार्य फिजी में स्पेट और उनके साथियों ने एक नाटकीय घटना के मध्य कर डाला है। वर्षों से परोक्ष व प्रत्यक्ष रूप से 'विदेशी मूल' के मुद्दे को ही उठाकर सत्ता में पहुंचे वाजपेयी और उनके साथी अब कैसे इतने निर्लज्ज हो जाए कि फिजी में उठे 'विदेशी मूल' के मुद्दे के विरुद्ध, विश्व दरबार में अपील करें ? लिहाजा चुप रहना उनकी विवशता है। वाजपेयी और उनके साथियों से जार्ज स्पेट के साथियों के कृत्य में मौलिक अंतर जरूर है पर, विदेशी मूल का मुद्दा और राष्ट्रवाद का बवंडर उठा कर सत्ता पर कब्जा जमाना दोनों का ही उद्देश्य रहा है। यह कार्य वाजपेयी एंड कंपनी ने जहां एक दशक के परिश्रम के बाद बैलेट के माध्यम से किया है वहीं स्पेट ने अल्पकाल में बुलेट के सहारे। हां, सोनिया गांधी के मामले में जहां भारत के राष्ट्रवादियों ने उनकी संतानों को 'विदेशी मूल' की परिधि से बाहर रखा है वैसी कोई रियायत स्पेट और उनके साथियों ने नहीं दी है। विदेशी मूल का उनका मापदंड यह है कि जिनके पुरखे उस देश में नहीं जन्मे हैं, वे चाहे शताधिक वर्षों से वहां रह रहे हों, विदेशी ही हैं। सोनिया की संतानों को विदेशी मूल की सीमा से बाहर रखने से भिन्न भारत के राष्ट्रवादियों के समक्ष कोई विकल्प नहीं था। ऐसा नहीं करने पर अपने आर्य मूल के कारण, वे स्वयं विदेशी मूल की परिधि में आ जाते। किन्तु स्पेट के फार्मूले में सहस्रों वर्षों से इस देश में वास करने के बावजूद वे विदेशी मूल के ही कहलाएंगे। स्पेट और उनके साथियों से भारत के राष्ट्रवादियों के विदेशी मूल की विजय में एक और विचित्र मेल है। जिस तरह भारत में 'विदेशी मूल' के मुद्दे पर सत्ता का मार्ग प्रशस्त करने वाले आडवाणी प्रधानमंत्री नहीं बन पाए वैसा ही स्पेट के साथ हुआ। लेकिन आडवाणी और स्पेट का भविष्य संभावनाशून्य नहीं है।

उपरोक्त साम्यताओं को दृष्टिगत रखकर कइयों के मन में प्रश्न उठ सकता है कि क्या स्पेट और उनके साथियों ने वाजपेयी एंड कंपनी का ही फार्मूला, भारतीय मूल के फिजीवासियों के विरुद्ध प्रयोग किया है ? नहीं! मेरे विचार से ऐसा सोचना समग्र विश्व को अपनी चपेट में लेने के लिए, ईशान कोण से उठते मूलनिवासीवाद के तूफान से आंखें चुराना होगा। जिम्बाब्वे में उठा बवंडर, फिजी में हल्की-फुल्की आंधी का रूप धारण कर, कल तूफान बनने जा रहा है। जिसकी चपेट में आज नहीं तो कल भारत को तो आना ही है। अमेरिका जैसे देश भी सुरक्षित रह पाएंगे। इसे समझने के लिए विगत शताब्दी के शेष दशक के प्रथमार्द्ध की ओर रुख करना पड़ेगा; जब संयुक्त राज्य अमेरिका में भारत की स्वाधीनता की 50वीं वर्षगांठ जैसा एक जश्न का आयोजन हुआ था।

जो अमेरिका विभिन्न नस्लों व विभिन्न देशों के निवासियों का आदर्श *सहावस्थान* बना हुआ है; जो अमेरिका भारत के मेरिटवालों का स्वप्नलोक है; जिस अमेरिका के हाथों में वैश्वीकरण का रिमोट कंट्रोल है; जिस अमेरिका के स्काइ स्क्रैपर पर भवन शेष विश्व की ईर्ष्या वस्तु है, उसकी बुनियाद वहां के मूल निवासियों के हकों की एक-एक ईंट के ऊपर विकसित हुई है। अमेरिका जिस रूप में आज है शायद उस रूप में विकसित नहीं हो पाता, यदि स्पेन के फर्डिनेण्ड और आइजाबेला के आर्थिक सहयोग से पुष्ट होकर, तीन नावों और अट्ठासी सहयोगियों की मदद से, उनसठ दिन की अक्लान्त समुद्र यात्रा के बाद, सन् 1492 में, क्रिस्टोफर कोलंबस ने अमेरिका की दुनिया को न खोज निकाला होता। सुख समृद्धि के प्राचुर्य के उपभोग में डूबी अमेरिकी जनता ने कोलंबस के अविस्मरणीय अवदान को कभी विस्मृत नहीं किया। लिहाजा कोलंबस द्वारा अमेरिका की दुनिया के खोज के 500 वर्ष पूर्ति के उपलक्ष्य में जबरदस्त जश्न का आयोजन हुआ। किन्तु एक संस्था द्वारा इन आयोजनों के विरुद्ध बहिष्कार की ध्वनि भी गुंजित की गई। अमेरिकी जनता के उल्लासों के मध्य भी उस 'बहिष्कार' ध्वनि का गुंजन शेष विश्व तक पहुंचा था। किन्तु उसकी तीव्रता भारत में कम ही महसूस हुई, यह तथ्य मीडिया की तत्कालीन रवैये से जाना जा सकता है। कोलंबस की स्मृति में आयोजित इन समारोहों का बहिष्कार करने वालों का कहना था कि *अमेरिका के अमेरिकी, अमेरिका के मूलनिवासी नहीं हैं; अमेरिका के मूल निवासी अभी भी दोयम दर्जे की जिन्दगी जी रहे हैं; अमेरिका पर अमेरिका के मूलनिवासियों को वर्चस्व होना चाहिए।* यह सत्य कौन नहीं जानता कि अमेरिका के अमेरिकी जर्मन, स्कैंडनेवी, आयरिश, इटालवी, यहूदी, पोल, ब्रिटिश, भारत, पाकिस्तान, चीन वगैरह असंख्य देशों के मूल के हैं। खैर, अमेरिका के मूलनिवासियों के लिए संघर्षरत वह संगठन, आज की तारीख में अमेरिकनों के समक्ष कोई चुनौती खड़ा नहीं कर पाया है, पर, भविष्य के लिए अपने इरादे साफ कर चुका है। इस संस्था के सोच के दायरे में सिर्फ अमेरिका ही नहीं बल्कि विश्व के हर वे देश हैं जहां के मूल निवासी उपेक्षित जीवन जीने के लिए विवश हैं। जाहिर है भारत भी होगा। मानवतावाद की दुनिया में नया अध्याय जोड़ने पर आमादा इस संस्था के मूल में है रिगोबेर्तो मेन्चू।

लैटिन अमेरिका के ग्वाटेमाला के एक कबीले के सरदार की पुत्री रिगो बेर्तो मेन्चू, विदेशी मूल के निर्मम शासन के हाथों अपने मां-बाप और भाइयों की मृत्यु देखने के उपरान्त उनके अन्याय-अविचार के विरुद्ध इतना तीव्र संघर्ष किया कि उन्हें पिछली सदी के शेष दशक में नोबल पुरस्कार विजयिनी का मुकुट पहना दिया गया। मेन्चू ने अपने नोबल पुरस्कार से प्राप्त सारी धनराशि एक ऐसी संस्था के निर्माण में लगा दिया जिसका लक्ष्य है *जो जहां के मूल निवासी हैं, वहां उनका वर्चस्व कायम हो।* म्यांमार की नोबल पुरस्कार विजयिनी आन सांग सूकी की तरह ही तीन शब्दों से युक्त नामो वाली रिगो बेर्तो मेन्चू, प्रायः उनकी ही समकालीन है। मैडोना, माइकल जैक्सन, माराडोना, दिवंगत लेडी डायना की ही भांति आन-सांग-सूकी भारत में एक बहुचर्चित विदेशी नाम हैं किन्तु मेन्चू नहीं। अब्राहम लिंकन, कार्ल मार्क्स, डॉ. आंबेडकर जैसों की श्रृंखला में मानवता के इतिहास में नये पृष्ठ जोड़ने जा रही, दुनिया के मूलनिवासियों की आशा और आकांक्षा की प्रतीक रिगो बेर्तो मेन्चू, आम भारतीयों के लिए अनजाना नाम क्यों है ? कौन सी अयोग्यता मेन्चू के साथ चस्पी हुई है कि भारत की मीडिया उन्हें उपेक्षित कर रखी है ? क्या यह महज संयोग है ? मुझे तो यह सुपरिकल्पित षडयन्त्र ही प्रतीत होता है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि मूलनिवासीवाद से भयाक्रान्त हिन्दू उर्फ आर्य मीडिया इच्छाकृत रूप से मेन्चू को प्रचारित करने से कतरा रही है ताकि यहा मूलनिवासीवाद तुंग पर न पहुंचे। मैंने अपने सद्यः प्रकाशित ग्रंथ *आदि भारत मुक्ति : बहुजन समाज* की भूमिका में लिखा है - *मानवता के परम सौभाग्य से दुनिया के मूल निवासियों के वर्चस्व को स्थापित करने की दिशा में रिगो बेर्तो मेन्चू बलिष्ठ पदाक्षेप कर रही हैं। 21वीं सदी शायद मेन्चूवाद की होगी।* मूल निवासियों द्वारा विदेशी मूल के लोगों की, जिम्बाब्वे में जमीनों और फिजी में सत्ता पर कब्जे से प्रतीत होता है कि मेन्चूवाद क्रियाशील है।

अब प्रश्न पैदा होता है कि जिम्बाब्वे और फिजी की घटनाएं, जहां की परिस्थितियों में भारत से काफी साम्यता है, क्या भारत के मूलनिवासियों को, जो यहां की जनसंख्या का 85% प्रतिनिधित्व करते हैं, उद्वेलित करेगी ? मेरा मानना है, नहीं! उसका प्रधान कारण यह है कि विदेशी मूल के जिस आर्य उपनिवेश के विरुद्ध मूल भारतीयों को आंदोलित होना है, उसका प्राण मूलतः जाति भेद व्यवस्था में स्पंदित हो रहा है और भारत की जाति व्यवस्था बौद्धोत्तर भारत में आज तक आंदोलन का बीज निर्जीव करने में काफी सक्षम रही है। मूल भारतीय अपने मसीहा डॉ. आंबेडकर की ललकार सुनकर भी, अगर शिक्षित और संगठित होकर आर्य उपनिवेश के विरुद्ध जमकर आंदोलित नहीं हो पाए तो उसका कारण यह जाति व्यवस्था ही है। वैसे तो विदेशी मूल के वैदिक आर्यो ने अपनी भावी संतानों को मानवीय अधिकारों से पुष्ट और संपूर्ण जागतिक सुखों से समृद्ध करने वाली जाति व्यवस्था को अटूट रखने के घृणित उद्देश्य से, मूल निवासियों के शिक्षालयों में प्रवेश निषेध की जो प्राचीर खड़ी कर रखी थी, उसे नवागत विदेशी अंग्रेज शासकों ने अपनी जन शिक्षा नीति के द्वारा ध्वस्त कर दिया, जिससे इनमें शिक्षा का विस्तार लाभ जारी है। किन्तु मूलनिवासी शिक्षित होकर भी अगर संगठित नहीं पाए तो उसका कारण जाति-विभाजन के मध्य क्रियाशील घृणा और वैमनस्य है, जो प्रसारक है भ्रातृत्वहीनता और विच्छिन्नता का। कई सहस्र जातियों में विभक्त भारत के

मूलनिवासी परस्पर घृणा और वैमनस्यता की प्राचीर अतिक्रम कर यदि भातृभाव लिये थोड़ा-बहुत संगठित भी हुए तो जाति व्यवस्था से पनपे दैवीय दासत्व के कारण संघर्ष की तीव्र भावना का उनमें विकास ही नहीं हो पाया।

वर्तमान प्रजन्म के विदेशी मूल के पूर्वजों द्वारा सृष्ट जाति-भेद व्यवस्था से उत्पन्न पारस्परिक घृणा, वैमनस्य, भ्रतृत्वहीनता और दैवीय दासत्व इत्यादि के बाधा-विघ्नों को अतिक्रम कर मूल निवासी यदि अपने वर्चस्व के लिए थोड़ा बहुत संगठित भी हुए हैं तो उनके समक्ष राष्ट्रवाद नामक एक नयी दीवार खड़ी कर दी गई है। विदेशी आर्यों के लिए, जातिवाद के टूटन से हुई क्षति की पूर्ति इस राष्ट्रवाद ने कर दी है। प्राय: पचास वर्ष के यत्नों से विकसित यह राष्ट्रवाद जहां मूल निवासियों को अपने धर्मान्तरित भाइयों से विच्छिन्न करने में प्रभावी साबित हो रहा है वहीं इन्हें हिन्दूवाद के साथ युक्त करने में विदेशी मूल के लोगों के लिए सहायक भी बन रहा है। यह राष्ट्रवाद व्यवस्था सुधार का जितना हिमायती है आमूल परिवर्तन का उतना ही बड़ा प्रतिरोधी है। अत: जातिवाद और राष्ट्रवाद की बाधाओं को पार कर भारत के मूलनिवासी फिजी, जिम्बाब्वे में सद्य: घटित घटनाओं की पुनरावृत्ति भारत में कर देंगे, ऐसी धारणा का पोषण उनके चरित्र को समझने वाले कभी नहीं करेंगे।

फिजी में जो कुछ घटित हुआ, वह क्रान्ति थी। क्रान्ति का नाम ही तो द्रुत परिवर्तन है। परिवर्तनशील समाज में कोई प्रयास करे या न करे। एक धीमा-धीमा परिवर्तन होता ही रहता है जिसे विवर्तन मूलक (Evolution) परिवर्तन करते हैं। वहीं द्रुत गति से प्रबल प्रतिरोध को परास्त कर, किसी चीज का जब आमूल परिवर्तन करते हैं तो वह क्रांतिकारी परिवर्तन कहलाता है। क्रांतिकारी परिवर्तन की पृष्ठभूमि में कोई विशेष घटना, कोई विशेष व्यक्ति या किसी गोष्ठी का उद्योग जड़ित रहता है। इसलिए क्रान्तियों से सम्पर्कित नाम मैजिनी-गैरीबाल्डी, लेनिन, माओ, चे गुयवेरा, जार्ज स्पेट जैसे होते हैं। ऐसे पराक्रमी पुरुष श्रेणी समाजों में ही जन्म लेते हैं, भारत जैसे जाति समाज में दैविक दासों से भिन्न लोगों का जन्म अपवाद स्वरूप ही होता है। इसीलिए मूलनिवासियों के विशाल भारत में विगत दो सहस्र वर्षों में फुले, पेरियार, आंबेडकर और कांशीराम जैसे गिने-चुने क्रांतिपुरुषों का ही दर्शन मिलता है।

यदि फिजी जैसी घटना की पुनरावृत्ति भारत में नहीं हो पाती है तो भी बहुत आसानी से मूल निवासियों के वर्चस्व को स्थापित किया जा सकता है। गणतान्त्रिक पद्धति से सत्ता हस्तगत करने की फिजी के मूल-निवासियों के समक्ष जो दिक्कतें थीं, वे भारत के मूल निवासियों के समक्ष नहीं हैं। फिजी के मूल निवासियों के समक्ष 44% भारतीय मूल के मतदाताओं की चुनौती जितनी कठिन है; भारत के 85% मूल निवासियों के लिए 15% विदेशी मूल के आर्यों की चुनौती कोई मायने ही नहीं रखती है। इन्हीं बहुसंख्यक मूल निवासियों के लिए ही बाबा साहेब ने सत्ता की चाबी बना रखी है। पर, अचरज के साथ हम देखते हैं कि वह चाबी विदेशी मूल के अल्पसंख्यकों द्वारा ही व्यवहार में लाई जा रही है।

वैसे विगत एक दशक से ज्यों-ज्यों आंबेडकरवाद का विस्तार होता जा रहा है, त्यों-त्यों

मूल निवासियों में पशुवत जीवन की अपेक्षा एक उन्नततर जीवन की ललक बढ़ती जा रही है। वीभत्स संतोष की जगह एक उग्र असंतोष पनप रहा है। फलत: कुछ लोगों में शासक बनने की तीव्र आकांक्षा बलवती हो रही है। वैसे यदि फिजी जैसा भारत में कुछ घटित हो जाय तो वह भी इनके हित में विशेष लाभजनक नहीं होगा। वह शासन क्षणिक ही होगा। जब तक भारतीय समाज व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन अर्थात् भारत समाज की जाति-व्यवस्थाधारित संरचना का विनाश नहीं होगा तब तक सत्ता पर कब्जा स्थायी नहीं होगा। मूल निवासियों में व्याप्त भ्रतृत्वहीनता विदेशी मूल के लोगों को सत्ता सुलभ कराती रहेगी। इसलिए सबसे आवश्यक है जातियों में व्यापत घृणा और वैमनस्यता की दीवारें तोड़कर उस पर भातृत्व का महल खड़ा किए जाएं। घूम फिर कर बात वहीं आ जाती है। जाति विनाश की दिशा में कोई क्रांतिकारी पहल हो।

भारत समाज विश्व का एक विरल व विचित्र समाज है जहां समाज के वैशिष्ट्य के अनुरूप ही लोगों का चरित्र भी विकसित हुआ है। इस जाति समाज में विश्व के श्रेणी समाजों के क्रांतिकारी फार्मूले के सफल होने की संभावना अत्यन्त न्यून है। इस अप्रिय सत्य से अवगत होने के कारण ही डॉ. आंबेडकर ने खूनी क्रांतियों द्वारा विश्व के अधिकाधिक देशों में आए सुखद परिवर्तनों से प्रलुब्ध होकर कभी खूनी क्रांति के लिए आह्वान नहीं किया। उनका कहना था *गुलाम को गुलामी का एहसास करा दो वह गुलामी की जंजीरें तोड़ देगा।* इतिहास साक्षी है, लंबे समय तक अंग्रेजी उपनिवेश की गुलामी झेलने के बाद, दासत्व के अभ्यस्त भारतीयों में, दासत्व से मुक्ति की अभिलाषा तभी पनपी, जब गांधी जी और उनके साथियों के सघन प्रयास से लोगों को अपने दासत्व का एहसास हुआ। बाबा साहेब की वाणी में आस्था रखकर, आजाद भारत में आर्य उपनिवेश के गुलाम मूल निवासियों में उनकी गुलामी का एहसास कराने की दिशा में विगत डेढ़ दशक से मा. कांशीराम, वामन मेश्राम, विभिन्न बहुजन संगठनों और बुद्धिजीवियों द्वारा प्रशंसनीय प्रयास किया जा रहा है। आवश्यकता बस इसमें द्रुतता और सघनता लाने की है।

मुश्किल है जाति का विनाश

प्रतिस्पर्धा की बुनियाद पर आधारित विश्वमय प्रसारित श्रेणी समाजों के पार्श्व में, घृणा, उपेक्षा और मानवाधिकारों के हरण पर विकसित भारतीय जाति समाज अपना प्रागैतिहासिक वैशिष्ट्य लिए, विश्व के एकमात्र विरल व विचित्र समाज के रूप में आज भी विद्यमान है। सहस्रों वर्ष पूर्व एक बर्बर नरगोष्ठी की स्वार्थ चेतना से रोपित वर्ण-भेद का पौधा परवर्तीकाल में अछूत-प्रथा, सती-प्रथा, विधवा-प्रथा व अन्यान्य कुप्रथाओं का रसायन पाकर अजर-अमर जाति वट-वृक्ष के रूप में विकसित हो उठा। यह जाति व्यवस्था ही भारतवर्ष की सहस्राधिक वर्षों तक पराधीनता एवं वर्तमान में भी देश-प्रेम, अर्थ, ज्ञान व भ्रातृत्वशून्यता का प्रधान कारण है।

बौद्ध भारत में मृत्यावस्था में पहुंची और बौद्धोत्तर काल में पुन: यौवन लाभ कर अप्रतिरोध्य बनी जाति व्यवस्था के ध्वंस का हिन्दू समाज द्वारा कभी बलिष्ठ प्रयास ही नहीं हुआ। इस व्यवस्था द्वारा मानवेतर बना मूल भारतीय बहुजन समाज अगर अपने दैविक-दासत्व के कारण इसके विनाश में अक्षम रहा तो श्रेष्ठत्व लाभ किया आर्य सम्प्रदाय अपनी उपनिवेशवादी स्वार्थ चेतना के कारण उदासीन। 19वीं सदी से विश्वमय मानवता की जय-जयकार एवं उपनिवेशों के ध्वंस के मध्य फादर विलियम केरी और उनके बन्धुओं की प्रेरणा से, कुछ हिन्दू महामानवों ने इस व्यवस्था के सहायक उपायों– सती-प्रथा, विधवा-प्रथा और थोड़ा बहुत अछूत-प्रथा –के उन्मूलन में अच्छी खासी ऊर्जा व्यय की। किन्तु वे अपनी जातिवादी मानसिकता और हिन्दू-धर्म के ध्वंस के भय से इसके मूलाधार पर आघात न कर सके। सिर से पांव तक भारत के जाति समाज का यथार्थ स्वरूप और उसकी समस्याएं देश के समाजशास्त्री, जो मुख्यतया आर्य गोष्ठी से रहे हैं, इच्छाकृत रूप से बताने से परहेज करते रहे। फलत: राष्ट्रहित में समर्पित देश की बौद्धिक उर्जा साम्यवाद, समाजवाद, गांधीवाद और राष्ट्रवाद में क्षरित होती रही, जातिवादी भारत समाज के रूप में कोई मौलिक परिवर्तन घटित नहीं कर सकी।

औरों का जिक्र करना कलम की स्याही की बरबादी है। भारत के समाजशास्त्रियों द्वारा भ्रान्त दिशा में परिचालित किए जाने का शिकार, अपने-अपने क्षेत्र की दो प्रतिभाएं तक रहीं। जैसे जाति व्यवस्था की ऑक्टोपसी विकरालता से अनभिज्ञ राष्ट्रपिता, इस व्यवस्था की अन्यतम बुराई अस्पृश्यता को ही थोड़ा बहुत महसूस कर सके। यदि उन्हें देश की सवा करोड़ नारियों की सतीदाह में मृत्यु एवं कोटि-कोटि नारियों के नारकीय विधवा जीवन; सन् 712 में सत्रह वर्षीय युवा समरनायक मोहम्मद-बिन-कासिम से लेकर सन् 1757 में 200 अंग्रेज और 600 देशीय अस्पृश्यों से गठित लार्ड क्लाइव की सेना के समक्ष भारत की पराजय; अंग्रेजों द्वारा थोपी गयी सार्वजनीन शिक्षा नीति के पूर्व 85: लोगों की बाध्यतामूलक अशिक्षा;

और चूहों की एक-एक बिल के समान असंख्य क्षुद्र भागों में भारतीय समाज के विभाजन के पृष्ठभूमि में जाति-व्यवस्था की क्रियाशीलता का ज्ञान होता तो निश्चय ही उनकी प्राथमिकता में, डॉ. आंबेडकर की भांति, जाति का ध्वंस शीर्ष पर होता। गांधी जी की तरह ही जहां प्रेमचंद जैसे जनोमुखी और बलिष्ठ लेखक ने भारत के जाति समाज के स्वरूप को श्रेणी समाजों जैसा समझ कर मार्क्सवादी समाधान ढूंढ़ने में अपनी सारी उर्जा खत्म कर डाला वहीं जाति समस्या के निराकरण के प्रश्न पर, अपनी दृष्टि गांधी से आगे न ले जा सके। प्रेमचंद की ही भांति बंकिम, टैगोर, निराला, मुक्तिबोध इत्यादि से लेकर अरुण शौरियों तक ने इस देश के मनुष्यों को श्रेणी समाजों के मनुष्यों जैसा ही देखा है। इन्हें विदित ही नहीं था कि भारत में मनुष्य नहीं मनुष्यों की प्रजातियां हैं। इसलिए ही सहस्रों भागों में विभक्त भारत के जाति समाज में, गरीबी-अमीरी के दो भागों में बंटे श्रेणी समाजों के समाधान का इनका सूत्र एकदम निष्प्रभावी रहा। चूंकि कलम और स्याही की तरह ही जाति और हिन्दू-धर्म उर्फ ब्राह्मण धर्म का एक दूसरे से अभिन्न संपर्क है इसलिए हिन्दू-धर्म के ध्वंस से त्रस्त राजा राम मोहन, पं. विद्यासागर, दयानंद सरस्वती, विवेकानंद, गांधी, बंकिम, टैगोर, प्रेमचंद, निराला वगैरह जैसे भारत के 'महामानव', इस व्यवस्था के अटूट रखने के सहायक उपायों पर थोड़ा बहुत प्रहार करने से अधिक आगे न जा सके अर्थात इसके आमूल ध्वंस तक अपने कार्यक्रमों को दीर्घायित न कर सके।

आज का भारतीय पश्चिम के युक्तिवादी व मानवतावादी मनीषियों के चिंतन से सृष्ट उपकरणों और विचारों से लैस होकर चाहे जितना नवीन सहस्राब्दी का एक मनुष्य होने का भ्रम पाल ले; सभा सेमिनारों में जितना भी मानवाधिकारों का उच्च उद्घोष कर ले; सच्चाई यही है कि भारत के जाति समाज में विकसित सोच के कारण वे अभी भी अर्द्ध-सहस्राब्दी पूर्व की दशा में ही हैं। जातिवाद में जो शिथिलता जान पड़ती है वह मात्र आधुनिक जीवन संघर्ष की जटिलता के समक्ष उसकी विवशता है। चूंकि आधुनिक सभ्यता के जीवन संघर्ष में उसका विशुद्ध बने रहना असंभव है इसलिए हिन्दुओं की यह विवशता, उदारता के रूप में भूषित हो रही है।

पश्चिम की शिक्षा व सभ्यता में जाति ध्वंस की प्रभावकारिता और समाज परिवर्तन की धारा में आस्था रख कर ही स्वामी विवेकानंद ने जाति-व्यवस्था के कालांतर में ध्वस्त होने की भविष्यवाणी की थी। विगत सौ वर्षों में जाति भेद में आई नाम मात्र की बाह्य शिथिलता स्वामी जी की भविष्यवाणी को भ्रांत ही प्रमाणित करती है। जाति शुद्धता की दो प्रधान शर्तों-कर्म और वर्ण विशुद्धता - में से कर्म संकरण को हिन्दुओं ने सहजता से अंगीकार कर लिया है। अगर वे इसी सहजता से वर्ण संकरता अर्थात् अन्तर्जातीय एवं प्रतिलोम विवाह की दिशा में अग्रसर हुए होते तो निश्चय ही, अन्तर्जातीय विवाह के समर्थक स्वामी विवेकानंद की भांति ध्वंस की भविष्यवाणी काफी हद तक सफल हो गई होती। परन्तु अन्तर्जातीय और प्रतिलोम विवाह का नाम सुनते ही इनके अंदर का 'हिन्दूपन' सांप की भांति फन निकालकर खड़ा हो जाता है। विगत सदी के उत्तरार्द्ध से जिस तरह हिन्दू समाज में कर्म संकरता की बाढ़ आई है, अगर चमत्कारिक रूप से हिन्दुओं का विवेक जागृत हो जाए और वर्तमान सदी

में वर्ण-संकरता का प्रसार घटित हो जाए तो भी जाति का पूर्णतया विनाश नहीं होगा। चूंकि हर हिन्दू ही जाति का सचल रूप है, इसलिए भविष्य का वह क्षण ही जाति-ध्वंस का वह शेष लग्न होगा, जब दुनिया में एक भी हिन्दू नहीं होगा। जब तक धरती पर एक भी हिन्दू है जाति का अस्तित्व विलीन नहीं होगा। इसलिए ही डॉ. आंबेडकर ने अपनी रचना *जाति का उन्मूलन* में भारतीय समाज के जाति-विनाश का अचूक हथियार *हिन्दू-धर्म का परित्याग* ही चिन्हित किया है।

विगत सदी से देश की सामरिक शक्ति में आई उल्लेखनीय मजबूती, लोगों में राष्ट्रीयता का विकास, साक्षरता में वृद्धि और मानवाधिकारों के प्रति सम्मान एवं कुसंस्कारमुक्त वैज्ञानिक जीवन पद्धति के प्रति रुझान इत्यादि सहित देश में उन्नति का जो भी चिन्ह परिलक्षित हो रहा है, उसका प्रधान कारण राष्ट्र का हिन्दू धर्म से दूरत्व है। यदि हिन्दू धर्म के सामान्य मोहभंग से राष्ट्र की समृद्धि का यह ग्राफ है तब राष्ट्र अगर इस धर्म का पूर्णतया परित्याग कर दे तो हमारा समाज निश्चित रूप से जाति-मुक्त, एक सभ्य व समृद्ध समाज का रूप अख्तियार कर लेगा।

बहुजन बने बिना मुश्किल है हिन्दू बर्बरता से लड़ना

हिन्दू समाज बर्बर नहीं, एक सुसभ्य समाज है और वह रूढ़ियों से मुक्त हो चला है एवं हिन्दू धर्म एक उदार एवं सहिष्णु धर्म है, हिन्दुओं की इस दाम्भिक घोषणा की बाराबंकी के माती गांव में सद्य: घटित घटनाओं ने धज्जियां बिखेर दी हैं। 21वीं सदी में पहुंचकर भी मानव सृष्टि में हिन्दू-धर्म के दैवीय सिद्धान्त में आस्था के कारण, हिन्दू मानस की यह धारणा अटूट है कि हिन्दू-ईश्वर के जघन्य अंग, पैर से जन्मने के कारण दलित मानवेतर प्राणी हैं। उनका स्पर्श अपवित्रता का कारक है; अधिकार नहीं है उन्हें सभ्य व सुशिक्षित होने का।

पश्चिम के मानवतावादी मनीषियों द्वारा सृष्ट वैज्ञानिक उपकरणों एवं मानवतावदी विचारों से लैस होकर, आधुनिक कहलाने वाले उच्चवर्ण-हिन्दुओं की सोच वैदिक युगीन अवस्था से आगे नहीं जा पाई है, इसका प्रमाण समय-समय पर वे स्वयं देते रहे हैं। साबर बाण्डा के नवलपुर, मथुरा के मेहराना, परभणी के पिन्ट्री देशमुख, मेरठ के सीखरा, बिहार के बिहटा, बेलछी, पिपरा, कुम्हेर इत्यादि असंख्य गांवों के बाद गत 23 अक्टूबर को माती गांव के बिलंबरपुरवा मजरे में हिन्दुओं की वैदिक युगीन सोच का पुन: प्रतिबिंबन हुआ है। वहां एक सार्वजनिक झील से दलितों द्वारा मछली मारने की हिमाकत से खफा होकर ठाकुरों ने छ: दलितों को लाठी, बल्लम और तमंचों से बुरी तरह जख्मी कर उन पर तेजाब उड़ेल दिया है। इससे पहले शाहजहांपुर के लालबड़ा गांव में राजपूतों ने एक दलित महिला को मन्दिर की पवित्रता नष्ट करने के जुर्म में गोली से उड़ा दिया था।

संयोग से मीडिया की कृपा लाभ कर विलंबरपुरवा की घटना राष्ट्रीय स्तर पर प्रचारित हो गई है। उसके बाद, अतीत में इस किस्म की घटनाओं के प्रकाश में आने के परवर्ती चरणों में जैसा होता रहा है, उस औपचारिकता की पुनरावृत्ति का क्रम शुरू हो गया है। विपक्ष द्वारा सरकार की खिंचाई एवं सरकार द्वारा स्थानीय पुलिस के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्रवाही की खानापूर्ति हो चुकी है। बाकी है बस सरकार द्वारा आक्रान्त दलितों के लिए मुआवजा राशि की घोषणा एवं विभिन्न राजनैतिक दलों का घटनास्थल पर पहुंचकर ट्रेजडी एक्टिंग का प्रदर्शन। पत्र-पत्रिकाएं भी अपना अभ्यस्त कर्तव्य पूरा करने में जुट गई हैं। इस घटना के अन्तिम संस्कार का क्रम कुछेक दिन चलता रहेगा। हफ्ता, दस दिन बाद सब सामान्य हो जाएगा। फिर कुछेक सप्ताह बाद परविर्तित स्थान, काल और पात्रों के साथ कोई नया बिलंबरपुरवा और लालबड़ा कांड घटित होगा।

उच्च वर्ण हिन्दुओं के अपरिवर्तनीय बर्बर चरित्र को देखते हुए जब यह तय है कि एक के बाद एक बिलंबरपुरवा या लालबड़ा कांड घटित होते रहेंगे तब दलित क्या करें? राज्य के भरोसे बैठे रहें या कोई अन्य उपक्रम करें। यद्यपि दलित उत्पीड़न पर अंकुश लगाने में राज्य की एक प्रभावशाली भूमिका रही है। अगर राज्य का हस्तक्षेप न होता तो आज भी दलितों

को गले में थूकदानी और पदचिह्न मिटाने के लिए कमर में झाड़ू बांधकर रास्तों पर चलना पड़ता; आज भी दलित स्त्री-पुरुषों को नाभि के ऊपर वस्त्रहीन रहना पड़ता; आज भी कोई आंबेडकर किसी कालाराम मंदिर में प्रवेश और किसी चौदार तालाब का जल स्पर्श करने के लिए संघर्षरत दिखाई पड़ता। तब बिलंबरपुरवा और लालबड़ा जैसी घटनाएं नियमित घटित होतीं। किन्तु राज्य की अपनी सीमाएं हैं और दलितों के प्रति हिन्दुओं में घृणा और शत्रुभाव अनन्त हैं जिसको नियंत्रित करने में राज्य शत-प्रतिशत सक्षम नहीं है। अत: राज्य पर आस्था रखते हुए भी दलित अन्य विकल्पों पर गौर करें। मेरे ख्याल से विलंबरपुरवा और लालबड़ा कांडों की पुनरावृत्ति रोकने के मात्र तीन विकल्प हैं।

पहला, दलितों को अस्पृश्यता मुक्त जाति बनना होगा। पर, यह कैसे सम्भव है कि दलित भी स्पृश्य बन जाएं और उनके स्पर्श से हिन्दू समाज को अपवितत्रता के दूषण का सामना न करना पड़े। दलितों की अस्पृश्यता मोचन का तो कोई उपाय अन्तत: हिन्दू धर्म में नहीं है। यद्यपि हिन्दू शास्त्रों के तंत्र-मंत्र, याज्ञ-यज्ञ और देवी देवताओं के आशीर्वाद से मृत जिवित हो सकता है, अन्धा देख सकता है, गूंगा बोल सकता है, पंगु गिरि लांघ सकता है, वन्ध्या सन्तानवती हो सकती है, परन्तु किसी भी देवता का आशीर्वाद कोई भी तंत्र-मंत्र अछूतों को मनुष्य नहीं बना सकता। मैली गंगा में डुबकी लगाकर सात जन्मों का पाप तो धुल सकता है पर समग्र गंगा-जमुना का निर्मल जल स्रोत भी डॉ. आंबेडकर के लोगों की अस्पृश्यता का मोचन नहीं कर सकता। निष्कर्ष यही है कि हिन्दू-धर्म में अस्पृश्यता से मुक्ति का कोई शास्त्र सम्मत उपाय नहीं है। अत: दलित अस्पृश्यता से मुक्ति कैसे पाएं। उसका एकमात्र विकल्प यही है कि वे बौद्ध, ईसाई, मुसलमान या सिख बन जाएं। रातो-रात अस्पृश्यता से मुक्त होकर मनुष्य बनने का इससे भिन्न व उत्तम उपाय और कोई नहीं है। करोड़ो-करोड़ मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, सिखों का उदाहरण सामने है, जो धर्मान्तरण द्वारा अस्पृश्यता से मुक्त होकर न सिर्फ हिन्दुओं के हमले और घृणा से मुक्त हैं बल्कि उनके सम्मान के भी पात्र हैं। किन्तु इज्जत-आबरू, धन-सम्पत्ति सर्वस्व खोकर भी बाप-दादा जिस धर्म से विच्छिन्न नहीं हुए, उस धर्म को परित्याग करने की मानसिकता से पुष्ट होना क्या वर्तमान प्रजन्म के दलितों के लिए खूब आसान है?

यदि हिन्दू-धर्म का परित्याग नहीं कर सकते तो बिलंबरपुरवा और लालबड़ा कांड से बचने के लिए दलित बहुजन को संगठित होना होगा। ताकि संगठित शक्ति के बूते हिन्दुओं की बर्बरता के विरुद्ध प्रतिरोध या आक्रमण के विरुद्ध प्रत्याक्रमण कर सकें। पर, यह काम भी कम कठिन नहीं है। छ: सहस्राधिक जाति/उपजातियों में विभक्त बहुजन समाज के सदस्यों के मध्य विद्यमान घृणा और द्वेष, भ्रातृभाव पैदा करने में सहस्राधिक वर्षों से बाधक रहा है। हिन्दू शास्त्रों से प्रेरित दलित भी अपने से कथित नीची जातियों के प्रति घृणा व उपेक्षा का भाव तो पोषण करते ही हैं, स्वयं अपनी ही जाति की निम्नतर उपजातियों की उपेक्षा करने से बाज नहीं आते। लेकिन दलित यदि हिन्दू समाज में ही रहना चाहते हैं तो घृणा और वैमनस्य की प्राचीर अतिक्रम कर, भ्रातृभाव लिए परस्पर के निकट आना होगा। तब ही वे हिन्दू बर्बरता का मुकाबला कर पाएंगे।

तीसरा व शेष विकल्प यह है कि हिन्दू अपने शास्त्रों और ईश्वर में विश्वास करना छोड़ दें। दलित बहुजन के प्रति हिन्दुओं के अमानवीय दृष्टिकोण का प्रधान कारण हिन्दू शास्त्र और हिन्दू ईश्वर हैं। *ईश्वर के उत्तमांग (मुख व बाहु) से जन्मने के कारण हिन्दू श्रेष्ठ हैं और उसी ईश्वर के जघन्य अंग (पैर) से जन्मने के कारण शूद्र-अतिशूद्र मनुष्य नहीं मनुष्येतर प्राणी हैं।* इसका ज्ञान शास्त्र कराते हैं। हिन्दू शास्त्रों के अमानवीय निर्देशों का अनुपालन करके हिन्दू आज एक निर्दयी व बर्बर मानव गोष्ठी के रूप में परिवर्तित हो गए हैं। पर, ऐसा नहीं है कि हिन्दू जन्मजात निर्दयी होते हैं। डॉ. आंबेडकर ने कहा है- *हिन्दू जातिभेद को इसलिए नहीं मानते कि वे क्रूर हैं या इनके मस्तिष्क में कुछ विकार हैं। वे जातिभेद के इसलिए पाबन्द हैं कि उनको धर्म प्राणों से भी प्यारा है। जातिभेद को मानने में लोगों की भूल नहीं। भूल उन धर्मग्रन्थों की है, जिन्होंने यह भावना उनमें उत्पन्न की है।* अत: हिन्दू यदि अपने जाग्रत विवेक का परिचय देते हुए अपने शास्त्रों के प्रति अनास्थाशील हो जाएं तो दलित समस्या की जड़ ही मिट जाए।

किन्तु जिन शास्त्रों के कारण हिन्दू जागतिक सुख-समृद्धि और दलित बहुजन पर श्रेष्ठत्व लाभ किए हैं, उन शास्त्रों पर अविश्वास करके वे दलितों को अपने समान मनुष्य मानने की भूल ही क्यों करेंगे। उन्नततर जीवन की कामना तो मनुष्य प्राणियों का स्वभाविक धर्म है। अत: दलित ही सोचें कि उनके लिए श्रेयकर विकल्प क्या है।

अस्पृश्यता का प्रतिकार

हिन्दू समाज बर्बर नहीं, एक सुसभ्य समाज है और वह रूढ़ियों से मुक्त हो चला है- ऐसा मानने वाले बुद्धिजीवी आज राजस्थान के दलितों के चकवारा अभियान की करुण परिणति देखकर हैरान हैं। ऐसे लोग विश्वास करने लगे थे कि हिन्दू-समाज उस दौर को बहुत पीछे छोड़ चुका है जब उसने डॉ. आंबेडकर के महार आंदोलन एवं कालाराग मंदिर में प्रवेश का बर्बरोचित विरोध किया था। लेकिन सभ्यतापथ पर मानव समाज की अग्रगति की तुलना में हिन्दू-समाज सैकड़ों वर्ष पूर्व की दशा में पड़ा हुआ है और इसके अधिकांश सदस्य आज भी अस्पृश्यों को मनुष्य प्राणी के रूप में मान्यता देने की मानसिकता विकसित नहीं कर पाए हैं, इसका जबरदस्त दृष्टान्त चकवारा की ताजातरीन घटना है।

ज्ञातव्य है कि दलित मानवाधिकार केन्द्र की संयोजक सरोज खान के नेतृत्व में राजस्थान के विभिन्न अंचलों के दलितों ने भारी संख्या में एकत्रित होकर 20 सितम्बर को चकवारा गांव की ओर कूच किया था। उनका इरादा वहां पहुंचकर पवित्र तालाब में स्नान करने के बाद सौ साल पुराने विश्वनाथ मंदिर में प्रवेश कर पूजा अर्चना करना था। उनके इस अभियान की भनक मिलते ही ब्राह्मण-जाट बहुल चकवारा गांव के सवर्णों ने चकवारा से छह किलोमीटर दूर अवस्थित फागी गांव की ओर मार्च करने का फैसला किया ताकि अस्पृश्यों को वहां पहुंचने से रोका जा सके। 21 सितम्बर को जैसे ही दलितों का जुलूस फागी से चकवारा की ओर बढ़ा, ऊंची जाति के लोगों ने उन्हें रोकने की कोशिश की। मुठभेड़ की आशंका को देखते हुए वहां पहले से तैनात जिला प्रशासन व पुलिस के अधिकारियों एवं *दलित मानवाधिकार मोर्चा* नामक स्वयंसेवी संगठन के लोगों ने दोनों पक्षों को समझाने की कोशिश की पर बात नहीं बनी। देखते ही देखते वह स्थान जंग के मैदान में तब्दील हो गया जिसका नजारा उस दिन शाम को पूरे राष्ट्र ने टी.वी. के पर्दे पर देखा।

इक्कीसवीं सदी की आज की तारीख में चकवारा कांड हमें अस्पृश्यता की समस्या पर नये सिरे से मंथन करने के लिए विवश कर देता है। दुनिया में ऐसा कहीं नहीं हुआ कि किसी धार्मिक समुदाय के लोगों ने अपने ही समुदाय के विराट संख्यक लोगों को देवालयों में प्रवेश करने पर रोक लगाया हो। पर भारत में आज भी ऐसा हो रहा है तो इसलिए कि यहां के दलितों की भांति अधिकारविहीन मनुष्यों को कहीं भी मनुष्येतर प्राणी नहीं समझा गया। रोम की दास प्रथा और अमरीका की नीग्रो-स्लेवरी में जरूर अधिकारशून्य दासों का पशुवत इस्तेमाल हुआ पर दलितों की भांति उन्हें पश्वाधम नहीं समझा गया। किसी मानव जाति के स्पर्श से जल, रास्ते-घाट, मनुष्य और भगवान तक भी प्रदूषित हो सकते हैं, ऐसा सदियों से सिर्फ हिन्दू समाज मानता आ रहा है। चूंकि दलितों की मानवीय सत्ता हिन्दुत्व में आस्था के कारण हिन्दुओं द्वारा मनुष्य रूप में अस्वीकृत है इसलिए जब मानवेतर दलित अपने मानवीय

अधिकारों के लिए आगे बढ़ते हैं तो हथियारबन्द हिन्दू समाज की उनके विरुद्ध भावना का प्रकटीकरण साबर बाण्डा के नवलपुर, परमणी के पिन्ट्री देशमुख, मेरठ के सीखरा, बिहार के बेलछी, पिपरा, राजस्थान के कुम्हेर कांड के रूप में होता है। आज उनकी उस चिरपरिचित भावना का पुन: प्रकटीकरण चकवारा से छह किलोमीटर दूर हुआ है।

देश में हिन्दू समाज जब-जब हथियारों से लैस होकर मानवेतरों के विरुद्ध हिन्दुत्व की भावना का प्रकटीकरण करता है, दलित बुद्धिजीवियों के साथ-साथ राष्ट्र-प्रेम व मानवताबोध सम्पन्न हिन्दू-बुद्धिजीवियों के खेमे में भी चिन्ता की एक लहर दौड़ जाती है। वे सभा संगोष्ठियां आयोजित एवं घटना स्थल पर मार्च कर सवर्ण हिन्दुओं के बर्बरोचित कार्य की निंदा एवं उनके विवेक को झकझोरने का कुछ समय के लिए अभियान चलाते हैं पर, नतीजा शून्य ही होता है। एक अन्तराल के बाद परिवर्तित स्थान और काल में फिर हिन्दू भावना का प्रकटीकरण हो जाता है। मुमकिन है कि अतीत का अनुसरण करते हुए उदार हिन्दू बुद्धिजीवी चकवारा घटना के परिप्रेक्ष्य में हिन्दू विवेक को झकझोरने का अभियान फिर शुरू कर दें।

लेकिन याद रहे हिन्दू विवेक को झकझोरने का अभियान मध्ययुग के संतों से लेकर आधुनिक भारत के राष्ट्रपिता एवं प्रेमचन्द और निराला जैसे एक से एक महान साहित्यकारों तक ने चलाया फिर भी चकवारा, बेलछी, कुम्हेर इत्यादि कांड होते रहे हैं। यही नहीं हिन्दू-समाज की विवेक शून्यता से आजिज आकर कोटि-कोटि स्वाभिमानी मानवतरों ने जहां हिन्दू समाज से सम्पर्क विच्छेद कर, इस्लाम, सिख, ईसाई और बौद्ध धर्म से नाता जोड़ लिया वहीं असंख्य योद्धा मानवेतरों ने भारत की सेनाओं को पराजित करने में अंग्रेजों का बढ़-चढ़कर सहयोग किया। किन्तु अपने समाज की टूटन और देश की पराधीनता से सवर्णों ने कोई सबक नहीं लिया, प्रधानता दिया मात्र अस्पृश्यों को धिक्कृत व दंडित करने को। ऐसे में दलित जब-तक अस्पृश्य हैं, सवर्ण हिन्दुओं की उग्रता झेलने के लिए अभिशप्त हैं। उधर दलितों की अस्पृश्यता मोचन का धर्मान्तरण के सिवाय कोई भी रास्ता हिन्दू-धर्म में नहीं है। यद्यपि हिन्दू-शास्त्रों के तंत्र-मंत्र-यज्ञ और देवी-देवताओं के आशीर्वाद से मृत जीवित हो सकता है, अन्धा देख सकता है, गूंगा बोल सकता है, पंगु गिरि लांघ सकता है, वन्ध्या सन्तानवती हो सकती है पर दलितों की अस्पृश्यता दूरीकरण का कोई शास्त्र-सम्मत उपाय नहीं है। और अस्पृश्यता मुक्ति का कोई उपाय नहीं है तो यह मानकर आगे की रणनीति तय करनी होगी कि मनुष्येतरों को हिन्दू पराक्रम से बचाने का भी कोई उपाय नहीं है।

लेकिन जो हिन्दू समाज अस्पृश्यों के विरुद्ध बराबर आक्रमणात्मक रहता है उसकी एक विराट मनोवैज्ञानिक कमजोरी भी है। यह समाज सुदूर अतीत से ही सख्त का भक्त रहा है। अपनी इस कमजोरी के कारण वह हाथी, भालू, बाघ, सिंह, बैल जैसे शक्तिशाली जानवरों के साथ-साथ गाय, बन्दर, सुअर, सांप, चूहा इत्यादि तक में देवी-देवताओं को आरोपित कर पूजा करता रहा है। इसी कारण वह विदेशागत लोगों का अनुग्रह जय करने के लिए बराबर दास सुलभ आचरण करता रहा है। अपनी इस स्वभावगत कमजोरी के

कारण ही वह मनुष्येतरों में पद-प्रतिष्ठा प्राप्त सक्षम लोगों के साथ बन्धुत्वपूर्ण व्यवहार करने में कोताही नहीं बरतता। अत: दलितों को सक्षम बनाकर हिन्दू समाज को समानता व बन्धुत्व पूर्ण व्यवहार के लिए विवश किया जा सकता है। उनके प्रति इसके लिए जरूरी है कि अस्पृश्यता के दूसरे मोर्चे पर राष्ट्र मुस्तैद हो।

जिस अस्पृश्यता के कारण दलित दुनिया के सबसे घृणित मनुष्य प्राणी के रूप में देखे जाते हैं वह व्यापक अर्थों में 'बहिष्कार' है। यह बहिष्कार मात्र सार्वजनिक स्थलों के उपयोग तक सीमित नहीं है। कर्म संकरता की निषेधाज्ञा के तहत दलितों को सदियों से देश के संसाधनों और उच्चमान के तमाम लाभकारी पेशों से बहिष्कृत वंचित करके रखा गया है। अवश्य ही भारतीय राज्य के हस्तक्षेप से कुछ क्षेत्रों से इनका बहिष्कार दूर हुआ है। लेकिन व्यवसाय, उद्योग, मीडिया, संस्थाओं व तमाम सांस्कृतिक स्रोतों से दलित अभी भी पूरी तरह बहिष्कृत (अछूत) हैं। यदि इन क्षेत्रों से इनकी अस्पृश्यता दूर कर दी जाए तो निश्चय ही दीन-हीन बहिष्कृत समाज सक्षम हो उठेगा। इन क्षेत्रों से दलितों की अस्पृश्यता दूरीकरण में अमेरिका का *डाइवर्सिटी सिद्धान्त* सर्वाधिक कारगर हथियार साबित हो सकता है। यह अस्पृश्यता मोचन का एक ऐसा उपाय है जिसके द्वारा राष्ट्र काफी हद तक अस्पृयता पर अकुंश लगा सकता है। बिना ऐसे उपायों का अवलम्बन किए चकवारा कांड से निजात दिलाना पत्थर पर दूब जमाना है। क्योंकि जब तक हिन्दू समाज की आस्था शास्त्रों, देवी-देवताओं, मंदिरों इत्यादि में है वे हथियारों से लैस होकर चकवारा अभियानों का प्रतिरोध करते रहेंगे।

संगठित हुए बिना दुर्लभ है मानवाधिकारों का भोग

आज से प्राय: अर्द्ध-शत वर्ष पूर्व विश्व ने उपलब्धि कि की वन्यावस्था को अतिक्रम कर, आधुनिक सभ्य समाज में पहुंचने के बावजूद मानवजाति अपनी वन्ययुगीन प्रवृत्ति से पूरी तरह मुक्त नहीं है। प्राक्-सभ्य मानव में जैसे बल प्रयोग द्वारा दूसरों से छीन-झपट कर खाने की प्रवृत्ति थी, वैसे ही सभ्य मानव दूसरों के अधिकारों का ग्रास करने के लिए उद्यत है। फलत: मानव के मौलिक अधिकारों को चिन्हित कर, उन्हें सुरक्षा प्रदान करने की आवश्यकता विश्व स्तर पर महसूस की गई। इस प्रक्रिया में 10 दिसंबर, 1948 को संयुक्त राष्ट्र संघ में आधुनिक मानव के मौलिक अधिकारों की घोषणा हुई। राज्य या व्यक्ति विशेष, चिन्हित मानवाधिकारों का हनन न कर सकें, इसके लिए *विश्व मानवाधिकार घोषणापत्र* में ढेरों प्रावधान रचे गए। घोषणापत्र की विभिन्न धाराओं में मानवाधिकारों की जो दीर्घ तालिका लिपिबद्ध है उससे कमोबेश प्राय: सभी अवगत हैं। स्वाधीन भारत के संविधान के मूल सिद्धांत भी *मानवाधिकार घोषणापत्र* के प्राय: समानुरूप है। मानवता को सुखी रखने में सक्षम इस घोषणापत्र की विभिन्न धाराओं के मध्य, धारा 13 के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने राज्य के अंदर कहीं भी बसने या एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की स्वाधीनता है। भारतीय संविधान भी अपने नागरिकों को इस अधिकार से समृद्ध कर रखा है।

विश्व मानवधिकार घोषणापत्र में उल्लिखित अधिकार, सबके लिए सुलभ होने पर भी भारत के दलितों के लिए दुर्लभ हैं, विशेषकर धारा-13 में वर्णित अधिकार। भारतीय संविधान द्वारा भी प्रदत्त यह अधिकार (अपने राज्य के अंदर व्यक्ति कहीं भी बसने के लिए स्वाधीन है) आज भी पूरी तरह भोग करने की स्थिति में दलित नहीं है। भारत की आत्मा जहां वास करती है उन गावों में वे आज भी बहिष्कृत हैं। गांवों से दूर बसने के लिए विवश किए गए, ये अधिकारविहीन लोग उच्च वर्णों के मुहल्लों में घर बनाने का सपना नहीं देखते। भारत के कुछेक शहरों को छोड़कर अन्यान्य शहरों में भी इनकी स्थिति बहुत भिन्न नहीं है। शहरों के भद्र इलाकों में अपना जाति परिचय मुक्त रखते हुए बहुत कम ही दलित घर बनाने या किराये पर कमरे लेने की हिम्मत कर पाते हैं। वहां साधारण दलितों को तो छोड़ ही दिया जाए, एम.ए., पी-एच.डी. कर रहे छात्रों और बड़े-बड़े अस्पृश्य अधिकारियों तक को मकान किराए पर पाने के लिए जाति-परिचय छिपाना पड़ता है। जाति घोषित कर यदि किसी तरह किराये पर मकान मिल भी जाता है तो मकान मालिक उन्हें चैन से नहीं रहने देते। इसका ताजा दृष्टांत पटना के खगौल थाने के अंतर्गत बदलपुरा में घटित हुआ है, जहां एक सवर्ण के मकान में एक दलित परिवार हफ्ते भर से कैद है।

गत तीन मार्च को एक दैनिक पत्र में प्रकाशित खबर के अनुसार वहां एक मकान में किराए पर रह रहे दलित परिवार के घर के मुख्य दरवाजे को ईंट की दीवार से बंद कर, उन्हें प्राय: कैद कर दिया गया है। खबर में बताया गया है गत 22 फरवरी को मकान मालिक,

जो विदेश में रहता है, का भतीजा उक्त परिवार के घर आया और मकान न खाली करने के कारण गाली-गलौज करने लगा। तत्पश्चात उसने मुख्य दरवाजे को ईंट की दीवार खड़ी करवाकर बंद करने के साथ-साथ छोटे-दरवाजे को भी ग्रिल कर पैक करवा दिया। यह सब स्थानीय पुलिस की मौजूदगी में हुआ। जब परिवार के अभिभावक के बड़े बेटे, जो एक थाने में सहायक अवर निरीक्षक के पद पर कार्यरत है, को घटना की जानकारी हुई तब वह भागा-भागा घर आया। उसने वहां मौजूद थाने के अधिकारियों से मकान मालिक के भतीजे को रोकने की विनती की। परंतु अधिकारियों पर कोई असर नहीं हुआ। सबके सामने ही दीवार खड़ी कर उस परिवार को कैद कर दिया गया।

घटना के दूसरे दिन परिवार के अभिभावक ने हरिजन थाने में आवेदन किया, किंतु कोई सुनवाई नहीं हुई। खबर छपने तक वह दलित परिवार कैदी की दशा में है। परिवार के पुरुष सदस्य ऊंची दीवार फांद कर किसी तरह आ जा रहे हैं। पर, महिलाएं व बच्चे घर से बाहर नहीं निकल पा रहे हैं। घर में 70 वर्षीया वृद्धा गंभीर रूप से बीमार है पर इलाज के लिए कोई रास्ता नहीं है। प्रतिपक्ष का कहना है कि जिस रास्ते पर उसने दीवार खड़ी की है वह उसने अपने चाचा से खरीद ली है। लेकिन मामला यह दिख रहा है कि उसने उस परिवार से वह मकान खाली करवाने के लिए ही बर्बर तरीका अपनाया है।

इस देश में किरायेदारों से मकान खाली कराने के लिए इससे मिलती-जुलती ढेरों घटनाएं होती रहती हैं। किंतु यहां प्रश्न उठता है किरायेदार यदि गैर दलित होता तो भी क्या मकान मालिक का भतीजा वैसा कर पाता? किरायेदार यदि सवर्ण होता तो भी क्या पुलिस मूकदर्शक बनी रहती? नहीं, किरायेदार यदि ब्राह्मण या क्षत्रिय होता तो प्रतिपक्ष, जो जाति का बनिया है, कतई गाली-गलौज नहीं कर पाता, न ही पुलिस खामोशी अख्तियार करती।

भारतीय संविधान की धारा-14 में स्पष्ट निर्देश है कि *कानून के समक्ष सभी व्यक्ति समान हैं। कानून का पालन करते समय किसी भी व्यक्ति के साथ राज्य भेदभाव नहीं कर सकता।* परंतु दलितों के साथ कानून पालन में भेदभाव किया जाता है जैसा कि उपर्युक्त प्रकरण में हुआ है। इसका कारण यह है कि राज्य अपने नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा के लिए जिस कानून का कवच सुलभ कराता है उस कानून को लागू करने वाले लोग प्रधानत: प्रभुजातियों से हैं। और प्रभुजातियों में अस्पृश्यों को अपने समान मानवीय मर्यादा देने की मानसिकता अब तक विकसित ही नहीं हो पाई है। उनका हिन्दुत्व इसमें बाधक बन जाता है इसलिए दलित आज भी उनके लिए मानवेतर प्राणी है। अत: जब तक सभ्यता पथ पर मानव की अग्रगति में विश्व के अन्यान्य मानव समाजों की तरह हिंदू समाज उस जगह नहीं पहुंच जाता जहां वह जन्मगत कारणों से मनुष्य को ऊंच-नीच मानने की भावना से मुक्त हो जाए, तब तक दलितों के लिए *विश्व मानवाधिकार घोषणापत्र* में वर्णित एवं *भारतीय संविधान* द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों का भोग दिवास्वप्न ही बना रहेगा। ऐसे में अपने मानवीय अधिकारों के भोग के लिए दलितों को एकबद्ध होने के सिवाय कोई विकल्प नहीं है।

जाति उन्मूलन के लिए विजातीय विवाह

गत 8 मई को इलाहाबाद उच्च न्यायालय की खंडपीठ ने अंतर्जातीय प्रेम विवाहों के संबंध में एक महत्वपूर्ण फैसला दिया है। फैसले के तहत न्यायालय ने ऐसे विवाहों को वैध एवं देशहित में उपयोगी करार दिया है। उसने जाति-व्यवस्था को सामाजिक बुराई एवं अभिशाप बताते हुए कहा है कि यह देश की उन्नति में सबसे बड़ा बाधक है। न्यायालय ने इस संबंध में प्रशासन को यह हिदायत दी कि अंतर्जातीय प्रेम विवाह के इच्छुक लोगों का उत्पीड़न न किया जा सके या हत्या न कर दी जाए, इस पर कड़ी नजर रखे।

दरअसल अंतर्जातीय विवाह के मामले में किसी न्यायालय ने ऐसा फैसला पहली बार नहीं दिया है। भारतीय वयस्कता अधिनियम की धारा 3, जिसके अंतर्गत किसी भी वयस्क युवक-युवती को अपनी मर्जी से किसी भी जाति, समुदाय या वर्ग के व्यक्ति से विवाह करने की छूट है, का हवाला देकर वर्षों से अदालतें अंतर्जातीय विवाह को बढ़ावा देती रही हैं। सिर्फ अदालतें ही क्यों, साथ-साथ राज्य सरकारें भी अंतर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन देने के लिए तरह-तरह की योजनाओं की घोषणा करती रही हैं लेकिन हिन्दू समाज पूरी तरह अप्रभावित है। अंतर्जातीय विवाह को आशीर्वाद देना उसके वश के बाहर की चीज है। ऐसे विवाहों पर इस समाज के मुख से आशीर्वचनों की बजाय निकलते हैं– भर्त्सना के अजस्र शब्द; हाथ उठते हैं तो आशीर्वाद देने के लिए नहीं बल्कि प्रेमी युगलों को गोलियों से भूनने या लाठी- डंडे बरसाने या फांसी के फन्दे पर लटकाने के लिए। अंतर्जातीय विवाह के बंधन में बंधने के इच्छुक प्रेमी युगलों में आज तक कितने हिन्दू मौत के मुंह में समा गए होंगे या कितने घर से पलायन कर अपना जीवन नरक बना लिए होंगे, इसका सहज अनुमान कोई भी संवेदनशील व्यक्ति लगा सकता है।

अंतर्जातीय विवाह के प्रति हिन्दू समाज के बर्बर नजरिये के लिए सवर्ण बुद्धिजीवी सामान्यतया सामाजिक पिछड़ापन, संकीर्णता, दकियानूसीपन, अशिक्षा इत्यादि को जिम्मेवार ठहरा कर बड़े आराम से किनारा कर लेते हैं। कइयों को तो इसमें तालिबानी प्रवृत्ति की झलक दिखाई पड़ती है। मानो वे यह संकेत करना चाहते हैं कि इस्लाम ही हिन्दुओं में अंतर्जातीय विवाह के प्रति बर्बर मानसिकता विकसित करने के लिए जिम्मेवार है। वास्तव में ऐसे लोग इस बर्बरता के मूल में कुछ गौण कारणों को चिन्हित कर उस हिन्दू-धर्म को कलंकित होने से बचाने का उपक्रम करते हैं, जिसने अंतर्जातीय विवाह को निषिद्ध करने के क्रम में मानवता को बड़ी नृशंसता से कुचला है। मूल कारणों को इच्छाकृत रूप से छिपाने वाले इन बुद्धिजीवियों को भलीभांति मालूम है कि अंतर्जातीय विवाहों से दूरी बरतना एक जमाने में जहां हिन्दू होने की अन्यतम शर्त रही, वहीं आज संभवत: एकमात्र शर्त रह गई है।

जिसे हम हिन्दू-धर्म कहते हैं, उसका आधार व प्राण वर्णाश्रम वर्ण-व्यवस्था है। चूंकि यही हिन्दू-धर्म का प्राण है, इसलिए महात्मा गांधी जैसे महान मानवतावादी तक वर्ण-व्यवस्था

के ध्वंस की कल्पना न कर सके क्योंकि इससे हिन्दू धर्म ही खत्म हो जाता, हिन्दू की पहचान मारी जाती। ऐसे में वर्ण धर्म ही हिन्दू-धर्म है और वर्ण-धर्म का पालन ही हिन्दू-धर्म का पालन है, यह कहना गलत नहीं होगा। हिन्दू-धर्म अर्थात् वर्ण-धर्म का पालन, कर्म-शुद्धता और वर्ण-शुद्धता का पालन है, ऐसा हिन्दू-शास्त्र कहते हैं। अर्थात् किसी भी हिन्दू को किसी भी हाल में कर्म-संकरता और वर्ण संकरता नहीं घटित करना है।

कुछ स्वेच्छा से और अधिकांशतः ब्राह्मणों के शास्त्रों एवं क्षत्रियों के शस्त्रों के आतंक से विगत कई हजार वर्षों से हिन्दू कर्म व वर्ण-शुद्धता का पालन करते रहे। लेकिन अंग्रेजों के शासन ने इस शुद्धता पर भारी हमला कर दिया। उन्होंने आईपीसी (भारतीय दंड संहिता) के द्वारा हिन्दू ईश्वर द्वारा सृष्ट चार वर्ण के मनुष्यों को जहां कानून की नजरों में एक करके सबको बराबरी का मनुष्य बना दिया, वहीं शिक्षा, शासन-प्रशासन, व्यवसाय-वाणिज्यादि में सबको अवसर देकर हिन्दू समाज को कर्म-संकर बना दिया। रही सही कसर तेज गति से विकसित आधुनिक सभ्यता ने पूरा कर दिया। आज के जटिल जीवन संघर्ष ने एक भी हिन्दू को इस स्थिति में नहीं छोड़ा है कि वह अपने जातिसूत्र से निर्दिष्ट कर्म/पेशों पर निर्भर रहकर कर्म-शुद्ध बना रह सके। आज जहां डोम, चमार, दुसाध, अहीर, कुर्मी राजनेता, प्रोफेसर, वकील, डाक्टर, इंजीनियर, सैनिक इत्यादि बनकर कर्म-संकर बन रहे हैं वहीं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य भी अनेकों ऐसे कर्मों/पेशों से जुड़ने के लिए विवश हैं जिन्हें शास्त्रों ने उन्हें करने की मनाही कर रखी है। आज पूरा का पूरा हिन्दू समाज कर्म-संकर होकर इस स्थिति में पहुंच गया है कि गर्व से खुद को हिन्दू नहीं कह सकता। फिर भी कुछ लोग अगर खुद को गर्व से हिन्दू कहते हैं तो वह बेहयाई के सिवाय और कुछ नहीं कहला सकता।

बहरहाल जो आधुनिक जटिल जीवन संघर्ष हिन्दू समाज को पूरी तरह कर्म-संकर बनाने में सफल रहा। वर्ण-संकरता के मोर्चे पर कुछ खास असर नहीं छोड़ पाया। उसका प्रधान कारण यह रहा कि वर्ण-व्यवस्था के प्रवर्तक प्राचीन भारतीय मनीषा ने अपनी बौद्धिक क्षमता का अधिकाधिक प्रयोग इसी मोर्चे पर किया था। यदि इस मोर्चे को मजबूत करने में अपेक्षित सफलता नहीं मिली होती तो वर्ण/जाति व्यवस्था हजारों वर्ष पूर्व ही ध्वस्त हो गई होती। वर्ण-संकरता की निषेधाज्ञाओं में ही जाति व्यवस्था के अमरत्व के बीज छुपे हैं। वास्तव में जाति/वर्ण-व्यवस्था मूलतः एक वितरण-व्यवस्था है जिसमें शिक्षा, मंत्रदान, पौरोहित्य, भू-स्वामित्व, शासन-प्रशासन, सैन्यवृत्ति, पशुपालन, व्यवसाय-वाणिज्यादि के अधिकार मात्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के मध्य ही वितरित हुए हैं। शेष शूद्रातिशूद्र इसमें पूरी तरह वितरण-शून्य रखे गए। इनके मध्य देश की संपदा व उच्चमान के पेशों में कुछ भी वितरित नहीं किया गया। वितरित हुई मात्र सेवा, वह भी निःशुल्क। यह वितरण-व्यवस्था अटूट रहे, इसलिए ही कर्म-शुद्धता का सिद्धांत रच करके, पेशों की विचलनशीलता की संभावना को ही खत्म किया गया। पेशों की विचलनशून्यता के कारण भारत की जाति व्यवस्था एक आरक्षण व्यवस्था के रूप में परिवर्तित हो गई। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि देश के संसाधनों व लाभकारी पेशों पर हिन्दू समाज के अल्पजन अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों का स्वामित्व कायम रखने के ही उद्देश्य से वर्ण-व्यवस्था अर्थात् एक आरक्षण व्यवस्था का रूप

दे दिया गया। लेकिन हिन्दू आरक्षण व्यवस्था में सारा स्वामित्व अल्पजनों के हाथ में रखने के लिए मात्र कर्म-शुद्धता का ही सिद्धांत गढ़कर, वर्ण-व्यवस्था के प्रवर्तक आश्वस्त न रह सके। उन्हें भरोसा नहीं था कि जिन बहुजनों को वितरणहीनता का शिकार बनाया गया है, वे सुदूर भविष्य में भी महज परलोक की लालच में कर्म-शुद्धता के सिद्धांत का पालन करते रहेंगे। वे इस बात के लिए चिंतित थे कि जिस दिन वितरणहीन वंचितों में इहलोक सुख की भूख जाग जाएगी, संगठित होकर वे संसाधनों व लाभकारी पेशों पर कब्जा जमाए बैठे अल्पजनों को बेदखल करने की कोशिश कर सकते हैं। ऐसे में विच्छिन्न की बुनियाद पर भारत समाज को विकसित करना उनकी मजबूरी बन गई।

पारस्परिक घृणा पर आधारित हिन्दू समाज में अगर आत्मीयता नहीं दुश्मनी का सदियों से बोलबाला रहा है तो मात्र इसलिए कि इसमें विभिन्न उपायों से प्रेम-प्रीति व भ्रातृत्व विकसित होने के तमाम रास्ते शास्त्रादेशों द्वारा रुद्ध करके रखे गए हैं। इनमें सबसे बलिष्ठ उपाय अंतर्जातीय विवाह की वर्जना है। दो जातियों के मध्य रक्त-मिलन के फलस्वरूप उत्पन्न ममत्व व समत्व शत्रुता और घृणा का विलोप कर सौहार्द की सृष्टि न कर दे; समाज में एकीकरण न पैदा कर दे; इसलिए सजाति के मध्य ही विवाह की अनुमति हिन्दू शास्त्रों ने दी। वर्णान्तर विवाह की स्वीकृति नहीं दी। हिन्दू शास्त्रों के स्रष्टाओं ने सिर्फ वर्णान्तर विवाह की क्षीण संभावनाओं को नष्ट करने के इरादे से ही सती प्रथा, विधवा प्रथा, बालिका विवाह प्रथा, बहुपत्नीवादी प्रथा के साथ अछूत प्रथा को जन्म दिया। ऐसा इसलिए है ताकि अछूत रूप में बहिष्कृत आबादी को दूसरी जातियों के सानिध्य में जाने का असवर ही न मिल सके। ऐसे में यह तय है कि सती, विधवा, बालिका विवाह व अछूत प्रथा के माध्यम से आज तक के इतिहास में अरबों-खरबों नारियों एवं दलितों को अमानवीयता का शिकार महज हिन्दू आरक्षण में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों की सुविधा को बरकरार रखने के लिए ही होना पड़ा है।

शास्त्रकार सिर्फ वर्णान्तर विवाह को निषिद्ध घोषित कर के उसके घटित होने की क्षीण संभावना को भी निर्मूल करने के लिए विभिन्न प्रथाओं को जन्म देकर ही चुप नहीं रह गए बल्कि वर्ण संकरता को इतना बड़ा पाप तक घोषित कर दिया इस पाप से बचने के लिए लोग राजसुख तक का परित्याग करने के लिए तैयार रहने लगे थे। इसका साक्षी महाभारत के कुरुक्षेत्र के मैदान में पार्थ-केशव का संवाद है। बहुत से लोगों ने शायद यह ध्यान नहीं दिया होगा कि कुरुक्षेत्र के महासमर में शत्रु पक्ष के सन्मुख खड़े बहु-युद्धों के बहुप्रशंसित समरनायक अर्जुन ने मानवीय कारणों से नहीं, युद्धोत्तर संभावित वर्ण-संकरता के भयावह परिणामों की कल्पना कर ही अपना हथियार फेंक दिया था। आत्मीय स्वजनों का वध उस समय उनको गौण कारण लग रहा था। आत्मीय वध, पाप को जन्म देता है, कारण शेषपर्यन्त कुलक्षय से वर्ण-संकरता की संभावना तेजी से उत्पन्न होती है। इसलिए श्रीकृष्ण के समक्ष अर्जुन ने कातर स्वर में कहा था- *हे केशव! हम लोग वंश नाश के कुफल से अवगत होते हुए भी ऐसे कार्य (युद्ध) से विरत क्यों नहीं हो रहे हैं ?* (गीता 1/38)। वे बार-बार श्रीकृष्ण को समझाते हुए कह रहे थे- *हे श्रीकृष्ण, कुलक्षय, अर्थात् युद्ध में कुल के पुरुषों के निधन से कुल-धर्म नष्ट होता है-अर्थात् कुल व कुल-धर्म की रक्षा के लिए पुरुष जीवित नहीं रहते। कुल अधर्मग्रस्त होने से कुल वधुएं दूषित हो जाती हैं-नष्ट हो जाती हैं और नारियों के दूषित*

होने पर वर्ण-संकर संतान जन्म लेते हैं। वर्ण-संकर जन्म देने पर जो वंश का नाश करता है उसे नरक गमन करना पड़ता है। जो वंश का नाश करते हैं उनके ही दोष से वर्ण-संकर जन्म लेते हैं और वर्ण-संकर जन्म लेने से जाति-धर्म वे कुल-धर्म नष्ट हो जाता है। हम लोग वंश नाश के कुफल को जानकर भी इस प्रकार के पाप कर्मों से दूर रहना उचित है, यह क्यों नहीं समझ पा रहे हैं ? गीता 1/38-42)।

युद्ध के माध्यम से राजसुख की प्रबल संभावना को देखकर भी अर्जुन ने जिस तरह वर्ण-संकरता के लिए खुद को परोक्ष रूप से संभावित दोषी समझ कर हथियार फेंक दिया था, उसी तरह राष्ट्रहित में अंतर्जातीय विवाह को उपयोगी मानते हुए भी वर्ण-संकरता की सृष्टि की संभावना को देखकर 21वीं सदी के हिन्दू पीछे हट जाते हैं। हिन्दू शास्त्रों द्वारा जाति सम्मिश्रण को ऐसा महापाप घोषित किया गया है कि स्व. राजीव गांधी, प्रियंका गांधी, अमिताभ बच्चन जैसी मशहूर वर्ण-संकर हस्तियां भी हिन्दुओं को जाति सम्मिश्रण घटित करने के लिए प्रेरित नहीं करतीं। इन्हें मशहूर साधक स्वामी विवेकानन्द का यह प्रेरक संदेश- *स्वजाति की छोटी परिधि में वैवाहिक संबंध स्थापित करते-करते हिन्दुओं का रक्त दूषित हो गया है अत: अंतर्जातीय विवाह करना चाहिए-* भी प्रभावित नहीं करता। चूंकि हर हिन्दू राष्ट्र के पहले अपनी जाति देखता है इसलिए अंतर्जातीय विवाहों से राष्ट्रीय एकता को मिलने वाला बढ़ावा उसे आकर्षित कर ही नहीं सकता। कुल मिलाकर पूरी तरह कर्म-संकर हो चुके उसे हिन्दू समाज से सहजता से अंतर्जातीय विवाह के मार्ग अग्रसर होने की कोई उम्मीद नहीं दिखती। विशेषकर सवर्ण हिन्दुओं से तो और भी उम्मीद नहीं की जा सकती क्योंकि आज भी हिन्दू समाज की भ्रातृत्वहीनता और विच्छिन्नता उनके लिए लाभदायक है। प्रत्याशा मात्र दलित समाज से ही की जा सकती है लेकिन क्या दलित इस पर खरे उतर रहे हैं।

वास्तव में यह त्रासदी ही कही जाएगी कि दलित समाज अपने त्राता डॉ. आंबेडकर से जाति उन्मूलन के लिए अंतर्जातीय विवाह का मूलमंत्र पाकर भी जातिवादी भारत में जाति-सम्मिश्रण की बाढ़ लाने की दिशा में अग्रसर न हो सका। यही वह समाज जिसके बुद्धिजीवी भ्रातृत्वहीनता और विच्छिन्नता को राष्ट्र की एक बड़ी समस्या मानते हुए इसके प्रतिकार के लिए सर्वाधिक मात्रा में साहित्य रचते हैं और सभा-संगोष्ठियां आयोजित करते हैं। इस समाज का कोई ऐसा बुद्धिजीवी नहीं है जो अंतर्जातीय विवाहों की वकालत न करता हो। लेकिन परिणाम प्राय: शून्य है। सबसे बड़े दुख की बात यह है कि जो दलित हिन्दू-धर्म से विमुक्त होकर बौद्ध बन गए हैं वे भी अंतर्जातीय विवाह को बढ़ावा देने में आगे नहीं आ रहे हैं। यह तो वास्तव में दलित बौद्धों के लिए शर्म की बात है। वे जाति-सम्मिश्रण घटित करने से डर रहे हैं। जाति से मुक्त होने के लिए जिन्होंने बुद्धिज्म वरण किया है उनका यह नैतिक कर्तव्य बनता है कि वे अंतर्जातीय विवाहों को बढ़ावा देकर शेष समाज के प्रेरणास्रोत बने। उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि कर्म-संकरता को वरण करने से ही शिक्षा, राजनीति, व्यवसाय-वाणिज्यादि क्षेत्रों में शूद्रातिशूद्रों की भारी प्रगति हुई। कर्म संकरता का अनुगमन करते हुए एक बार वर्ण-संकरता के मार्ग पर भी चल कर देखें। यह तय है जिस व्यक्ति या समाज ने हिन्दू शास्त्रादेशों के खिलाफ जितना ही अपने जीवन को परिचालित किया है, उतना ही उनके जीवन में चमत्कारिक परिवर्तन आया है।

दलित विजातीय विवाह को आंदोलन का रूप दें

विजातीय विवाह के प्रति हिंदुओं की बर्बर सोच में कोई परिवर्तन नहीं आया है और जाति सम्मिश्रण घटित करने के जुर्म में अपनी ही संतान की निर्ममता से हत्या करने तक में उनका विवेक आज भी बाधित नहीं होता, यह सच्चाई पिछले दिनों महज 8 दिन के अंतराल में घटी तीन घटनाओं ने आंख में अंगुली करके बता दिया है। इनमें पहली घटना बुलन्दशहर के थाना खानपुर क्षेत्र के अंतर्गत आने वाले भौपुर की है। 12 सितंबर के अखबारों में छपी खबरों के अनुसार वहां के 70 राजपूत किराये की एक बस में सवार होकर दस सितंबर की रात दिल्ली के गोकुलपरुी पहुंचे जहां चार बच्चों के पिता के साथ ब्याही गई एक राजपूत युवती अपने पूर्व प्रेमी के साथ फरार होकर गुप्तवास कर रही थी। वहां पहुंच कर राजपूतों ने दोनों को नींद से उठाकर जबरन बस में बिठा लिया। अगली सुबह ज्योंहि बस उनके गांव पहुंची, उन्होंने दोनों को बस से बाहर निकाला और दौड़ा-दौड़ा कर लाठियों से पीटना शुरू किया। उनकी चीख पुकार सुनकर भी कोई मदद के लिए नहीं आया। मरणासन्न अवस्था में पहुंचने दोनों को गोली मारकर मौत के घाट उतारने के बाद उनके शवों को जला दिया गया। इसी बीच बारिश आ गईं तभी सूचना पाकर पुलिस गांव पहुंची और अधजले शवों को कब्जे में लेने के बाद युवती के ताऊ और दादा को गिरफ्तार कर लिया ।

भौपुर के बाद दूसरी घटना नोएडा में 17 सितंबर को घटित हुई जहां एक ब्राह्मण पिता ने विजातीय युवक से प्रेम करने पर आमादा अपनी बीस वषीय पुत्री को अपने दो भाइयों की मदद से दिन दहाड़े गोली मार कर हत्या कर डाली। तीसरी घटना 18 सितंबर की है जो फैजाबाद के रौनाही थाना के थरेरू गांव में अंजाम दी गई। वहां लगभग दस दिन पूर्व अपने दलित प्रेमी और पांच माह की बच्ची के साथ गांव लौटी भूंज जाति की युवती को उसके पति के साथ मायके वालों ने पंचायत के साथ मिलकर पहले तो डुग्गी पिटवा 12 घंटे के अंदर गांव छोड़ने का अल्टीमेटम दिया। बाद में गांव नहीं छोड़ने पर मायके वालों ने घाघरा नदी के किनारे पंचायत बुलाया। पंचायत के निर्णय के अनुसार युवती को उसके बच्ची के साथ वहां घसीट कर लाया गया। पहले तो उसे वहां भरदम पीटा गया। उसके बाद उसे घसीटते हुए घाट पर ले जाकर उफनती घाघरा में फेंक दिया। उसके बाद उसके भाई ने उसकी बच्ची को भी उछालकर नदी में फेंक दिया। रात में काम से लौटने पर जब उसके प्रेमी को इसकी जानकारी मिली तो उसने पुलिस से संपर्क किया। फिर पुलिस ने युवती की मां, चाची व अन्य कइयों को हिरासत में ले लिया। इन पंक्तियो के लिखे जाने तक मेरठ के एक सैनी व दलित जाति के प्रेमी युगल की हत्या कर पेड़ पर लटकाये जाने की खबर भी अखबारों में प्रकाशित हो चुकी है।

उत्तर प्रदेश के पश्चिम से पूर्वी छोर तक सद्य घटित इन घटनाओं में कोई नयापन

है तो मात्र यह कि इन में स्थान, काल और पात्र बदले हुए हैं। अन्यथा उत्तर प्रदेश ही नहीं विशाल भारत के विभिन्न अंचलों में नियमित अन्तराल पर विजातीय विवाह की संभावना के कारण प्रेमी युगलों की हत्या व आत्महत्या और गृहत्याग जैसी घटनायें होती रहती हैं। इनमें उनकी हत्या से जुड़ी कुछ घटनायें ही मीडिया का कृपालाभ पाकर राष्ट्रीय सतर पर प्रचारित हो पाती हैं। और जब-जब ऐसी घटनाये प्रकाश में आती है, अधिकांश बुद्धिजीवी इन घटनाओं से जुड़े लोगों को मोहब्बत के दुश्मन या कबीलाई सोच वाले कह कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री कर लेते हैं। ऐसा करके वे बड़ी सफाई से उस हिंदु-धर्म को कटघरे में खड़ा होने से बचा लेते है जिसने विजातीय विवाह को निषिद्ध करने के क्रम में मानवता को बड़ी नृशंसता के साथ कुचला हैं।

जिन लोगों ने हिंदुत्व के दर्शन का गहन अध्ययन किया है उन्हे यह पता है कि जिसे हिंदू-धर्म कहा जाता है असल में वह वर्ण-धर्म है और वर्ण-धर्म का पालन ही हिंदू-धर्म का पालन है। इस वर्ण-धर्म के पालन में एक हिंदू का सर्वाधिक आवश्यक कर्त्तव्य, कर्म-शुद्धता और वर्ण-शुद्धता का पालन है, ऐसी घोषणा तमाम हिंदू-धर्म-शास्त्र करते हैं। अर्थात विशुद्ध हिंदू बने रहने की यही शर्त है कि व्यक्ति किसी भी सूरत में कर्म व वर्ण-संकरता न घटित करे। कर्म-शुद्धता का आशय इस बात से है कि वह किसी भी हाल में अपने जातिसूत्र से निर्दिष्ट पेशे/कर्म को छोड़कर दूसरे का तयशुदा पेशा न अपनायें। जबकि वर्ण-शुद्धता की शर्त पूरी करने के लिए व किसी भी स्थिति में जाति-सम्मिश्रण न घटित होने दें। क्षत्रियों के शस्त्रों के साये में संरक्षित ब्राह्मणों के शास्त्रों द्वारा हिंदु समाज को कर्म व वर्ण-संकरता से मुक्त रखने का सफल प्रयास आधुनिक भारत के प्रारंभ तक हुआ है।

हिंदू समाज में कर्म-संकरता और वर्ण-संकरता को कठोरता से निषिद्ध करने के मूल में शास्त्रकारों का प्रधान अभीष्ट वर्ण-व्यवस्था के उस आर्थिक ढांचे को अक्षत रखना था जो अल्पजन द्विजों के हित में विकसित किया गया था। कर्म-संकरता अर्थात पेशों की विचलनशीलता की निषेधाज्ञा के कारण जन्मसूत्र से पौरोहित्य, अध्यापन, शासन-प्रशासन व्यापार-वाणिज्य संबंधी पेशे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के मध्य वितरित होकर रह गये। चूंकि पेशों का परिवर्तन शास्त्रों द्वारा अधर्म व दंडनीय अपराध घोषित था इसलिए प्राय: पारिश्रमिकरहित सेवाकर्म से जुड़ी शूद्रातिशूद्रों के रूप में विद्यमान देश की बहुंसंख्यक आबादी शिक्षाहीन, भूमिहीन व्यवसायहीन होकर गरीबी और अभाव की खाई में फंसी रही। लेकिन महज कर्म-संकरता को अधर्म घोषित कर शास्त्रकार उस अर्थतंत्र के दीर्घायु के प्रति आश्वस्त न हो सके जो उन्होने द्विजों के हित में सृष्ट किया था। उन्हें विश्वास नहीं था कि सिर्फ पाप के भय से वंचित बहुसंख्यक आबादी सुदीर्घ काल तक देश की संपदा और लाभकारी पेशों से खुद को दूर रख पायेंगी। एक दिन वह संगटित होकर उस अर्थतंत्र पर कब्जा जमाने का संगठित प्रयास कर सकती है जिस पर द्विजों का एकाधिकार है। इस भय ने ही उन्हें कर्म-संरकता के साथ-साथ वर्ण-संकरता, जो कि विजातीय मिलन से ही घटित होती है, की निषेधाज्ञा का सिद्वांत रचने के लिए प्रेरित किया था।

वास्तव में पारस्परिक घृणा पर आधारित हिंदू समाज में अगर आत्मीयता नहीं दुश्मनी का सदियो से बोलबाला है तो मात्र इसलिए कि इसमे प्रेम-प्रीति व भ्रातृत्व विकसित होने के तमाम रास्ते शास्त्रादेशों द्वारा विभिन्न उपायों से रूद्ध करके रखे गये हैं। इनमें सर्वाधिक कारगर उपाय विजातीय विवाह की वर्जना रही है। ऐसे विवाह के माध्यम से दो जातियो के मिलन से उत्पन्न ममत्व आपसी शत्रुता और घृणा का विलोप कर सौहार्द की सृष्टि न कर दे, समाज में एकता न पैदा कर दे इसलिए ही शास्त्रकारों ने सिर्फ सजाति के मध्य ही विवाह को स्वीकृति दी। इसलिए ही वर्णांतर विवाह को अधार्म व शास्त्रविरूद्ध प्रचारित किया गया और वर्णांतर विवाह की क्षीण संभावनाओं को नष्ट करने के इरादे से ही सती-प्रथा, विधवा-प्रथा, बालिका विवाह प्रथा, बहुपत्नीवादी प्रथा को जन्म दिया गया। अछूत-प्रथा के जन्म के पीछे भी काफी हद तक वर्णांतर विवाह की संभावना को क्षीण करना था। ऐसा इसलिए ताकि अछूत रूप में घृणित व बहिष्कृत आबादी को दुसरी जातियों के सानिध्य में जाने का अवसर ही न मिल सके। महापंडित राहुल जी के अनुसार भारत के समग्र इतिहास सती-प्रथा के अंतर्गत सवा करोड़ नारियों को भूनकर मार डाला चुका है। इसी तरह बालिका विवाह प्रथा के तहत कितने करोड़ बच्चियों को बाल्यावस्था से सीधे उछालकर युवावस्था में प्रविष्ट कराया जा चुका है; विधवा प्रथा के द्वारा आज तक के इतिहास में अरबों नारियों को जिंदा लाश में परिणत कर दिया गया इसका अनुमान कोई भी लगा सकता है। यह विराट बर्बर कार्य हिंदुओं ने महज शास्त्रों से प्रेरित हो कर अंजाम दिया है और इनके मूल में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से क्रियाशील रही है वर्णांतर विवाह से उत्पन्न वर्ण-संकर संतानों के प्रति असीम घृणा, वर्ण-संकरता के प्रति शास्त्रों ने किस हद तक घृणा का प्रसार किया है इसका साक्ष्य गीता के प्रथम अध्याय के 38-42 के श्लोकों में देखा जा सकता है। बहुयुद्धों के बहुप्रशंसित नायक पार्थ ने राज्य पाने की उज्जवल संभावना देखकर भी केशव के समक्ष इसलिए हथियार नहीं फेंक दिया कि उन्हें आत्मीय स्वजनों की हत्या से पाप का भय सताया था। बल्कि वे हथियार इसलिए फेंक दिये थे कि उन्हें वर्ण-संकरों के जन्म के पाप का भागी न होना पड़े।

दरअसल विजातीय विवाह से उत्पन्न वर्ण-संकर संतानो के प्रति धर्म-शास्त्रों ने इतनी घृणा प्रचारित की है कि इक्कीसवीं सदी का आधुनिक हिंदू तक अपनी संतानो को विजातीय विवाह में आबद्ध करने का मन नहीं बना पाता। इन्हे स्व. राजीव गांधी, प्रियंका बढ़ेरा, अमिताभ बच्चन जैसी मशहूर वर्ण हस्तियां भी जाति सम्मिश्रण घटित करने के लिए प्रेरित नहीं कर पातीं। उन्हें स्वामी विवेकानंद का यह प्रेरक संदेश-*स्वजाति की छोटी-छोटी परिधि में वैवाहिक संबंध स्थापित करते-करते हिंदुओं का रक्त दूषित हो गया है अत: अंतर जातीय विवाह करना चाहिए* -भी प्रभावित नहीं करता। चूंकि हर हिंदू के मन में अपनी जाति-शुद्धता को वरीयता देना सर्वोच्च कर्त्तव्य के रूप में स्थिर है इसलिए अंतरजातीय विवाहों से राष्ट्रीय एकता को मिलने वाला बढ़ावा भी उन्हें आकर्षित नहीं करता। हालांकि शास्त्रों द्वारा वर्ण-संकरता से कर्म-संकरता को कम अधर्म घोषित नहीं किया गया है। पर, आधुनिक जटिल आर्थिक जीवन में अपनी सुख सुविधा के लिए शास्त्रादेशों की उपेक्षा कर सभी हिंदू कर्म-संकर होने में एक दूसरे से होड़ लगा रहे हैं।

लेकिन अंतरजातीय विवाहों को प्रोत्साहन देने के लिए विभिन्न सरकारें जो प्रोत्साहन राशि की घोषणायें कर रही हैं उनका लाभ उठाने के लिए हिंदू सामने नहीं आते। इसका एकमात्र कारण विजातीय विवाहों के प्रति शास्त्रों का अतिशय घृणा प्रसार है। शास्त्रों द्वारा निर्मित सोचे के कारण ही हिंदू काननू के दंड का जोखिम उठाकर भी विजातीय विवाह की इच्छुक अपनी ही संतान की निर्ममता से हत्या तक कर देते हैं।

इस प्रसंग से सबसे बडी त्रासदी तो यह है कि जो पढ़े-लिखे दलित सदभ्म खुद को अहिंदू व शास्त्र विरोधी धोषित करते हैं वे भी अपनी संतानो को विजातीय विवाह में आबद्व करने के लिए सामने नहीं आते। वे हिंदुओं से भिन्न पहचान बनाने के लिए बौद्ध तो बनते हैं पर, विवाह के लिए पात्र-पात्री ढूंढ़ते समय किसी सजाति के ही द्वारस्थ होते हैं। वास्तव में आंबेडकरवादी होने का उच्च उद्घोष करने वाले दलितों के लिए यह भारी शर्म की बात है कि डा. आंबेडकर से जाति उन्मूलन के लिए विजातीय विवाह का मूलमंत्र पाकर भी वे भारत में जाति सम्मिश्रण की बाढ़ लाने में बिलकुल ही असफल रहे हैं। दलित देश की सत्ता पर सदियों से काबिज अल्पजनो से सत्ता छीनने के लिए बहुजन समाज बनाने की बात तो करते हैं पर, परस्पर घृणा और शत्रुता से लबरेज वंचित जातियां क्या सिर्फ उपदेश देने मात्र से बहुजन समाज में परिणत हो जायेगी ? नहीं इसके लिए जरूरी है कि वे आपस में बेटी-रोटी का संबंध करें। इस दिशा में पहल करने की सबसे बडी जिम्मेवारी दलितों की ही है। क्योंकि यह दलित ही है जिनके मसीहा ने देशहित में विजातीय विवाह की सबसे पुरजोर वकालत की है।

इस संबंध में दलितों को यह बात गांठ बांध लेनी होगी कि जिस समाज या व्यक्ति ने हिंदू शास्त्रादेशों की जितनी ही अवहेलना की है उसकी उतनी ही उन्नति हुई है। खुद दलितों ने शास्त्रों के विरुद्ध आचरण करते हुए अपने जातिसूत्र से निर्दिष्ट वृत्तियों का परित्याग कर जब ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की वृत्ति को अपनाते हुए कर्म संकरता को गले लगाया है तभी उनके जीवन में सुखद बदलाव आया है। जब शास्त्रादेशों के आंशिक विरुद्धाचरण से उनके जीवन में बदलाव का यह आलम है तो अगर वर्ण-संकरता को अपनाते हुए पूरी तरह शास्त्र विरोधी बन जायें, तो निश्चय ही चमत्कारिक परिणाम सामने आयेंगे। कम से कम इतना तो तय है कि विजातीय विवाहों से हजारों भागों में विच्छिन्न वंचित जातियां एक बड़े समाज का रूप लेंगी। और वंचित जातियां संगठित होंगी तो न सिर्फ बहुजनराज की संभावना उज्जवल होगी बल्कि सवर्णों से उत्पीड़ित होने की संभावना भी कमतर होगी। मुमकिन है दलितों द्वारा विजातीय विवाह का सुफल भोग करने पर वे हिंदू भी इसके प्रति आकृष्ट होने लगे जो धर्म नष्ट होने के डर से इससे बिदकते हैं; अपनी संतानों को मार डालते हैं।

जातीय अत्याचार के खिलाफ अंतरराष्ट्रीय सहयोग की गुहार

दलित आंदोलन के इतिहास में 12 अगस्त, 2001 एक स्मरणीय दिन के रूप में चिन्हित हो सकता है। इसी दिन संयुक्त राष्ट्रसंघ ने कर्म और जन्म पर आधारित भेदभाव पर बहस की मान्यता प्रदान कर जातिगत भेदभाव व उत्पीड़न को भी बहस में शामिल कर लिया है। ज्ञातव्य है कि दक्षिण अफ्रीका के डरबन शहर में 31 अगस्त से 7 सितंबर, 2001 तक राष्ट्रसंघ और मानवाधिकार आयोग नस्ल, नस्लीय भेद तथा अन्य प्रकार के भेदभाव के प्रश्नों पर एक अंतर्राष्ट्रीय बैठक कर रहा है। भारत के दलित संगठन राष्ट्रसंघ से इस बात पर विगत तीन वर्षों से संवाद कर रहे थे कि नस्लीय भेद की तरह जातिभेद भी खतरनाक है जिसके चलते भारत के 26 करोड़ दलित जीवन के हर क्षेत्र में पिछड़ गए हैं तथा उन पर घोर अन्याय होता है।

भारत सरकार दलित संगठनों की इस मुहिम का विरोध करती रही है। सरकार का तर्क है कि जातिवाद भारत का आंतरिक मुद्दा है तथा इसे अंतर्राष्ट्रीय मंच पर उठाने की कोई जरूरत नहीं है। पर चूंकि डरबन में इस पर बहस होना तय हो गया है इसलिए भारत सरकार सकते में आ गई है। लेकिन भारत सरकार को सकते में छोड़कर जातिभेद के खिलाफ मुहिम में अंतर्राष्ट्रीय समुदाय को शामिल करने के उद्देश्य से, आगामी 26 अगस्त को राष्ट्रीय दलित मानवाधिकार अभियान के नेतृत्व में लगभग दो सौ सदस्यीय प्रतिनिधि मंडल डरबन के लिए रवाना हो रहा है। इस अभियान दल में दलित आंदोलनों से जुड़े एन. पाल दिवाकर, मार्टिन मकवान, पी.एल. मिमरोथ, यशवंत प्रकाश आंबेडकर, रुथ मनोरमा, पुष्पा बाल्मीकि जैसे समर्पित कार्यकर्ताओं के साथ चंद्रभान प्रसाद, कुलदीप नैयर, प्रफुल्ल बिदवई, पी. साईनाथ, डॉ. विवेक कुमार, सुखदेव थोरात जैसे प्रख्यात बुद्धिजीवी भी शमिल हैं। ये लोग वहां जातिभेद का मानवताग्रासी रूप उजागर कर इसके विरुद्ध संघर्ष में सहभागी बनने के लिए अंतर्राष्ट्रीय समुदाय से अपील करेंगे।

जिस वर्णाश्रम व्यवस्था को स्वामी विवेकानंद ने हिंदू जाति के लिए ईश्वर के श्रेष्ठतम उपहारों में एक घोषित किया था, वही हिंदू-धर्म का प्राण है। वर्ण और जाति में भारत के समाजशास्त्रियों ने एक अनावश्यक जटिलता बनाकर रखी है। वास्तव में दोनों एक ही चीज हैं। इनमें कोई मौलिक प्रभेद अगर है तो वह संख्यामूलक है। वर्ण चार हैं जबकि जातियां कई हजार हैं। इन कई हजार जातियों का चार प्रधान समूह ही वर्ण है। वर्ण-धर्म में किसी भी वर्ण-विशेष का धर्म उस वर्ण के अंतर्गत आने वाली सभी जातियों का धर्म है। इस वर्ण-धर्म में ही हिंदू-धर्म का प्राण स्पन्दित होता रहा है। इसीलिए राष्ट्रपिता गांधी और उनकी

संतानों के लिए वर्ण-व्यवस्था का ध्वंस कभी काम्य नहीं रहा। क्योंकि वर्णाश्रम-धर्म के ध्वंस में उन्हें हिंदू धर्म का खात्मा नजर आता रहा। सहस्रों वर्षों से हिंदुओं का चरम अभीष्ट परलोक सुख रहा है और इस परलोक-सुख का आधार वर्ण-धर्म का पालन रहा है, जिसके पालन में वे इहलोक के दुख-दारिद्र्य, मान-अपमान के कड़वी घूंट भी परम धैर्य के साथ पीते रहे हैं। क्योंकि उन्हें परलोक सुख सर्वाधिक प्रिय रहा है। इस वर्ण-धर्म के पालन में कर्म व वर्ण-शुद्धता बनाए रखना प्रधान शर्त रही है। अर्थात हिंदू धर्म (वर्ण/जाति-धर्म) के दायरे में आने वालों को किसी भी हाल में कर्म-संकर और वर्ण-संकर नहीं होना है। इन संकरताओं से वर्ण-धर्म अशुद्ध होता है और वर्ण-धर्म अशुद्ध होने का मतलब हिंदू-धर्म का अशुद्ध होना है। ऐसे में वर्ण (जाति) धर्म पर टिके हिंदू-धर्म को बचाये रखने के लिए, सहस्रों वर्षों से क्षत्रियों की तलवारों के साये में शास्त्रों के आदेश से, हिंदू समाज को कर्म व वर्ण संकरता से दूर रखने की कोशिश होती रही है।

इस कर्म व वर्ण शुद्धता के माध्यम से ही जाति/वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत मानवाधिकारों की विराट उपेक्षा हुई है। कर्म-संकरता (प्रोफेसनल मोबिलिटी) से हिंदू समाज को मुक्त रखने के लिए जन्म सूत्र में प्रत्येक जाति को, उसके निर्दिष्ट पेशे से बंध कर रह जाना पड़ता है। इससे शूद्र वर्ण की कई सहस्र जातियों को पौरोहित्य, अध्यापन, राज्य संचालन में मंत्रणादान, शासन-प्रशासन, सैन्य, व्यवसाय, पशुपालन इत्यादि उन्नत स्तर के पेशों से हजारों वर्षों से वंचित होकर रह जाना पड़ा है। कर्म-शुद्धता को कायम रखने के कारण ही देश में सामाजिक अन्याय का विशाल अध्याय हुआ जिसके निवारण के लिए वर्तमान में सामाजिक न्याय का अभियान चलाया जा रहा है।

कर्म-संकरता के साथ ही वर्ण-संकरता (कास्ट कन्टैमिनेसन) अर्थात जाति समिश्रण से हिंदू-समाज को बचाए रखने के लिए जो उपाय किए गए उनसे इतिहास में मानवाधिकारों के हरण के अनेक रोंगटे खड़े कर देने वाले अध्याय रचित हुए। वर्णान्तर विवाह से कहीं जातियों के मध्य क्रियाशील द्वेष व शत्रुता की जगह प्रेम व भ्रातृत्व न ले ले और श्रेष्ठतर मानव प्रजातियाँ कहीं दूषित न हो जाए इसलिए वर्णान्तर (अंतर्जातीय) विवाह कठोरतापूर्वक हजारों वर्षों से निषिद्ध रखा गया। आज भी अंतर्जातीय विवाह हिंदू समाज में एक बड़ी घटना के रूप में देखा जाता है। इसलिए स्वाभाविकत: प्रेमी युगलों की आत्महत्या या फांसी की घटनाओं से इस समाज को दो चार होना पड़ता है। वर्ण-शुद्धता को कायम रखने के लिए जहां प्रतिलोम विवाह शास्त्र-विरुद्ध घोषित किया गया वहीं सती प्रथा, विधवा प्रथा और बालिका विवाह जैसी प्रथाओं को जन्म दिया गया। यह बात और है कि इन कठोर उपायों के बावजूद भारतीय समाज को जातियों के विगलन पात्र (मेल्टिंग पाट आफ रेसेज) के रूप में चिन्हित किया गया है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन के अनुसार सती-प्रथा के तहत सवा करोड़ आर्य रमणियों को चिताग्नि में भूनकर मार डाला गया। इसी तरह विधवा प्रथा के तहत कई-कई करोड़ नारियों को जहां जिंदा लाश में परिणित कर दिया गया, वहीं बालिका विवाह प्रथा में कई करोड़ बालिकाओं को बाल्यावस्था से सीधे युवावस्था में उछाल दिया गया होगा इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। लेकिन कर्म-शुद्धता के लिए 3000 वर्षों तक

शूद्रों को बेहतर पेशों में जाने से रोक कर तथा वर्ण-शुद्धता के लिए सवा करोड़ नारियों को सती और कई-कई करोड़ को विधवा तथा करोड़ों को बाल्यावस्था में ही युवती बना कर मानवाधिकारों की जो चिता जलाई गई; वह उस अछूत प्रथा के सामने फीकी है जिसके तहत भारत की एक चौथाई जनता को अस्पृश्य बना कर रखा गया।

जातिवाद का मौलिक धर्म पारस्परिक घृणा व विच्छिन्नता है। इसी की चरम परिणति यह अछूत प्रथा है। लंबे समय से इस प्रथा ने कठोरतापूर्वक संयुक्त राज्य अमेरिका की जनसंख्या के समपरिमाणसंख्यक लोगों को समाज के बाहर करके रखा है। भारतवर्ष में समाजीकरण की प्रक्रिया में इन्हें मुख्यधारा से मीलों दूर रखा गया है इसलिए ये मनुष्यरूपी अस्पृश्य प्राणी संपूर्ण जीव के रूप में विकसित नहीं हो पाए हैं। अस्पृश्यता की दीवार बाधक साबित हुई है। चूंकि अस्पृश्यता का दूसरा नाम बहिष्कार है इसलिए संविधान के निर्देशों के बावजूद मेरिट की दुहाई देकर इन्हें प्राप्य अवसरों से वंचित किया गया है। जब ये सरकारी क्षेत्रों में ही बहिष्कृत हैं तो प्रिंट व इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, फिल्म व टी.वी., उद्योग-व्यवसाय इत्यादि में प्रतिनिधित्व की कल्पना करना ही व्यर्थ है। यही वे अस्पृश्य जातियां हैं जिन्हें अंग्रेजी राज्य स्थापित होने के पूर्व हिंदू राज्यों में थूकने के लिए गले में हंडिया और पद-चिन्ह मिटाने के लिए कमर में झक्कर बाँध कर चलना पड़ता था। स्वाधीन भारत में 50 वर्ष बाद भी इनकी दशा में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं आया है। आज भी इन्हें हिंदुओं की मध्ययुगीन बर्बर सोच का शिकार बनना पड़ रहा है, यह शिखा त्रिवेदी ने गत 14 अप्रैल को स्टार न्यूज पर प्रसारित एक टी.वी.कार्यक्रम के जरिये आंख में अंगुली डाल कर दिखा दिया है।

दलितों के प्रति उत्पीड़न वंचना व मानवीय उपेक्षा के जो चित्र शिखा त्रिवेदी ने दिखाया था उनको एक रपट मानकर प्रसिद्ध स्तंभकार योगेन्द्र यादव ने 27 अप्रैल 2001 को *हिंदुस्तान* में *दलित की चिंता* नामक अपने आलेख में बहुत महत्वपूर्ण टिप्पणी की थी। उन्होंने लिखा था- *अगर कोई सभ्य समाज होता तो इन रपटों से हड़कंप मच जाता। कई दिनों तक अखबारों के मुखपृष्ठ पर यही सुर्खियां छाई रहतीं। इस बर्बरता पर बच्चों, अध्यापकों, कलाकारों बुद्धिजीवियों, फिल्मी हस्तियों और खिलाड़ियों की प्रतिक्रिया मांगी जाती। संसद में काम रोको प्रस्ताव लाया जाता। कई अफसरों और मंत्रियों की गद्दी जाती। एक आयोग बैठाया जाता जो संविधान लागू होने के पचास वर्ष बाद भी छुआछूत की स्थिति पर देश को रपट देता। अगर हमारा समाज सभ्य होता तो संसद और सरकार की चुप्पी भर से मामला दब न जाता। कवि, लेखक, बुद्धिजीवी कलाकार इस चुप्पी को तोड़ते.....।*

जातिभेद से उत्पन्न बर्बरता पर भारतीय अध्यापकों, कलाकारों, बुद्धिजीवियों, लेखकों, फिल्मी हस्तियों, खिलाड़ियों और देश की सरकारों की उदासीनता का जो चित्र यादव साहब ने अपने आलेख में खींचा है, उससे दलित बुद्धिजीवी बहुत पहले से अवगत रहा है। अवगत रहा है इसीलिए अब वह उनकी अपील ठुकरा कर अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के समक्ष इस बर्बरता के विरुद्ध कुछ कदम उठाने की अपील करने के लिए डरबन रवाना हो रहा है।

ओलंपिक की कसौटी पर भारत

भारत की आबादी एक अरब है और वह भी किसी दिन ओलंपिक खेलों की मेजबानी कर सकता है। लेकिन उसको अच्छे खिलाड़ी तैयार करने होंगे और ओलंपिक खेलों में बेहतर प्रदर्शन करके पदक जीतने होंगे। यह उम्मीद हाल ही में अपने कार्यकाल के शेष दिनों में भारत की यात्रा पर आए, अंतर्राष्ट्रीय ओलंपिक समिति (आई.ओ.सी.) के अध्यक्ष जुआन एंटानियो समारांच ने जताई थी। प्रत्युत्तर में भारतीय ओलंपिक संघ के अध्यक्ष सुरेश कलमाडी ने उन्हें आश्वासन दिया था कि हम ओलंपिक की मेजबानी पर खरा उतरने की कोशिश करेंगे। कलमाड़ी ने समारांच को आश्वासन तो दे दिया मगर बेहतर प्रदर्शन करते हुए ओलंपिक में पदक जीतना ही यदि मेजबानी की कोई कसौटी है, तो क्या उस कसौटी पर खरा उतरने के प्रति आश्वस्त हुआ जा सकता है? क्या अब तक का हमारा प्रदर्शन इसकी उम्मीद बंधाता है?

ओलंपिक खेलों में हमारा विजय अभियान 1928 के अम्सटर्डम ओलंपिक से शुरू हुआ और इसमें हमारी उपलब्धि मात्र अंगुलियों पर गिनाने लायक है। अब तक आयोजित 27 ओलंपिक खेलों में 851 स्वर्ण, 666 रजत और 575 कांस्य पदकों सहित अमेरिका द्वारा जीते गए कुल 2092 पदकों से यदि हम भारत द्वारा जीते गए पदकों की तुलना करें तो एक अत्यंत करुणतर चित्र की सृष्टि होती है। 1928 से 1956 तक लगातार हाकी में छह स्वर्ण पदक ! इसी खेल में 1964 और 1980 में फिर स्वर्ण पदक। इस बीच 1960 में रजत और 1968 एवं 1972 में हाकी में ही फिर कांस्य पदक। स्मरण रहे 1928-44 तक के ओलंपिक खेलों में भारत अविभक्त था और हाकी बहुत कम देश खेलते थे, जबकि 1980 के मास्को ओलंपिक का पश्चिमी देशों ने बहिष्कार किया था। हाकी के अतिरिक्त गत सिडनी ओलंपिक तक हमने व्यक्तिगत स्पर्धाओं में मात्र कुश्ती, टेनिस और भारोत्तोलन में एक-एक कांस्य पदक जीते हैं। अगर पदकों की संख्या कुछ और गिनाना चाहें तो 1900 के पेरिस ओलंपिक में जीते गए दो रजत पदकों को शामिल किया जा सकता है। लेकिन पेरिस ओलंपिक में हमारी उपस्थिति अनाधिकृत थी। उन पदकों के विजेता नार्मन प्रिचर्ड उन दिनों वहां घूमने गए थे और मौका पाकर व्यक्तिगत तौर पर उसमें शरीक हो गए थे। अत: जिस भारत के ओलंपिक में प्रदर्शन का चित्र यह है कि उससे कैसे यह उम्मीद की जाए कि निकट भविष्य में वह कोई चमत्कार करते हुए आशातीत रूप से बेहतर परिणाम दे पाएगा। हां, योजनाबद्ध तरीके से प्रयास करते हुए सुदूर भविष्य में अपेक्षित परिणाम पाया जा सकता है।

किसी जमाने में राष्ट्रों के शौर्य का प्रतिबिंबन लड़ाई के मैदान में होता था। आज खेलों के मैदान में होता है। युद्ध हो या खेल दोनों में जिस्मानी दम-खम की खास जरूरत पड़ती है। अतीत में लड़ाई के मैदानों में विदेशी हमलावरों के समक्ष हमारी पराजय के लिए जाति

आधारित हमारे समाज के विच्छिन्न चरित्र को जितना भी जिम्मेवार ठहराया जाय उसमें जिस्मानी दम-खम भी एक कारण रहा है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता। उसी तरह खेल कूद में खिलाड़ियों के लिए सही प्रशिक्षण और सुविधाओं के अभाव का हम जितना भी रोना रो लें, सबसे बड़ी सच्चाई यही है कि हमारे खिलाड़ियों की शारीरिक क्षमता प्रश्नातीत नहीं है। वे दम-खम की कमी के कारण अंतर्राष्ट्रीय खेल स्पर्धाओं में शेष रक्षा नहीं कर पाते। जिस हाकी में हमारा प्रभुत्व था, उस हाकी के पावर गेम का रूप अख्तियार कर लेने के कारण ही वह प्रभुत्व खत्म हो गया। दम-खम के अभाव के कारण एस्टो टर्फ के तेज मैदानों पर हमारे हाकी खिलाड़ी जर्मनी, आस्ट्रेलिया, हालैंड वगैरह के खिलाड़ियों को अंतिम समय तक बराबरी का टक्कर नहीं दे पाते। फुटबाल में भी हमारी सोचनीय स्थिति का यही कारण है। सेर्गेई बुबका, मेरियन जोन्स, कार्ल लुईस, माइकल जानसन व इयान थोर्पे वगैरह की गगनचुंबी सफलता के पीछे अन्यान्य सहायक कारणों के साथ प्रमुख कारण उनका जिस्मानी दम-खम है। जिन खेलों में दम-खम की विशेष जरूरत नहीं पड़ती उनमें माइकल परेरा, गीत सेठी, विश्वनाथन आनंद, सचिन तेंदुलकर इत्यादि भी सही प्रशिक्षण व अभ्यास से विश्वस्तरीय खिलाड़ी बन सकते हैं।

एक सच्चाई से मुंह नहीं मोड़ा जा सकता कि हमारी भौगोलिक स्थिति शारीरिक क्षमता के अनुकूल नहीं है। लेकिन इस भौगोलिक स्थिति से उत्पन्न जलवायु गत प्रतिकूलताओं से भी जूझ कर इस देश की विशाल संख्यक कुछ मानव गोष्ठियां, अपनी असाधारण शारीरिक क्षमता का परिचय देती रही हैं। जन्म सूत्र से महज कायिकश्रम करने के लिए चिन्हित की गई ये जातियां, सहस्रों वर्षों से कृषि के प्राचीन व अविकसित उपकरणों के सहारे, मूलत: अपने परिश्रम पर निर्भर रहकर राष्ट्र का पेट भरती रही हैं। सर्दी, धूप, वृष्टि में भी काम करने की इनकी क्षमता प्रश्नातीत रही है। ओलंपिक के व्यक्तिगत स्पर्धाओं में मात्र जिन तीन व्यक्तियों खशाबा जाधव, लिएंडर पेस, कर्णम मल्लेश्वरी ने कांस्य पदक जीते हैं, इन्हीं परिश्रमी जातियों से हैं। एशियाड में भारत का मस्तक ऊंचा करने वाली पी.टी. उषा व ज्योतिर्मयी सिकदर भी ऐसी ही जातियों से नहीं हैं, जिनका श्रम से दूर-दूर का भी संपर्क नहीं रहा। इन खिलाड़ियों की क्षमताओं को, इनके जाति संपर्क को महज संयोग मानकर नजरअंदाज कर देना, भविष्य की हमारी खेल की योजनाओं को प्रभावित करेगा। यदि हमारे खेल प्रशासक ओलंपिक की मेजबानी पाने के लिए पदक जीतने के प्रति गंभीर हैं तो उन्हें चाहिए कि भविष्य के लिए प्रतिभाएं चयन करते समय श्रमजीवी जातियों को तरजीह दें।

खिलाड़ियों की महत्वाकांक्षा में बाधक जाति

दक्षिण कोरिया और जापान की साझा मेजबानी में आयोजित विश्वकप फुटबाल 2002 समाप्त हो गया जिसमें 31 मई से 30 जून 2002 तक कुल 20 मैदानों पर 64 मैच खेले गए। इस दरम्यान हर बार की तरह ही दुनिया पर फुटबाल का उन्माद छाया रहा। फाइनल मुकाबला ब्राजील और जर्मनी जैसी शक्तिशाली टीमों के मध्य हुआ जिसमें ब्राजील ने जीत हासिल की। हालांकि फाइनल अंततः दो शक्तिशाली टीमों के मध्य ही हुआ लेकिन इस बार का विश्वकप शक्तिशाली टीमों के शुरुआती दौर में विदाई के लिए ही ज्यादा यादगार रहा जिसके मूल में रहा अफ्रीका के सेनेगल और एशिया के दक्षिण कोरिया और जापान का असाधारण कारनामा।

दुनिया ने इसके पहले फुटबाल में अफ्रीका के कैमरुन, नाइजीरिया और दक्षिण_अफ्रीका का जलवा देखा था। लेकिन विश्वकप 2002 में बारी अफ्रीकन नेशन्स कप जैसे प्रतिष्ठित फुटबाल टूर्नामेंट के फाइनल में पहुंची सेनेगल की थी। जिस फ्रांस का सेनेगल कभी उपनिवेश था उस फ्रांस को उद्घाटन मैच में ही हराकर सनसनी फैला देने वाले सेनेगेली शेरों की गति, स्किल और दमखम पर विराम क्वार्टर फाइनल में ही जाकर लगा। क्वार्टर फाइलन में हारने के पूर्व तक जहां सेनेगली टीम फुटबाल प्रेमियों की सबसे चहेती टीम बन चुकी थी वहीं अल हद्जी डियूफ, सांलिफ दियाओ, फर्दीनांद कोली, हेनरी कमारा नये नायक। सेनेगल के हैरतअंगेज उभार को देखते हुए फुटबाल सम्राट पेले को कहना पड़ गया – *'आने वाले दिनों में अफ्रीका फुटबाल जगत पर राज करेगा'*!

ऐसा क्यों कर हो गया कि जिस सेनेगल को फुटबाल विशेषज्ञों ने हिसाब के बाहर रखा, वह एक चैम्पियन जैसी छाप छोड़ गया? दरअसल सेनेगल की इस सफलता के मूल में है खुद को प्रमाणित करने की अश्वेतों की उत्कट चाह जिसकी शुरुआत जेसी ओवेन्स ने की। 1936 के बर्लिन ओलंपिक में अवसर का लाभ उठाकर ग्रेनाइट से भी काले अमेरिका के तरुण एथलीट जेसी ओवेन्स ने लांग जम्प, 100 मीटर, 200 मीटर और 400 मीटर की रिले रेस में स्वर्ण पदक जीत कर न सिर्फ हिटलर के आर्य रक्त के दम्भ को चूर-चूर कर दिया था बल्कि खेलों के रास्ते कालों को उन लोगों पर अपनी श्रेष्ठता साबित करने का प्रेरणा भी दी– जो लोग अपने श्वेत चर्म के कारण खुद को श्रेष्ठतर मनुष्य प्राणी समझते हैं। जेसी से प्रेरणा लेकर अश्वेत बॉक्सिंग, एथलीट, बास्केट बाल, क्रिकेट इत्यादि में तो दबदबा बना लिए किन्तु टेनिस, गोल्फ, फुटबाल जैसे खेलों में वे वह बात पैदा न कर सके। पर, चूंकि अश्वेतों ने अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए खेलों को माध्यम बना लिया था इसलिए टेनिस में विलियम्स बहनें, गोल्फ में टाइगर वुड जैसे लोग आगे आ रहे हैं। फुटबाल में नाइजीरिया, कैमरुन, ट्यूनीशिया (यद्यपि ये टीमें विश्वकप 2002 में दूसरे राउंड में नहीं पहुंच पाईं) और

सेनेगल की सफलता की मूल कुंजी यही है। इनमें चैम्पियन बनने के गुण हैं, कमी बस अनुभव की है। जिस दिन ये अनुभव से लैस हो जाएंगी, पेले की भविष्यवाणी भी सत्य हो जाएगी। खुद को प्रमाणित करने की कालों की इस उत्कट चाह का एहसास गोरों को हो चुका है इसलिए वे इस चाह का इस्तेमाल अपने देश की गौरववृद्धि में करने के लिए इन्हे भारी सहूलियतें देकर अपने देश की नागरिकता प्रदान कर रहे हैं। यही कारण है कि इंग्लैण्ड, फ्रांस इत्यादि की टीमों में कई अश्वेत चेहरे नजर आ रहे हैं। आर्य रक्त का दम्भ पोषण करने वाले हिटलर के देश की टीम में भी जेंस जरमीज को प्रतियोगिता में पांच गोल करने वाले मिरोस्लाव क्लोज की जगह लेते देखा गया।

खुद को साबित करने की अतिरिक्त चाह में दक्षिण कोरिया ने इस विश्वकप में चमकप्रद फुटबाल खेलते हुए अपने राष्ट्र के गौरव को शिखर पर पहुंचाया। उसने एशियाई फुटबाल को इतनी गरिमा प्रदान कर दिया कि इसके कोटे में बढ़ोत्तरी की मांग उठने लगी है। हालांकि सह मेजबान जापान ने भी शानदार खेल का मुजाहिरा किया पर द. कोरिया की बात ही और रही। जो कोरिया इसके पहले विश्वकप में पांच बार शिरकत कर अपने कुल चौदह मैचों में एक भी जीत दर्ज करने में नाकाम रहा, आन जुंग ह्वान, पार्क जी-सुंग, चा दु-री, सोंग चोंग-गग जैसों के विस्फोटक प्रदर्शन के सहारे वह इस बार, पोलैण्ड, पोर्तुगाल, इटली, स्पेन जैसी शक्तिशाली टीमों को रौंदते हुए सेमी फाइनल में पहुंचने वाली एशिया की पहली टीम बन गई। 1998 में भव्य सिओल ओलंपिक के आयोजन के बाद 2002 में जापान के साथ मिलकर सुव्यवस्थित, सुरक्षित व प्रेरणास्पद विश्वकप फुटबाल मुहैया कराने वाली द. कोरिया के सामने मुख्य लक्ष्य थे- *जापान से बेहतर परिणाम देना और अपनी शक्तिशाली आत्म गौरव की छवि को कायम रखना*। कहना न होगा वह अपने लक्ष्य में कुछ ज्यादा ही सफल रहा। जिस तरह सेनेगल कभी फ्रांस का उपनिवेश था, वैसे ही द. कोरिया जापान का उपनिवेश रहा। उस दौरान जहां लाखो-लाख कोरियाई युवकों को जापानी फौज, कल-कारखानों, खदानों इत्यादि में गुलामों की भांति इस्तेमाल किया गया वहीं युवतियों से यौन-दासी का काम लिया गया। कोरिया उस अपमान को भूला नहीं है। इसलिए स्वयं को जापान से बेहतर सिद्ध करने की उसमें जबरदस्त चाह रही है। इस चाह ने ही उसे जापान को शेष सोलह टीमों में छोड़ते हुए, चौथी सर्वश्रेष्ठ टीम बनने की प्रेरणा दी। इस क्रम में वह इटली को हराकर अपनी प्रतिद्वंद्वी उस उत्तरी कोरिया की भी बराबरी कर ली जिसने 1966 के विश्वकप में इटली को हराया था।

लेकिन खुद को प्रमाणित करने की उत्कट चाह ही अगर रंगभेद व उपनिवेशवाद का शिकार रहे सेनेगल और द. कोरिया जैसे देशों की सफलता का अन्यतम प्रधान कारण है तो भारत में वैसा क्यों नहीं हो पाया? अर्थात् भारत के मानवेतरों में यह उत्कट चाह क्यों न पैदा हो सकी और अन्तरराष्ट्रीय स्पर्धाओं में सदा निचले पायदान पर रहने वाला भारत क्यों नहीं सेनेगल या द. कोरिया बन सका? दरअसल जिस तरह भारत की हर समस्या के तार वर्ण/जाति व्यवस्था से जुड़े हैं वैसे ही उपरोक्त क्यों के जवाब भी इसी से जुड़े हैं। हमने जो उपेक्षित और दबे-कुचले लोगों की सफलता के पृष्ठ में खुद को प्रमाणित करने की उत्कट इच्छा

को मूल कारण में चिन्हित किया है उसके लिए प्रधान शर्त यह है कि उनमें यह एहसास पैदा हो कि वे भी औरों के समान मनुष्य प्राणी हैं। जब तक प्रतिपक्ष के मुकाबले यह एहसास पैदा नहीं होगा तब तक उनके मुकाबले में खुद को प्रमाणित करने की चाह ही पैदा नहीं होगी। मानव सभ्यता के इतिहास की यह विराटतम त्रासदी ही मानी जाएगी कि भारत की बहुसंख्यक आबादी जो हिन्दू शास्त्रों द्वारा सदियों से मानवेतर बना दी गई है, में यह एहसास ही आज तक पैदा नहीं हो पाया कि वह भी औरों की तरह की मनुष्य है, मानवेतर नहीं। चूंकि मनुष्य होने का एहसास पैदा नहीं हो पाया इसलिए उनमें तथाकथित श्रेष्ठ जनों की भांति समस्त मानवीय अधिकारों व सुख-सुविधाओं के भोग की आकांक्षा ही पैदा न हो सकी। इस मानसिकता का सही विश्लेषण करते हुए सुप्रसिद्ध दलित मनीषी एस.के. विश्वास ने लिखा है *-जाति-भेद व्यवस्था में एक विशेष वन्ध्याकरण (स्टेरलाइजेसन) पद्धति से शूद्रातिशूद्र दासों में स्वाधीनता की इच्छा, वित्त-वासना, धर्म-वासना इत्यादि इस तरह से विलुप्त कर दी गई है कि वे टाटा-बिड़ला, हेनरी फोर्ड या किसी धाम का शंकराचार्य होने का दु:साहस पूर्ण सपना नहीं देखते*। विश्वास साहेब की बात को आगे बढ़ाते हुए कहा जा सकता है कि भारत के मानवेतर टाटा-बिड़ला, हेनरी फोर्ड की भांति ही पेले, माराडोना, कार्ल लुईस, मेरियन जोंस इत्यादि बनने का भी सपना नहीं देखते। वास्तव में उच्च्वाकांक्षा (ऐस्पिरेसन) के रोग से बहुसंख्यक लोगों के आक्रांत न होने के कारण ही भारत में किसी किस्म की क्रांति नहीं हो पाई, यह बात न तो भारत के समाजशास्त्रियों, बड़े-बड़े क्रांतिकारियों और न ही खेल अधिकारियों ने समझा है। समझा तो एकमात्र कांशीराम ने। इसलिए उन्होंने सहस्रों साल की दास जातियों का मानसिक इलाज करके उनमें शासक बनने का ऐस्पिरेसन पैदा करने में काफी हद तक सफलता पा ली है।

ऐसा नहीं कि मानवेतरों के विराट समूह में किसी में मनुष्य होने का एहसास पैदा नहीं हुआ। प्राचीनकाल से ही बराबर कुछ ऐसे लोग पैदा होते रहे हैं जिनमें मनुष्य होने का एहसास और खुद को श्रेष्ठजनों के मुकाबले में प्रमाणित करने की उत्कट चाह रही है लेकिन प्रमाणित करने का मंच न मिलने के कारण वे लक्ष्य को पूरा नहीं कर पाए। कारण इस देश की वर्ण-व्यवस्था में कर्म-संकरता की निषेधाज्ञा के कारण, अंग्रेजों का शासन कायम होने के पूर्व तक, शिक्षा, समरक्षेत्र, शासन-प्रशासन या व्यवसाय-वाणिज्य, खेल-कूद इत्यादि में प्रतियोगिता करने का अवसर मात्र विशेष-विशेष जाति/वर्णो के सदस्यों के लिए रहा, सबके लिए नहीं। इसलिए यहां एकलव्यों के अंगूठे काटकर व कर्णों को क्रीड़ांगन से दूर रखकर अर्जुनों को ही चैम्पियन बनाने का उपक्रम होता रहा है। इक्कीसवीं सदी में भी भारत की आत्मा जहां वास करती है अर्थात् गांवों में अर्जुनों को ही चैम्पियन बनाने के लिए क्रीड़ांगन सजते हैं। वहां मानवेतर जातियों का कोई फास्ट बॉलर बाबू साहेबों पर न तो बाउन्सर-बीमर फेंक सकता है, न ही कोई फुलबॉलर टैकल करके उन्हें जमीन पर गिरा सकता है। कुश्ती के अखाड़ों में भी बाबू साहेब या बाबाजी लोगों को दलित-पिछड़ा नहीं पटक सकता, चाहे वह जितना ही बेहतर कुश्तीगीर हो।

भारत के जाति समाज के विपरीत विश्वभर के श्रेणी समाजों में बराबर से प्रतियोगिता का मंच सबके लिए मुक्त रहा है। चूंकि वहां प्रतियोगिता का मंच सबके लिए मुक्त रहा है इसलिए दास हो या स्वामी सबके लिए प्रतिभा प्रदर्शन का अवसर भी सुलभ रहा। 1936 में अमरिका में आज की तुलना में कई गुना नस्लभेद होने के बावजूद, प्रतियोगिता का अवसर सबके लिए खुला होने के कारण ही जेसी ओवेन्स बर्लिन ओलंपिक में अपनी प्रतिभा का लोहा मनवा कर अश्वेतों के लिए प्रेरणास्रोत बन गए। दक्षिण कोरिया में भी यह अवसर सबके लिए सुलभ था इसलिए 1936 के ही बर्लिन ओलंपिक में जापानी उपनिवेश का नागरिक होकर भी कोरियाई सोह्न की-चुंग मैराथन चैम्पियन जीतने का अवसर पा गए। यह बात और है कि यह जीत जापानी उपनिवेश का नागरिक होने के कारण जापान के खाते में दर्ज हुई। श्रेणी समाजों जैसा भारत के जाति समाज प्रतियोगिता का उपयुक्त माहौल न होने के कारण, जिन मानवेतरों में खुद को प्रमाणित करने की उत्कट चाह पैदा हुई है, वे अश्वेतों जैसा कमाल दिखाने में नाकाम हैं।

मानवेतरों में मनुष्य होने के एहसास के अभाव के अतिरिक्त एक प्रमुख समस्या यह है कि विभिन्न खेल समितियों पर कुंडली मारे प्रभु वर्ग के लिए राष्ट्रप्रेम महज एक लोक लुभावन नारा है जिसकी आड़ में वह हाथ से निकलती सत्ता कब्जा जमाए रखना चाहता है। सच्चे राष्ट्रप्रेम के अभाव में पश्चिम के श्वेत शासकों से प्रेरणा लेकर दबे-कुचले की खुद को प्रमाणित करने की उत्कट इच्छा को, वह राष्ट्र की गौरव वृद्धि इस्तेमाल के लिए प्रस्तुत नहीं हो रहा है। यही कारण है वह प्रतिभा चयन के दौरान सवर्णों को मौका देने का कोई अवसर गंवाता नहीं। एक तो सवर्ण खिलाड़ियों में खुद को अन्तरराष्ट्रीय स्तर साबित करने की जबरदस्त चाह नहीं हैं क्योंकि ये सौ करोड़ की आबादी पर श्रेष्ठ बन कर संतुष्ट हैं। दूसरे ये परजीवी जातियों से आते हैं। ये क्रिकेट, शतरंज और बिलियर्ड जैसे ऐसे ही कुछ खेलों में कमाल दिखा सकते हैं जिनमें दम-खम नहीं महज अभ्यास और तकनीक के सहारे सफलता पाई जा सकती है। क्रिकेट में तेज गेंदबाजी और फिल्डिंग में भारत इसलिए कमजोर है कि इनमें दम-खम की जरूरत है। हाकी में भारत तभी तक सफल होता रहा जब कि यह खेल कलाइयों के जादू पर निर्भर था। आज पावर गेम का रूप अख्तियार करने के कारण इसमें हमारी दशा करुण हो गई। जहां तक फुटबाल का सवाल है उसमें तो बराबर दम-खम की जरूरत रही है और भारत में जहां तक दम-खम का सवाल है, अस्पृश्य-पिछड़े धर्मान्तरित अल्पसंख्यक एवं जंगल-पहाड़ों में वास करने वाले आदिवासी ही इससे समृद्ध हैं। खसावा जाधव, लिएंडर पेस, पी.टी. उषा, कर्णम मल्लेश्वरी, ज्योतिर्मयी सिकदर, बाईचूंग भूटिया इत्यादि की सफलता इसकी साक्षी है।

फुटबाल विश्वकप 2002 की समाप्ति के बाद निश्चय ही कुछ दिनों के लिए भारतीय फुटबाल की दशा में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने की योजना की गूंज सुनाई पड़ेगी। लेकिन कोई भी योजना, फुटबाल हो या ओलंपिक, तब तक क्रांतिकारी परिणाम नहीं दे पाएगी जब तक खेलों में जाति-जनित बाधाओं को दूर नहीं कर लिया जाता है।

खेलों में आरक्षण खेल नहीं

मुख्यमंत्री मायावती खेलों में आरक्षण की पहलकदमी के अपने फैसले को जिस तरह प्रमुख खेल सचिव को निलंबित करते हुए ने वापस ले लिया है, उससे मेरिटवाले हिन्दू-आरक्षणवादियों को आधुनिक आरक्षण में कर्मठता और दक्षता पर सवालिया निशान खड़ा करने का एक स्वर्णिम अवसर मिल गया है। ज्ञातव्य है कि खेल दिवस की पूर्व संध्या पर 27 अगस्त को उत्तर प्रदेश की मुख्यमंत्री मायावती की ओर से राज्य सरकार ने खेल के क्षेत्र में आरक्षण की घोषणा की थी। साथ ही सस्ते गल्ले की दुकानों में आरक्षण देने की नीति तय हुई थी। अधिकारियों की बैठक करके, दोनों स्पोर्ट्स कालेज, छात्रावास में पचास फीसदी आरक्षण जल्द से जल्द लागू करने का निर्णय लिया गया था। लेकिन कई खेल संगठनों, खिलाड़ियों, राजनीतिज्ञों व बुद्धिजीवियों ने खेल में चयन का आधार सिर्फ प्रतिभा बताते हुए खेलों में आरक्षण की पहलकदमी पर तीव्र विरोध जताया। इस नये आरक्षण के विरुद्ध देशव्यापी तीव्र प्रतिक्रिया को देखते हुए, विवादास्पद तरीके से मुख्यमंत्री ने अपना फैसला 29 अगस्त को वापस ले लिया। पचास फीसदी आरक्षण के दायरे में आने वाली जातियों के नेताओं को आरक्षण विरोधियों के विरोध पर, चुप्पी साधते देख मायावती ने जब अपना निर्णय वापस ले लिया तब हिन्दू आरक्षणवादियों को मीडिया में यह प्रश्न उछालने का मौका मिल गया कि जब खेल के क्षेत्र में आरक्षण अप्रासंगिक है तो अन्य क्षेत्रों, विशेषकर नौकरियों में क्यों नहीं अप्रासंगिक है?

दरअसल जब से संविधान में दलितों के लिए आरक्षण सुनिश्चित हुआ तभी से यह सवर्णों के दिल में शूल बनकर चुभने लगा। पर जब मंडल की सिफारिशों के बाद आरक्षण में पिछड़ों को भी शामिल कर लिया गया तब चुभन असहनीय हो गई। इसका बहिर्प्रकाश मंडल के दिनों में आत्मदाह व तमाम तरह की विध्वंसक गतिविधियों के रूप में सामने आया था। चूंकि उन्हें लगता है आंबेडकर प्रवर्तित आरक्षण से दक्षता और कर्मठता की उपेक्षा होती है इसलिए उनके हृदय की अतल गहराइयों में आरक्षण के ईर्ष्या की नागिन कुंडली मारे बैठ गई है। और जब-जब कोई अवसर मिलता है वे विषवमन करने लगते हैं। वास्तव में दोष भारत के समाजशास्त्रियों का है जिन्होंने इन निरिह आरक्षण विरोधियों को यह सत्य कभी बताया नहीं कि वे हजारों वर्षों से एक ऐसी आरक्षण-व्यवस्था का लाभ उठाते रहे हैं जिसमें आज के आरक्षित वर्ग के लिए कोई अवसर ही नहीं रहा। अगर उन्होंने इससे अवगत कराया होता तो निश्चय ही इनमें आरक्षण के प्रति ईर्ष्या की जगह प्रायश्चित की भावना क्रियाशील रहती।

सहस्रों वर्षों से आज के आरक्षण विरोधी जातियों के लोग जिस आरक्षण व्यवस्था का लाभ उठाते रहे हैं उसका नाम हिन्दू-आरक्षण उर्फ वर्ण-व्यवस्था है। इस हिन्दू आरक्षण में

जन्मसूत्र से निर्दिष्ट पेशे, विचलनशीलता अर्थात कर्म-संकरता की निषेधाज्ञा के कारण, एक-एक वर्ण/जाति के लिए आरक्षित होकर रह गए। फलतः पौरोहित्य, अध्यापन, मंत्रोपचार, राजाओं को मंत्रणादान इत्यादि ब्राह्मणों के लिए; जमींदारी, राज्य-संचालन, सैन्य वृत्तियां क्षत्रियों एवं पशुपालन, व्यवसाय वाणिज्यादि वृत्तियां वैश्यों के लिए आरक्षित रहीं। राष्ट्र के तमाम संसाधन एवं उच्चकोटि के लाभकारी पेशे जहां सवर्णों के लिए आरक्षित रहे वही ब्रिटिशराज पूरी तरह से कायम होने के पूर्व तक शूद्रों (दलित-पिछड़ों) के लिए उनके आरक्षित क्षेत्र में घुसना असम्भव था। कई हजार सालों से जारी हिन्दू-आरक्षण में अपनी दक्षता और कर्मठता के प्रदर्शन का जो अवसर भारत के मुट्ठी भर अल्पजनों को मिला वह विश्व के अन्यान्य समाजों में किसी को नहीं मिला। इस अवसर का लाभ उठाकर ही जहां शस्त्र निषिद्ध बहुजन भारत के जन-अरण्य में मुट्ठी भर शस्त्रधारी सिंह बनकर विचरण करते रहे, वहीं मात्र कुछ अक्षरज्ञान के स्वामी ब्राह्मण, पंडित व भूदेवता बनकर पूजित होते रहे। और वैश्य तो व्यावसायिक प्रवीणता के पर्याय बनकर रह गए। इनकी कर्मठता और दक्षता का लाभ राष्ट्र को किस रूप में मिला? देश को मिली विश्व इतिहास की सबसे लम्बी पराधीनता एवं असंख्य रोग-व्याधि और प्राकृतिक प्रतिकूलताओं से जूझने के लिए मिला 33 करोड़ देवताओं को संतुष्ट करने का असंख्य सूत्र। कुदरत के सामने जहीनी जंग न छेड़कर, आत्मसमर्पण करने वाले पंडित वर्ग से परवर्तीकाल में कोई कोपर्निकस, गैलेलियो, लियानार्दो, ब्रूनो, फ्रांकास्टोरो, विलियम हार्वे पैदा नहीं हो सका। शौर्य के प्रतीक क्षत्रियों में से कोई सिकन्दर तो बना ही नहीं, ड्रेक हाकिन्स, फ्लेशियर, वार्थेल्म् दियाज, कोलम्बस जैसे साहसिक लोगों का लघु रूप भी न बन सका जिन्होंने समुद्र की दिल दहला देने वाली लहरों का दिलेरी से सामना करते हुए नये-नये देश ढूढ़ निकाले थे। व्यवसाय प्रवीण वैश्यों की योग्यता का हाल यह रहा कि देश का धन पूंजी में तब्दील होने के लिए तरसता ही रह गया।

वर्तमान में मेरिट वालों की दक्षता और कर्मठता का सबसे बड़ा सूचक 'पेटेन्ट राइट' के क्षेत्र में भारत की दरिद्रता है। इस बात से सभी सहमत हैं कि भूमंडलीकरण के चलते भारत पर निकट भविष्य में विदेशियों की आर्थिक गुलामी तय है। यदि इस देश के सरस्वती और लक्ष्मी पुत्रों ने यहां के उद्योग-धन्धों को मुक्त बाजार प्रतियोगिता में मुकाबला करने लायक बनाया होता तो क्या आर्थिक गुलामी की संभावना उत्पन्न होती?

वास्तव में सदियों से अल्पजन मेरिट वालों ने अगर कहीं अपनी दक्षता और कर्मठता का परिचय दिया है तो बहुजन समाज को शोषित, निस्पेषित और मानवेतर बनाने में दिया है, जिसमें उनकी मददगार रही है हिन्दू आरक्षण व्यवस्था, जो राष्ट्र के संसाधनों और लाभकारी पेशों की वितरण-व्यवस्था से भिन्न कुछ है ही नहीं। इस वितरण-व्यवस्था में बहुजन समाज को कुछ वितरित नहीं किया गया। ऐसी व्यवस्था हिन्दू-राज के लिए ठीक हो सकती है परन्तु लोकतंत्र में अचल है। प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त पर आधारित लोकतंत्र का तो तकाजा है कि विविधता वाले समाज में प्रत्येक क्षेत्र में ही विविध समाजों का प्रतिनिधित्व प्रतिबिम्बित हो। इसलिए स्वाधीन भारत के परिचालन हेतु जब डॉ. आंबेडकर को संविधान निर्माण का दायित्व मिला, उन्होंने हिन्दू-आरक्षण को उलट कर प्रतिनिधित्व पर आधारित एक नया

आरक्षरण राष्ट्र को उपहार दिया। प्रतिनिधित्व पर आधारित नये आरक्षण में दलितों (अस्पृश्य-आदिवासियों) के राजनीति, सरकारी नौकरियों एवं शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश का आधार मिला। बाद में 52 प्रतिशत पिछड़ों को भी 27 प्रतिशत प्रतिनिधित्व सरकारी नौकरियों में मिला। लेकिन सदियों से ज्ञान, संपदा, संस्थाओं से दूर रखे गए लोगों को संविधान प्रदत आरक्षण से कितना प्रतिनिधित्व मिला इसका अनुमान उच्च शिक्षण संस्थाओं में दलित शिक्षकों के प्रतिनिधित्व से लगाया जा सकता है। वर्ष 2001 में प्रकाशित एक रिपोर्ट के मुताबिक देश भर के 246 विश्वविद्यालयों व उनसे सम्बद्ध कालेजों में शिक्षकों के कुल पदों में 22.5 प्रतिशत के हिसाब से 75000 पद दलितों के लिए हैं। वहां मेरिट की दुहाई देकर 70 हजार से अधिक पदों से दलितों को वंचित रखा गया है। मात्र केन्द्रीय और प्रादेशिक सिविल सर्विसेज और तृतीय एवं चतुर्थ श्रेणी की नौकरियों को छोड़कर बाकी जगहों पर दक्षता और कर्मठता की दुहाई देकर आरक्षित वर्ग को उनके प्रतिनिधित्व से वंचित किया गया है। और कर्मठता और दक्षता के नाम पर कैसे आरक्षण खत्म किया जाए, यही हिन्दू-आरक्षण की सुविधाभोगी गोष्ठी की दिनरात की कामना है।

विविध समाजों से गठित भारत नामक राष्ट्र में प्रतिनिधित्व पर आधारित आरक्षण के विरुद्ध क्रियाशील प्रभुवर्ग के चरित्र की तुलना जब हम अमेरिकी प्रभुवर्ग से करते हैं तो यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि इनमें सामाजिक विवेक का नितान्त अभाव है। यहां प्राचीन आरक्षण व्यवस्था में सदियों से संपदा, ज्ञान व संस्थाओं से बहिष्कृत किए गए लोगों को मात्र राजनीति, सरकारी नौकरियों में प्रतिनिधित्व सुलभ कराया गया है। जबकि अमेरिकी समाज में वंचितों को मात्र सरकारी नौकरियों ही नहीं. निजी क्षेत्र की नौकरियों, सरकारी व गैर-सरकारी संस्थानों में सामग्रियों की डीलरशिप और आपूर्ति, पत्रकारिता, फिल्म व टी.वी. में अभिनय, पटकथा लेखन, निर्देशन इत्यादि सहित सभी विभागों में डाइवर्सिटी (विविधता) सिद्धान्त के तहत प्रतिनिधित्व सुलभ कराया गया है। लेकिन वहां का प्रभुवर्ग कर्मठता और दक्षता की दुहाई देकर अमेरिकी दलितों को वंचित करने की जुगत नहीं भिड़ाता। बल्कि विपरीत इसके राष्ट्र के जीवन के प्रत्येक क्षेत्रों में वंचितों का प्रतिनिधित्व कैसे प्रतिबिम्बित हो इसके लिए स्वत:स्फूर्त प्रयास करता है। इसका प्रधान कारण यही है कि उनमें सामाजिक लोकतंत्र का विकास हो चुका है इसलिए उन्हें अपने देश की संपदा, ज्ञान व संस्थाओं में उन वंचितों का हिस्सा देने में कोई उज्र नहीं हो रहा है, जिनका सदियों से खुद उनके पुरुखों ने शोषण करके कमजोर बना दिया है। लेकिन भारत के प्रभुवर्ग में अपने पुरखों द्वारा सदियों से वंचित किए गए लोगों को भागीदारी देने की मानसिकता अगर नहीं विकसित हुई है तो उसके मूल में है हिन्दू-आरक्षण व्यवस्था।

हिन्दू-आरक्षण उर्फ वर्ण-व्यवस्था प्राचीन मनीषियों द्वारा प्रवर्तित होने के बावजूद हिन्दू ईश्वर द्वारा सृष्ट प्रचारित है। साथ ही इस व्यवस्था में जीवन यापन करने वाले चार प्रजाति के मानव व उनका कर्म पेशा भी ईश्वर द्वारा निर्दिष्ट है। हिन्दू ईश्वर श्रीकृष्ण ने *गीता* में खुद इसकी दाम्भिक घोषणा की है। ऐसे मानव सृष्टि में हिन्दुओं के दैविक-सिद्धान्त (डिवाइन थ्योरी) में आस्था के कारण सवर्ण यही समझते हैं कि अपने पूर्वजन्मों के सुकर्मों के कारण

देश के संसाधनों व उच्चमान के लाभकारी पेशों का भोग करने के लिए वे ईश्वर द्वारा ही अधिकृत हैं। इस आस्था के कारण ही, जिन्हें पूर्व जन्मों के कुकर्मों के कारण पवित्र शास्त्रों द्वारा जीर्ण-शीर्ण वस्त्र; टूटे-फूटे बर्तनों व लोहे के गहनों पर गुजर-बसर करने का आदेश दिया गया है, उन्हें संपदा, ज्ञान व संस्थाओं में भागीदार बनाने के लिए प्रभुवर्ग का मन तैयार नहीं होता। यही कारण है खेलों में भी वंचित जातियों का प्रतिनिधित्व घोषित होने पर देशव्यापी तीव्र प्रतिक्रिया हुई और इसके फलस्वरूप विवादास्पद तरीके से मायावती जी को अपना निर्णय वापस लेना पड़ा।

लेकिन ओलंपिक, एशियाड व खेलों की दूसरी अन्तरराष्ट्रीय स्पर्धाओं में अक्सर निचले पायदान पर रहने वालों द्वारा के [दलित-पिछड़ों के तुलना मूलक रूप से बेहतर प्रदर्शन को देखते हुए,] खेलों में नये आरक्षण का प्रतिवाद करने की कोई युक्ति है? किसी जमाने में राष्ट्रों के शौर्य का प्रतिबिम्बन युद्ध के मैदान में होता था, आज खेलों के मैदान में होता है। युद्ध हो या खेल, दोनों में जिस्मानी दम-खम की खास जरूरत होती है। विशेषकर खेलों में उचित प्रशिक्षण और सुविधाओं से भी बढ़कर, सबसे आवश्यक दम-खम होता है। सर्गई बुबका, कार्ल लुईस, माइकल जॉनसन, मोहम्मद अली, माइक टायसन, मेरियन जोन्स, जैकी जयनर, इयान थोर्पे इत्यादि की गगनचुम्बी सफलता के मूल में अन्यान्य सहायक कारणों के साथ, प्रमुख कारण जिस्मानी दम-खम रहा है। दमखम के अभाव में ही हमारे खिलाड़ी ओलम्पिक, एशियाड, कामनवेल्थ खेलों में फिसड्डी साबित होते रहे हैं। जहां तक शारीरिक क्षमता का प्रश्न है, हमारी भौगोलिक स्थिति अनुकूल नहीं है। लेकिन इस भौगोलिक स्थिति से उत्पन्न जलवायुगत प्रतिकूलताओं से भी जूझकर इस देश की कुछ मानव गोष्ठियां अपनी असाधारण शारीरिक क्षमता का परिचय देती रही हैं। जन्मसूत्र से महज कायिक श्रम करने वाली इन्हीं परिश्रमी जातियों की संतानों में से खशाबा जाधव, लिएंडर पेस, कर्णम मल्लेश्वरी ने जहां ओलंपिक में भारत का कुछ सम्मान बढ़ाया है वहीं पी.टी. उषा, ज्योतिर्मयी सिकदर ने ऐशियाड में झंडा गाड़ा है। यहां अनुत्पादक जातियों से गीत सेठी, सचिन तेन्दुलकर, सुनील गावस्कर प्रकाश पादुकोण, विश्वनाथ आनंद इत्यादि ने वैसे ही खेलों में सफलता पाई है जिनमें जिस्मानी दमखम नहीं मात्र तकनीकी कौशल व अभ्यास के सहारे चैम्पियन हुआ जा सकता है। भारत में सबसे लोकप्रिय खेल क्रिकेट में फास्ट बॉलिंग में सवर्णों का कोई खास अवदान इसलिए नहीं है क्योंकि इसमें दमखम की जरूरत है।

लेकिन जो परिश्रमी जातियां खेलों में कमाल दिखा सकती हैं उन्हें खेल समितियों में छाए उच्चवर्णीय चयनकर्ताओं के पक्षपात का शिकार बनना पड़ता है, जिसका खामियाजा राष्ट्र को भुगतना पड़ता है। ऐसे में उत्पादक जातियों के लिए आरक्षण की वकालत करना गलत नहीं है। इतिहास साक्षी है कि मात्र कानून बनाकर ही बहुजन समाज को भागीदारी सुलभ करायी जा सकती है क्योंकि यहां की प्रभुजातियों में सामाजिक विवेक विकसित ही नहीं हो पाया है। जब तक मायावती जैसी हस्तियां पहलकदमी नहीं करेंगी तब तक बहुजन समाज को अपना सर्वत्र लोकतांत्रिक अधिकार अर्थात प्रतिनिधित्व कैसे मिलेगा ?

चैनलों से बाहर दलित

विगत दिनों में राजस्थान के चकवाड़ा और हरियाणा के झज्जर व चमराना गांव में सक्रिय हिन्दू आतंकवाद एवं दसवीं पंचवर्षीय योजना में 78 हजार करोड़ रुपये जुटाने के लिए वाजपेयी सरकार की विनिवेश नीति द्वारा स्वाधीन भारत में आरक्षण पर सबसे बड़े हमले से त्रस्त दलित दुनिया में एक खुशी का भी झोंका आया है जिसका श्रेय निश्चय ही जैन टी.वी. को जाता है। विगत कुछ माह से यह टी.वी. चैनेल प्रत्येक रविवार को शाम सात बजे *दलित आवाज* नामक एक आधे घंटे का कार्यक्रम प्रसारित कर रहा है जिसमें एंकर कीभूमिका धर्मान्तरण के लिए चर्चित उदितराज निभाते हैं। रविवार की उस *दलित आवाज* का पुन: प्रसारण मंगलवार और शुक्रवार की शाम को भी होता है। हालांकि जैन टी.वी. ने साल भर पूर्व डॉ. श्योराज सिंह 'बेचैन' की एंकरिंग में *दलित गाथा* नामक एक वैचारिक प्रोग्राम की शुरुआत भी की थी, जिसका प्रसारण कतिपय कारणों से चार-पांच सप्ताह बाद ही रोक दिया गया था। पर *दलित आवाज* का हश्र *दलित गाथा* जैसा न होने से दलितों में खुशी की लहर दौड़ रही है।

दरअसल दलित जिस अस्पृश्यता के शिकार हैं उसका दूसरा नाम 'बहिष्कार' है। ऐसा नहीं कि हिन्दू समाज की बहिष्कार (अस्पृश्यता) नीति के तहत दलित सिर्फ ग्रामीण हिन्दुओं द्वारा गावों की बस्तियों, जलाशयों एवं देवालयों इत्यादि से दूर रहने के लिए विवश किए गए हैं। सुशिक्षित व सभ्य माने जाने वाले शहरी हिन्दुओं ने भी इन्हें निर्ममता से बहिष्कृत कर रखा है। इनकी बहिष्कार नीति के कारण ही पढ़े-लिखे सक्षम दलित भी उद्योग-व्यापार, संस्थाओं, मीडिया इत्यादि विभिन्न सांस्कृतिक स्रोतों से बहिष्कृत हैं। भारत के द्वेषपूर्ण, जड़, कुसंस्कारग्रस्त बर्बर समाज में आमूल परिवर्तन लाने वाले लिपिबद्ध विचार जहां दलित साहित्य के रूप में धिक्कृत हैं वहीं साहित्य के नाम पर बंटने वाले ढेरों पुरस्कार दलितों के स्पर्श के बाहर की चीज हैं। राष्ट्र के विचारों का निर्माण करने वाली मीडिया में भी घोरतर रूप से अस्पृश्यता जारी है। पर हाल के दिनों में विचारों की दुनिया में दलितों के अस्पृश्यता मोचन का प्रयास भी विवेकवान शिक्षित हिन्दू समाज की तरफ से कुछ-कुछ होता दिखाई पड़ा है। इस कारण ही आंबेडकरवाद के प्रसार के लिए इस वर्ष डॉ. श्योराज सिंह 'बेचैन' और बुद्ध शरण हंस जैसे चर्चित साहित्यकार क्रमश: दिग्विजय सिंह और राबड़ी सरकार द्वारा बड़ी राशि के पुरस्कारों से सम्मानित किए गए हैं। कुछ शिक्षित एवं विवेकवान हिन्दुओं द्वारा दलितों के बहिष्कार के दूरीकरण संकल्प के कारण ही अंग्रेजी अखबार *दि पायोनियर* में *दलित डायरी* के लेखक चन्द्रभान प्रसाद को मुख्यधारा की प्रिन्ट मीडिया में एकमात्र दलित स्तम्भकार होने का अवसर मिला है। हिन्दू समाज की मानसिकता में आये इस बदलाव के कारण ही *दि पायोनियर, दि हिन्दू, राष्ट्रीय सहारा, जनसत्ता, जनसत्ता-एक्सप्रेस, दैनिक भास्कर, हिन्दुस्तान* जैसे अखबारों में चन्द्रभान प्रसाद के अतिरिक्त डॉ. विवेक कुमार, मोहनदास नेमिशराय, डॉ. श्योराज सिंह बेचैन, डॉ. तुलसीराम, उदितराज, डॉ. महेन्द्र प्रताप राणा, कंवल भारती और खुद इस लेखक के विचार कभी-कभी छप जाते हैं।

लेकिन दलितों की अस्पृश्यता दूरीकरण का जो प्रयास प्रिन्ट मीडिया में हुआ, उससे इलेक्ट्रानिक मीडिया का क्षेत्र पूरी तरह अछूता रहा। असंख्य टी.वी. चैनेलों की दुनिया में दलित पूरी तरह बहिष्कृत हैं। इन चैनेलों की दुनिया में परजीवी साधु-संतों के प्रवचनों, कुलीन वर्ग की सास-बहू की नोक-झोंक, समस्यामुक्त परिवारों की काबिले-रश्क जिन्दगी, विभिन्न प्रकार के खेल-कूद व तमाम तरह के सतही मनोरंजन के साथ बाल ठाकरे, प्रवीण तोगड़िया जैसे उन्मादियों के लिए तो जगह ही जगह है पर देश की एक चौथाई मनुष्येतर आवाज के लिए कोई स्थान नहीं है। यदि दूरदर्शन, स्टार न्यूज (एनडीटीवी), जी न्यूज, आज तक, ईटीवी, सहारा टीवी इत्यादि चैनेलों पर चौबीस घंटे चलने वाले प्रोग्रामों को कोई ध्यान से देखे तो वहां उस वर्ण-व्यवस्था, जिसमें दलित पूरी तरह बहिष्कृत (अस्पृश्य) हैं, की व्याप्ति स्पष्ट दृष्टिगोचर होगी। इन चैनेलों पर पटकथा लेखक, प्रोड्यूसर, एंकर, रिपोर्टर के रूप में किसी दलित को देखना प्राय: असम्भव है। वहां कुछ सेकन्डों के लिए कोई दलित चेहरा तभी नमूदार होता है जब चकवाड़ा, दुलीना जैसे कांड होते हैं। अत: जिस दुनिया में इतने वीभत्स रूप में दलित अस्पृश्यता के शिकार हैं वहां *दलित आवाज* के रूप में जैन टी.वी. द्वारा अस्पृश्यता मोचन की पहलकदमी का एक ऐतिहासिक महत्व है। शायद इस पहलकदमी से प्रेरित होकर इलेक्ट्रानिक मीडिया, प्रिन्ट मीडिया की भांति कुछ सकारात्मक कदम उठाने की दिशा में अग्रसर हो। लेकिन इलेक्ट्रानिक मीडिया की दुनिया में मनुष्येतरों की अस्पृश्यता का दूरीकरण ही अगर जैन टी.वी. का लक्ष्य है तो उसे *दलित आवाज* की एंकरिंग पर विशेष ध्यान देना होगा। वह जिम्मेवारी ऐसे दलितों को देनी होगी जो पूर्वाग्रहमुक्त एवं राजनीति, साहित्य, फिल्म, खेल-कूद इत्यादि विभिन्न विषयों पर एक साथ बेहतर समझ रखते हों। वे विचारों की सीमितता और अभिव्यक्ति की दुर्बलता के कारण दालित्य की करुण प्रतिमूर्ति न नजर आते हों।

अगर भारत के दूसरे टी.वी. चैनेल जैन टी.वी. से प्रेरित होकर अपने कार्यक्रमों के लोकतंत्रीकरण की दिशा में अग्रसर होते हैं तो यह राष्ट्रहित में प्रशंसनीय कदम होगा। क्योंकि भारत के दलित अमेरिका के विभिन्न सरकारी व निजी क्षेत्रों की भांति वहां की इलेक्ट्रानिक मीडिया में लागू- डाइवर्सिटी' से प्रेरित होकर आंदोलन का मन बना रहे हैं। 21वीं सदी के उनके एजेंडे में इलेक्ट्रानिक मीडिया में डाइवर्सिटी भी एक प्रमुख एजेंडा है। स्मरण रहे कि अमेरिका की इलेक्ट्रानिक मीडिया की दुनिया में छोटी-बड़ी संस्थाओं के साथ-साथ एनबीसी, एबीसी, सीबीसी, फॉक्स जैसी बड़ी संस्थाएं भी अमेरिकी अश्वेतों को लेखन, डायरेक्शन, एंकरिंग, तकनीकी विभागों में उनकी संख्यानुपात को छूने की दिशा में एक दूसरे से होड़ लगा रही हैं। इन क्षेत्रों में लोकतंत्रीकरण की यह प्रक्रिया वहां राष्ट्र की समृद्धि के लिए शांति को ध्यान में रखकर ही चलाई जा रही है, भारत के चैनेलों के स्वामी इसे समझें और मनन करें।

फिल्मों में उपेक्षित आंबेडकर

इस बार जब बामसेफ की मासिक पत्रिका *मूल निवासी* के नये अंक के पन्ने पलट रहा था, पत्रिका के सातवें पृष्ठ पर बामसेफ के राष्ट्रीय अध्यक्ष व मूल निवासी के सम्पादक वामन मेश्राम के साथ केनेथ ग्रिफिथ की छपी तस्वीर और उससे संबंधित खबर देखकर आश्चर्यचकित रह गया। खबर यह थी कि 22 सितंबर से 9 अक्टूबर तक की अपनी विदेश यात्रा के दौरान मेश्राम साहब, ब्रितानी अभिनेता और निर्देशक केनेथ ग्रिफिथ से अपनी मुलाकात के दौरान डॉ. आंबेडकर पर फिल्म बनाने की संभावनाओं पर विचार-विमर्श करने के बाद ब्रिटेन छोड़ने के पूर्व उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा था कि आंबेडकर पर फिल्म बनाने का उनका सपना वे निकट भविष्य में अवश्य ही पूरा करेंगे। मेरे जैसे लोग जो केनेथ ग्रिफिथ द्वारा रिचर्ड एटेनबरो की गांधी के मुकाबले, डॉ. आंबेडकर पर एक फिल्म बनने का सपना देखने लगे थे, निश्चय ही *मूल निवासी* में छपी वह खबर देखकर पुलकित हो उठे होंगे। कारण, उस खबर से लगा था कि केनेथ ग्रिफिथ प्राय: चौदह वर्षों की निराशा का अतिक्रमण कर आज भी डॉ. आंबेडकर पर फिल्म बनाने का सपना पाले हुए हैं। दूसरा यह कि उस सपने को पूरा करने का आश्वासन असाधारण मेधा और जीवट के धनी उस मेश्राम साहेब ने दिया है जिन्हें चन्द्रभान प्रसाद जैसे बुद्धिजीवी कांशीराम और मायावती के बाद दलितों की आशा और आकांक्षा का सबसे बड़ा प्रतीक मानते हैं। ऐसे मेश्राम साहब ने केनेथ ग्रिफिथ के ड्रीम प्रोजेक्ट *डॉ. आंबेडकर* के प्रति दलितों की प्रत्याशा नये सिरे से बढ़ाकर मेरे ख्याल से खुद पर बोझ ले लिया है, क्योंकि 1988 के मुकाबले 2001 में केनेथ ग्रिफिथ के *डॉ. आंबेडकर* के लिए परिस्थितियां और विकट हैं। जब राजीव गांधी जैसे उदार हिन्दू के जमाने में उन्हें डॉ. आंबेडकर पर फिल्म की शूटिंग के लिए वीजा नहीं मिला तो कट्टर हिन्दूवादी पार्टी भाजपा के अटल शासन में उसकी कैसे अनुमति मिल जाएगी?

ज्ञातव्य है कि स्वर्गीय इंदिरा गांधी और बाद में राजीव गांधी द्वारा आमंत्रित केनेथ ग्रिफिथ को अस्सी के दशक में भारत में कुछेक वर्ष गुजारने पड़े थे। उद्देश्य था भारत की जनता के पैसे से जवाहर लाल नेहरू पर एक ऐसी फिल्म बनाना जो पूरे विश्व में दिखाने लायक हो। उन्होंने वह फिल्म बनाई और अगर मेरी स्मरण शक्ति दगा नहीं दे रही है तो उस फिल्म का नाम *ड्रीम्स डीड नाट कम टू* था एवं जिसका प्रदर्शन दूरदर्शन पर नेहरू जन्म शताब्दी वर्ष में श्याम बेनेगल निर्देशित *भारत की खोज* के बाद ही हुआ था। नेहरू पर फिल्म की शूटिंग के दौरान दरिद्र भारत की दरिद्रतम बस्तियों में स्थापित डॉ. आंबेडकर की मूर्तियों ने उन्हें उनके विषय में जानने के लिए मजबूर कर दिया था। और जब उन्होंने डॉ. आंबेडकर के विषय में पढ़ा तो वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे बिना न रह सके कि यदि सरकार की तरफ से महापुरुषों पर फिल्म बनाने का निर्णय लिया जाता है तो वरीयता क्रम में गौतम बुद्ध के

बाद डॉ. आंबेडकर को ही होना चाहिए। जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि डॉ. आंबेडकर पर आजतक कोई फिल्म ही नहीं बनी है तो उन्होंने स्वयं उन पर फिल्म बनाने का निर्णय लिया। लंदन की टेम्स टीवी के निदेशक डेविड ऐलिस्टन के उत्साहवर्द्धन व वित्तीय सहयोग पर उन्होंने डॉ. आंबेडकर पर अध्ययन के बाद लिखी पटकथा और चयनित की शूटिंग स्थली और अपनी निर्माण मण्डली। बुनियादी तैयारियों के बाद सम्पूर्ण विवरण के साथ उन्होंने भारत सरकार से वीजा के लिए की गुजारिश। उन्हें पूरा भरोसा था कि जो सरकार अपनी जनता के पैसों से नेहरू पर फिल्म बनाने के लिए उन्हें पारिश्रमिक पर ला सकती है और गांधी पर फिल्म निर्माण में रिचर्ड ऐटनबरो के साथ सक्रिय भागीदारी निभा सकती है उस सरकार को उन्हें वीजा देने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती। लेकिन फरवरी 1989 में जब उन्हें यह सूचना मिली कि भारत सरकार उन्हें सिर्फ टूरिस्ट वीजा देने के लिए तैयार है, वह भी इस शर्त पर कि वे भारत में कहीं भी डॉ. आंबेडकर पर शूटिंग नहीं कर सकते, तो वे बहुत हताश व विस्मित हुए। हताश ग्रिफिथ ने पुनः पुनः अनुनय-विनय की, पर शूटिंग के लिए वीजा न पा सके। सामाजिक न्याय के मसीहा के वी.पी. सिंह भी उनकी मुश्किल आसान न कर सके। वे विभिन्न आंबेडकरवादी नेताओं और संगठनों के द्वारस्थ हुए पर कोई भी उन्हें वीजा उपलब्ध कराने में मददगार न हो सका। प्रसंगवश बता दूं कि, मैंने भी डॉ. आंबेडकर पर एक धारावाहिक निर्माण के लिए 1990 में मण्डी हाउस में प्रस्ताव डाला था। प्रस्ताव जमा करने के बाद लगभग चार सालों तक मैं भी अनेकों सवर्ण और आंबेडकरवादी नेताओं व संगठनों के द्वारस्थ हुआ था। पर, धारावाहिक निर्माण के लिए दूरदर्शन का अनुमोदन न पा सका। वर्षों के प्रयास के बाद हताश होकर मैंने डॉ. आंबेडकर पर सीरियल निर्माण के सपने को दफन कर दिया।

भारत में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो यह मानते हैं कि डॉ. आंबेडकर पर एक उम्दा फिल्म देखने की दलितों की ख्वाहिश जब्बार पटेल के *डॉ. आंबेडकर* ने पूरी कर दी है। ऐसा दावा वे ही कर सकते हैं, जिन्होंने *टेन कमांडमेन्ट्स, बेनहूर, लारेन्स ऑफ अरबिया, पैटन या गांधी* जैसी फिल्में नहीं देखी हैं। विभिन्न इतिहास पुरुषों के जीवन पर बनी पूर्व वर्णित फिल्मों के समक्ष जब्बार पटेल की फिल्म का वजूद क्या है? फिल्मों के प्रति काफी रुचि होने के बावजूद मैं स्वयं यह फिल्म आज तक नहीं देख पाया हूं क्योंकि उत्तर भारत में इस फिल्म का व्यावसायिक प्रदर्शन हुआ ही नहीं है। शायद इस फिल्म में मास अपील का घोर अभाव है या वितरक जानबूझकर आम दर्शकों तक इसकी पहुंच रोकने के इरादे से वितरित नहीं कर रहे हैं, कह नहीं सकता। लेकिन सीरी फोर्ट ऑडिटोरियम में पहली बार प्रदर्शन के बहुत पहले ही, 1998 में अपनी प्रकाशित पुस्तक *प्रचारतन्त्र और बहुजन समाज* में इस फिल्म के विषय में मैंने जो टिप्पणी की थी, उसे उन लोगों ने सही माना है जिन्होंने यह फिल्म देखी और मेरी पुस्तक भी पढ़ी थी। इस पुस्तक के पृष्ठ संख्या 61 पर मैंने लिखा था– *यह फिल्म भारत सरकार की ओर से बहुजन के लिए मजाक साबित होगी। ऐसी फिल्म न बना कर भारत सरकार डॉ. आंबेडकर पर विराट उपकार ही करती। डॉ. आंबेडकर पर सही फिल्म बनाने के लिए पचास करोड़ रुपया;* 'लारेन्स ऑफ अरबिया' के *डेविड लीन* या 'गांधी' *के*

रिचर्ड एटेनबरो जैसे डायरेक्टर के साथ-साथ 'गांधी' *के बेन किंगस्ले,* 'लारेन्स आफ अरेबिया' *के पीटर टूल अथवा मार्लन ब्रांडो के स्तर का सक्षम अभिनेता चाहिए।.... क्या एक सुपर-डुपर फ्लॉप फिल्म बनवाकर मनुवादी यह दिखलाना चाहते हैं कि नेहरू-गांधी के मुकाबले डॉ. आंबेडकर का कोई क्रेज नहीं है?* रिलीज के बाद जबकि डॉ. आंबेडकर फिल्म सुपर-डुपर फ्लॉप ही साबित होकर कई प्रान्तों में व्यावसायिक प्रदर्शन के अयोग्य करार दे दी गई है तो, मानना पड़ेगा कि इसके निर्माण के पीछे मैंने जिस षडयंत्र का संकेत किया था, वह अकारण नहीं था। यही नहीं, रिचर्ड एटेनबरो की *गांधी* ने सारी दुनिया में बाक्स आफिस पर धूम मचाने के बाद स्पीलबर्ग की लाजवाब सांइस फिक्सन *ई. टी.* के मुकाबले ऑस्कर में भी ज्यादा इनाम झटक लिया था, वहीं जब्बार पटले की *डॉ. आंबेडकर* बॉक्स आफिस पर औंधे मुंह तो गिरी ही, भारत की तरफ से ऑस्कर में प्रवेश तक न पा सकी। क्या भारत के शासक वर्ग ने इन्हीं परिणामों को ध्यान में रखकर इसका निर्माण नहीं किया था?

दरअसल जब्बार पटेल की इस कृति (कुकृति) के तार भी शायद ग्रिफिथ की ही नाकामी से जुड़े हुए हैं। डॉ. आंबेडकर पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की फिल्म बनाने की ग्रिफिथ साहब की परिकल्पना को ध्वस्त कर दिये जाने से जागरूक दलितों में शासक वर्ग के प्रति एक आक्रोश पनपने लगा था। 1978 में बामसेफ के द्वारा कांशीराम ने दलितों में जो चेतना विस्तार और पे बैक टू दी सोसाइटी का अभियान चलाया था उसका असर 90 के दशक में प्रत्यक्ष होने लगा था। इसी असर के चलते आंबेडकर जन्म शतवार्षिक में संसद के केन्द्रीय कक्ष में डॉ. आंबेडकर की तस्वीर लग चुकी थी। मगर यह जागरूक वर्ग डॉ. आंबेडकर जन्म शतवार्षिकी में नेहरू की *भारत की खोज* जैसा ही डॉ. आंबेडकर पर भी कुछ देखना चाहता था। उधर *रामायण, महाभारत* जैसे सीरियलों में हिन्दुओं के सांस्कृतिक नायकों के बहुप्रचार ने इनमें फुले, पेरियार, डॉ. आंबेडकर इत्यादि को भी छोटे परदे पर देखने की आकांक्षा पैदा कर ही रखी थी। इस बीच आरक्षण के खात्मे की सुपरिकल्पित योजना के तहत नरसिंहराव भूमंडलीकरण के मार्ग पर कदम बढ़ा भी चुके थे। कुल मिलाकर शासक वर्ग को दलितों में आक्रोश पनपने के कारण दिखने लगे। ऐसे में कुछ भावनात्मक राहत देना आवश्यक था। सम्भवत: इसी जरूरत के हाथों मजबूर 14 अप्रैल 1992 को भारत सरकार के तत्कालीन सूचना और प्रसारण मंत्री अजीत पांजा ने डॉ. आंबेडकर पर फिल्म बनाने की घोषणा कर दी। उनकी घोषणा के अनुसार उस फिल्म में पांच करोड़ केन्द्रीय सरकार और डेड़ करोड महाराष्ट्र सरकार का खर्च होना था। हालांकि बाद में उसके बजट में वृद्धि कर दी गई।

दलितों को कुछ भावनात्मक सुख देने के इरादे से केन्द्रीय सरकार ने फिल्म बनाने की घोषणा तो कर दी पर एक नई समस्या पैदा हो गई। उन्हें भय हुआ फिल्म इतनी अच्छी न बन जाए कि करोड़ो-करोड़ लोग इसे देखने के लिए टूट पड़ें क्योंकि उन लोगों ने देख लिया था कि *रामायण और महाभारत* सिरियलों ने हिन्दू-धर्म-संस्कृति के प्रति हिन्दुओं में क्रेज पैदा कर भाजपा के जनाधार को काफी आगे बढ़ा दिया था। इस फिल्म की भारी सफलता सामाजिक न्याय की लड़ाई को तीव्रतर कर सकती थी। ऐसे में जरूरत पड़ी एक ऐसे डायरेक्टर की जिसकी फिल्में दर्शकों द्वारा अस्वीकृत और मात्र कुछ थोड़े से समीक्षकों द्वारा

सराही जाती हों। इस किस्म के डायरेक्टर के रूप में जब्बार पटेल उपयुक्ततम व्यक्ति साबित हो सकते थे और उन्हें डॉ. आंबेडकर बनाने का दायित्व दिया भी गया। जब्बार पटेल की योग्यता से वाकिफ कुछ दलितों द्वारा उन्हें इस प्रोजेक्ट से हटाने के लिए आंदोलन भी चलाया गया। स्वयं सविता आंबेडकर ने एकाधिक बार प्रधानमंत्री नरसिंहाराव के दरबार में हाजिर होकर पटेल की जगह श्याम बेनेगल को डायरेक्टर के रूप में नियुक्त करने की अपील की थी। पर कोई भी विरोध, किसी भी किस्म की अपील पटेल साहब को इस फिल्म से दूर न कर सकी। उन्होंने अपनी स्वाभाविक क्षमता का भरपूर उपयोग करते हुए *डॉ. आंबेडकर* को इस लायक बनाया कि वह मनुवादी शासकों की प्रत्याशा को पूरा कर सके।

सांप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे की नीति का अनुसरण करते हुए निश्चित रूप से एक षडयन्त्र के तहत ही भारत सरकार ने जब्बार पटेल से *डॉ. आंबेडकर* का निर्माण कराया है। यह साजिश आंबेडकर के खिलाफ क्यों? दरअसल भारत में जन्मे असंख्य महापुरुषों की शृंखला में डॉ. आंबेडकर महज एक आम महापुरुष नहीं, अपने आप में एक ऐसी क्रान्ति का नाम था जो उस समाज व्यवस्था में आमूल परिवर्तन घटित करने के लिए आमादा थी, जिसका पोषक भारत का शासक वर्ग है। ऐसे लोगों को यह कैसे काम्य होगा कि क्रान्ति जन-जन तक पहुंचे। हां, ऐसी क्रान्ति के कुछ अनुसरणकारियों द्वारा सरकार पर उनकी उपेक्षा का आरोप लगाया जा सकता है। इसलिए इस आरोप से बचने के लिए शासक वर्ग *डॉ. आंबेडकर* जैसी फिल्म तो जैसे-तैसे बनवा देता है मगर उसकी निर्माण प्रक्रिया पर सजग दृष्टि रखते हुए ऐसा उपाय करता है कि यह जन-जन तक न पहुंचे। शासक वर्ग की इस साजिश के चलते ही डॉ. आंबेडकर की तरह गौतम बुद्ध, फुले, पेरियार, शाहूजी महाराज, चोखामेला, नामदेव, रैदास इत्यादि जैसे असंख्य बहुजन नायक फिल्म और टी.वी. के माध्यम से जन-जन तक पहुंचने से वंचित रहे हैं। अगर ये बहुजन नायक सिर्फ व्यवस्था सुधार की बात किए होते तो देश की जनता के कर (टैक्स) के करोड़ो-करोड़ो रुपयों का सरकार ने, एन.एफ.डी.सी., फिल्म डिविजन और दूरदर्शन के माध्यम से जिस तरह असंख्य महापुरुषों की जीवनियां व संदेश पहुंचाने में खर्च किया है, उसका कुछ प्रतिशत इन अभागों पर भी करती। लेकिन इनका लक्ष्य तो इन्हें जन-जन तक पहुंचने से रोकना है इसलिए एनएफडीसी या दूरदर्शन के माध्यम से सरकारें कुछ खर्च तो करती नहीं उल्टे यदि कोई केनेथ ग्रिफिथ अपने पैसे से *डॉ. आंबेडकर* फिल्म या कोई दलित धारावाहिक बनाना चाहता है तो उन्हें हर तरह से अवरोध झेलना और प्रायः असफल ही रहना पड़ता है। स्मरण कि रहे मुंबई के डॉ. श्याम धावरे बेनेगल के निर्देशन में मराठी में *डॉ. आंबेडकर* पर एक सीरियल का पायलट तैयार कर वर्षों से प्रसारण की प्रतीक्षा में बैठे हैं। पर, उन्हें प्रायोजक ही नहीं मिल रहे हैं। निश्चित रूप से एक साजिश के तहत ही ऐसा किया जा रहा है अन्यथा यह सीरियल तो रेटिंग में नंबर एक पर जाता।

चूंकि जाति समाज में व्यक्ति की सोच स्व-वर्ण/जाति की स्वार्थ-सरिता के मध्य ही प्रवाहित होती है और उसमें सर्व वर्ग की चेतना पूरी तरह विलुप्त रहती है इसलिए फिल्म व टी.वी. से जुड़ी हस्तियों ने सरकारों व साहित्यकारों की तरह ही उच्चवर्णों के स्वार्थ में सृष्ट

वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध क्रियाशील तत्वों को प्रचारित करने से परहेज किया है। फिल्मोद्योग कोई सरकारी संस्थान या धर्मार्थ ट्रस्ट नहीं विशुद्ध उद्योग और व्यापार है। अतः सामाजिक सेवा या सृजन का सुख फिल्मकारों के लिए गौण, व्यावसायिक लाभ ही उनका प्रधान लक्ष्य रहता है। इसलिए व्यावसायिक उद्देश्य से ही ये सपनों के सौदागर देवभक्ति, देशभक्ति इत्यादि विषय दर्शकों के समक्ष परोसते हैं। इसी क्रम में इन्होंने फिल्म टी.वी. में असंख्य हिन्दू नायकों की जीवनियां व संदेश प्रसारित किया है। पर व्यावसायिक लाभ को प्रधानता देने वाले ये फिल्मकार डॉ. आंबेडकर, फुले, पेरियार वगैरह बहुजन नायकों को प्रचारित करने से बराबर परहेज करते रहे हैं। बॉक्स आफिस पर भीड़ जुटाने लायक विषयवस्तु की तलाश में अलेक्जेंडर डूमा, अगाथा क्रिस्टी, इयान फ्लेमिंग, एलिस्टर मैक्लीन, जेम्स हेडली चेइज इत्यादि का साहित्य खंगालने और हॉलीवुड से मसाले चुराने में मशगूल भारतीय फिल्मकार, बॉक्स आफिस पर भारी सफलता की सम्भावना के बावजूद बहुजन नायकों पर फिल्म बनाने का लोभ संवरण किए हुए हैं। अगर ऐसा नहीं किए होते तो आचार्य अत्रे की *महात्मा फुले* वाली सफल फिल्म, जिसके मुहूर्त में अस्वस्थ शरीर लेकर भी डॉ. आंबेडकर स्वयं 8 जनवरी, 1954 को शरीक हुए थे, के बाद अनेकों बहुजन नायकों वाली फिल्में प्रदर्शित हो चुकी होतीं। पर, ऐसा इसलिए नहीं हुआ क्योंकि गौतम बुद्ध, फुले, पेरियार, शाहूजी, डॉ. आंबेडकर की दृष्टि कैमरे में गड़ाकर भारतीय समाज को देखने की मानसिकता इनमें आज तक विकसित ही नहीं हो पाई है। अतएव जब भारतीय फिल्मकारों और सरकारों का चरित्र यह है तो हमें यह मान लेना होगा कि, बहुजन नायकों पर सही फिल्म या धारावाहिक नहीं बन सकती। अगर बनेगी तो वह फिल्म जब्बार पटेल की *डॉ. आंबेडकर* जैसी होगी या धारावाहिक बनेगा तो वह डॉ. आंबेडकर पर आधारित उस 8 एपिसोड के डाक्यू-ड्रामा जैसा ही होगा जो 1992 की गर्मियों में प्रसारित हुआ था। जिसके घटिया निर्माण को देखते हुए खुद दलितों ने ही बीच में बन्द करवा दिया था। ऐसे में बहुजन समाज की उम्मीदें केनेथ ग्रिफिथ जैसों पर ही टिक जाती है। पर, केनेथ ग्रिफिथों को तो यहां की सरकारें वीजा ही नहीं देतीं। लेकिन यह भारी संतोष का विषय है कि सरकारी अवरोधों को दूर करने का संकल्प किसी वामन मेश्राम ने लिया है। अपनी अलग सांस्कृतिक पहचान के लिए संघर्षरत दलित बुद्धिजीवियों को इस नेक काम में हाथ बंटाने के लिए आगे आना चाहिए। सरकारी अवरोध को हटाना कठिन जरूर है पर असम्भव नहीं। इसके विरुद्ध कमर-कसने से पूर्व चाहें तो मेश्राम साहेब और दलित बुद्धिजीवी सुधीर फड़के से प्रेरणा ले सकते हैं। सुधीर फड़के ने अपने नायक *वीर सावरकर* पर फिल्म बनाने का संकल्प प्रायः डेढ़ दशक पूर्व लिया था। अपनी इच्छाशक्ति और धैर्य के बूते इस शख्स ने पाई-पाई चन्दा से जुगाड़ कर करोड़ों की लागत से अपने हीरो 'सावरकर' पर फिल्म बना ली है। आज कल उसकी झलकिया टी.वी. पर दिखाई जा रही हैं। दूरदर्शन के सौजन्य से लोग 52 कड़ियों का *वीर सावरकर* देख ही रहे हैं। अब शीघ्र ही सुधीर फड़के के *सावरकर* बड़े परदे पर भी अवतरित हो रहे हैं। डॉ. आंबेडकर का मिशन पूरा करने की रट लगाने वाले नेता और बुद्धिजीवी क्या सावरकर भक्त सुधीर फड़के से कुछ प्रेरणा लेंगे?

बॉलीवुड को कांशीराम की जरूरत है

यह संयोग ही है कि क्वालिटी (गुणवत्ता) और क्वांटिटी (संख्या) के लिहाज से दुनिया के दो सबसे बड़े फिल्म केंद्रों क्रमशः हॉलीवुड और बॉलीवुड, से अबतक की दो सबसे मंहगी कृतियां इस वर्ष के शेषांश में थोड़े-थोड़े अंतराल पर ही दर्शकों के बीच पहुंची है। ये हैं *बैड ऑफ ब्रदर्स* जो हॉलीवुड में बनी है, और *कभी खुशी कभी गम*, जो बॉलीवुड का नवीनतम अजूबा है। इनमें *बैड ऑफ ब्रदर्स* कोई फीचर फिल्म न होकर एक मिनी फिल्म है जो टी.वी. सिरियल के रूप में प्रसारित हुई हैं। हॉलीवुड की अब तक की सबसे मंहगी फिल्म तो *पर्ल हार्बर* है जो इस वर्ष के प्रारंभ में ही रिलीज हुई थी। उल्लेखनीय रूप से बड़े बजट की फिल्में जब रिलीज के कगार पर होती हैं फिल्म उद्योग से जुड़े लोगों और फिल्म प्रेमियों की धड़कन तेज हो जाती है। क्योंकि प्रचारित किया जाता है कि इस बड़े बजट की फिल्म कीसफलता पर ही बड़े बजट और अच्छी फिल्मों का भविष्य टिका हुआ है। इस बार भी *बैंड ऑफ ब्रदर्स* और *कभी खुशी, कभी गम* के प्रदर्शन के पूर्व ऐसी ही चर्चाओं का बाजार गर्म था। पर, राहत की बात है कि इन फिल्मों ने प्रदर्शन के बाद सफल होकर भविष्य में और बड़े बजट की फिल्मों के लिए रास्ते खोल दिए हैं।

कभी खुशी कभी गम के बाक्स ऑफिस पर परिणाम को लेकर बॉलीवुड ही नहीं शायद पूरा राष्ट्र ही तनावग्रस्त था। इसलिए तो *जनसत्ता* जैसे दैनिक पत्र, जिसमें फालतू खबरों के लिए कोई जगह नहीं होती, ने संपादकीय पृष्ठ के दाहिने पृष्ठ पर, जहां राष्ट्रीय स्तर की प्रमुख घटनाएं ही छपती हैं, गत 19 नवंबर को छापा था- शुरुआत अच्छी की, *कभी खुशी कभी गम* ने। सचमुच इस फिल्म की सफलता की शुरुआती खबरों से भारतीय फिल्म जगत व समूचे फिल्म प्रेमियों में जो एक खुशी का माहौल है, वह गम में बदल जाता यदि इसकी बॉक्स ऑफिस पर रिपोर्ट प्रतिकूल होती। गम का माहौल पैदा हुआ था साठ के दशक में, जब भारत की पहली एक करोड़ की लागतवाली ओ.पी. रल्हन की *तलाश* फ्लॉप हुई थी। तब फिल्म जगत ने राजकपूर की ड्रीम प्रोजेक्ट *मेरा नाम जोकर* से कुछ खुशी की उम्मीदें की थी। लेकिन जोकर के टिकट खिड़की पर बुरी तरह से लुढ़क जाने से गम और गहरा हो गया। तब भारत के सबसे बड़े शोमैन की सबसे बड़ी, फिल्म का हस्र देखकर किसी ने नहीं सोचा था कि अगले तीस सालों में कोई युवा फिल्मकार 40 करोड़ की लागत की फिल्म बनाकार बॉक्स ऑफिस पर सफलता की मोहर लगा पाएगा। पर, यश जौहर के बेटे करण जौहर ने वह कमाल दिखाकर फिल्म जगत में खुशी की लहर दौड़ा दी है। लेकिन *तलाश* और *मेरा नाम जोकर* की असफलता ने *कभी खुशी कभी गम* के निर्माण का द्वार ही बंद कर दिया होता यदि 1975 में जी.पी.सिप्पी के सुयोग्य पुत्र रमेश सिप्पी ने 5 करोड़ बजट वाली *शोले* बनाकर बड़े बजट की फिल्मों के निर्माण के लिए जोखिम उठाने का रास्ता नहीं दिखलाया होता। आज बॉलीवुड रमेश सिप्पी के दिखाए रास्ते का अनुसरण करते हुए बीच-बीच में कुछ चर्चित बजट की नाकाम फिल्मों का गम झेल कर भी *हम आपके हैं*

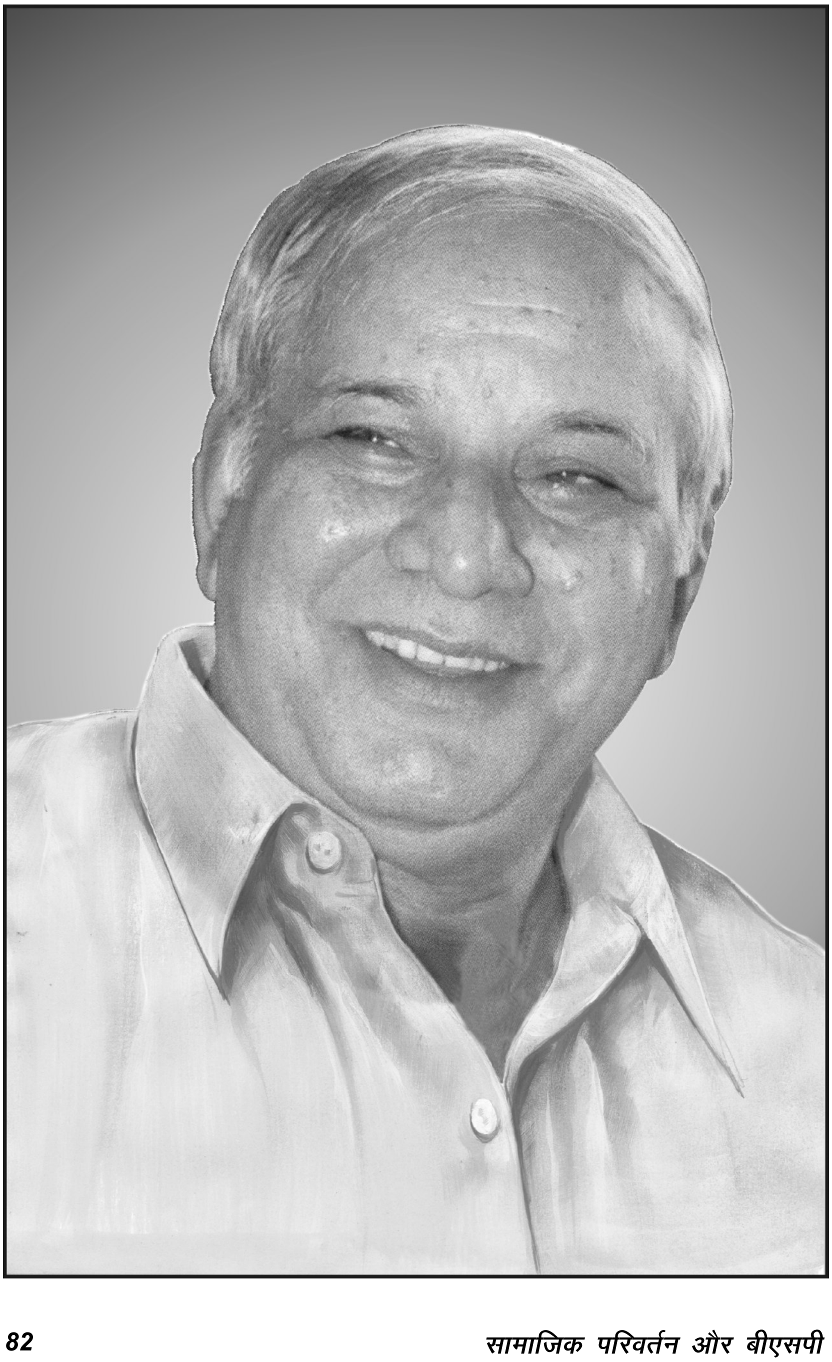

कौन, दिलवाले दुल्हनियां ले जाएंगे इत्यादि के रिकार्ड में और सुधार करने का इरादा लिए *कभी खुशी कभी गम* तक का सफर तय कर चुका है। *के 3 जी* की सफलता निश्चित ही आने वाले दिनों में और बड़े कदम उठाने के लिए प्रेरित करेगी।

कुछेक सप्ताह पूर्व *शोले, हम आपके हैं कौन, दिलवाले दुल्हिनियां ले जाएंगे, मोहब्बतें* इत्यादि कई बड़े बजट की फिल्मों को बॉलीवुड की तरक्की का सूचक मानते हुए एक फिल्म विश्लेषक ने यह टिप्पणी की थी-*भारतीय फिल्मों के जनक दादा साहेब फालके ने सपने में भी नहीं सोचा होगा कि सिनेमा भारत में कभी इतने विकसित उद्योग का रूप ले पाएगा।* यह सच है कि सिनेमा आज बड़े उद्योग का रूप ले चुका है और इस उद्योग में बड़ी-बड़ी लागत वाले उत्पाद निर्मित हो रहे हैं। फिल्मों की संख्या के हिसाब से तो यहां का फिल्मोद्योग नंबर एक है। एक अनुमान के मुताबिक यहां प्रति वर्ष 700 फिल्में बन रही हैं। पर, संख्या के हिसाब से शीर्ष पर होने के बावजूद क्या यह गर्व के साथ कहा जा सकता है कि भारतीय सिनेमा ने तरक्की की है? क्या भारतीय सिनेमा की शान समझे जाने वाले बॉलीवुड की अंतर्राष्ट्रीय सिनेमा, विशेषकर हॉलीवुड के सामने ऐसी दीन-हीन स्थिति नहीं है जैसी अल्पसंख्यक सवर्णों के समक्ष दलितों (अस्पृश्य व आदिवासियों) की है? दलितों को तो सहस्राब्दियों से ब्राह्मणों के शास्त्रों और क्षत्रियों के शस्त्रों द्वारा छल-बल से प्रगति का द्वार रुद्ध कर दीन-हीन बनाया गया है पर बॉलीवुड के दीन हीन बने रहने का क्या कारण है ? बॉलीवुड के कर्ताधर्ता तो प्रधानतः हिंदू-ईश्वर के उत्तमांग से जन्मे मेरिट वाले लोग ही हैं, जिन्हें विद्या-बुद्धि-कला की देवी सरस्वती का भरपूर आशीर्वाद प्राप्त रहा है। साथ ही आर्थिक रूप से समृद्ध होने के कारण वे विदेशों द्वारा विकसित सिनेमा टेक्नोलॉजी सीखने की सुविधाओं से भी संपन्न रहे हैं। पर, सब कुछ के बावजूद जिस तरह सभ्यता पथ पर मानव की अग्रगति में भारतीय समाज मध्ययुग में ही वास कर रहा है, वैसे ही बॉलीवुड, हॉलीवुड से रचनात्मकता व गुणवत्ता के लिहाज से वर्षों पीछे है। इस अंतर को भारत और अमेरिका के नवीनतम अजूबों *कभी खुशी-कभी गम* और *बैंड ऑफ ब्रदर्स* की तुलना करके समझा जा सकता है।

उपरोक्त दोनों कृतियों के विषय में समीक्षकों की राय पढ़कर यह साफ जान पड़ता है कि *कभी खुशी कभी गम* की कहानी में कोई नई बात नहीं है। इसमें वही घिसा-पिटा विषय है जिन पर फिल्में बनाने के लिए पचास से साठ के दशक में एवीएम, जेमिनी वाले एक ब्रांड नाम बने हुए थे। इसमें फर्क यही है कि अनगिनत बार दोहराए गए विषय को आधुनिक संगीत, भव्य सेटों और अतीत व वर्तमान के बड़े सुपरस्टारों की आकर्षक मैनरिज्म के सहारे दर्शकों तक पहुंचाया गया है। जबकि *बैंड ऑफ ब्रदर्स* सत्य घटना पर आधारित एक युद्ध विषयक फिल्म है। रिकार्ड संख्या में बिकी स्टीफन एम्ब्रोस की पुस्तक पर आधारित इस फिल्म में उस फौजी टुकड़ी की कहानी है जिसने द्वितीय विश्वयुद्ध (1941-1945) के दौरान, फ्रांस और हालैंड में फंसे सैकड़ों कैदियों को खतरनाक जर्मन फौजों के चंगुल से आजाद कराया था। इस अभियान में इस टुकड़ी को भयंकर संकटों, खून और लाशों के उपर से होकर गुजरना पड़ा था। ऐसे विषय को स्टीवन स्पीलबर्ग की खास जादुई तकनीक का जब स्पर्श मिलेगा तो जाहिर है परिणाम विस्मकर होगा और दर्शक हतप्रभ होंगे ही होंगे। ऐसा ही *बैंड ऑफ ब्रदर्स* में हुआ है। बूढ़े दर्शक भी बच्चों की तरह मंत्रमुग्ध भाव से इसे देखने के लिए मजबूर हैं।

दरअसल *बैंड ऑफ ब्रदर्स* दर्शकों के दिलो-दिमाग पर जैसा असर छोड़ती है, वह

हॉलीवुड की फिल्मों का वर्षों पुराना कमाल है। कई दशकों से हॉलीवुड की फिल्मों के विषय की विविधता, भव्यता, जीवंतता और तकनीक का जादुई स्पर्श अपने-अपने युग के दर्शकों को विमुग्ध व विस्मित करता रहा है। आज के दर्शक *जुरासिक पार्क, टर्मिनेटर, टाइटेनिक, बैड आफ ब्रदर्स* देखकर जिस तरह प्रभावित होते रहे हैं, वैसा ही *गॉन विथ* द *विंड* के जमाने से होता आया है। आज भी *गॉन विथ* द *विंड* में आग के बीच से बग्घी पर सवार विवियन ले और क्लार्क गेबल के भागने का दृश्य देखकर दर्शक हतप्रभ हुए बिना नहीं रह पाते। वास्तव में *गॉन विथ* द *विंड* जैसी विशाल बजट की फिल्म से हॉलीवुड ने दर्शकों को विमुग्ध, विस्मित करने का जो सिलसिला शुरू किया वह *बेनहूर, टेन कमांडेंटस* जैसी ऐतिहासिक; *गन्स ऑफ नवरोन, व्हेयर ईगल्स डेयर* जैसी अभियान कथाओं; *सन फ्लावर, रोमन हालिडे, लवस्टोरी* जैसी प्रेम कहानियों, द *डे ऑफ जैकल, पेल्हम 123, ड्राकूला, साइको, एक्जॉर्सिस्ट, दि ओमेन* इत्यादि रहस्य, रोमांच और *स्टार वार्स, ई टी, टर्मिनेटर* जैसी साइंस फिक्सन फिल्मों तक अटूट है। इस सिलसिले को स्टीवन स्पीलबर्ग, जेम्स कैमरून, जार्ज लुकस इत्यादि कहां तक पहुंचा देंगे इसका अनुमान लगाना मुश्किल है।

दूसरी तरफ जब हम बॉलीवुड का सिंहावलोकन करते हैं तो लगता है इसे आगे बढ़ना नहीं बल्कि पीछे हटना ही पसंद है। डॉ. आंबेडकर ने मरने से पहले दलितों को संबोधित करते हुए कहा था-*यदि तुम मेरा कारवां आगे न बढ़ा सके तो वहीं छोड़ देना मगर पीछे न हटाना।* इस दृष्टि से *बॉलीवुड के वर्तमान दलितों* (हॉलीवुड के सवर्णों की तुलना में) को देखकर लगता है मानो राजकपूर, दिलीप कुमार, गुरुदत्त, विमल राय, व्ही. शांताराम, के. आसिफ, कमाल अमरोही, मेहबूब खां, नौशाद, शंकर जयकिशन, एस.डी.बर्मन, मदन मोहन, शैलेंद्र, साहिर, हसरत जयपुरी इत्यादि द्वारा फाल्के, देविका रानी, हिमांशु राय वगैरह के फिल्मी कारवां को जहां पहुंचाया गया था, वहां से पीछे धकेलने की उन्होंने कसम खा ली है। बॉलीवुड की वर्तमान दशा और दिशा देखकर लगता है जैसे राजकपूर, गुरुदत्त, मेहबूब खान का युग ही इसका स्वर्ण काल था। अब तो इस पर बुढ़ापे की झुर्रियां आ गई हैं। आज *ग्लैडियेटर, टर्मिनेटर, मिशन इम्पोसिबल, शिंडलर्स लिस्ट* बनाने वाला हॉलीवुड *बेनहूर, मैक्नाज गोल्ड, लारेंस ऑफ अरबिया, ब्रिज आन रिवयर क्वाय* इत्यादि को याद कर गौरवान्वित होने के लिए मजबूर नहीं है। किंतु *मैंने प्यार किया, हम आपके हैं कौन, दिल वाले दुल्हनियां ले जाएंगे, कुछ कुछ होता है, मोहब्बतें, कभी खुशी कभी गम* वाले बॉलीवुड को अपने साठ के दशक के बाद के इतिहास में गर्व से दिखाने लायक कुछ पंक्तियां भले ही मिल जाएं, पर पन्ने नहीं मिलेंगे।

आज बॉलीवुड की दिशा तय करने की जिम्मेवारी सूरज बड़जात्या, आदित्य चोपड़ा, करण जौहर, राकेश रोशन, सुभाष घई, संजय लीला भंसाली, अमिताभ बच्चन, आमिर खान, शाहरुख खान, रितिक रोशन जैसे कुछ खास लोगों पर है। कहने के लिए तो रामानंद सागर, बी.आर. चोपड़ा जैसे राजकपूर, गुरुदत्त के जमाने के लोग आज भी बॉलीवुड में सक्रिय हैं। पर, इन्हें देखकर तो ऐसा लगता है कि बुढ़ापे में हर हिंदू परलोक सुधारने के लिए जैसे हरिभजन में लग जाता है वैसे ही ये अपना परलोक सुधारने के लिए धार्मिक सीरियलों में बचा-खुचा जीवन खपाने का फैसला कर फाल्के के *हरिशचंद्र* वाले युग में चले गए हैं। थोड़े पुराने हो चले सुभाष घई ने कुछ फिल्में बनाकर राजकपूर के बाद सबसे बड़े शो मैन का ताज जरूर पहन लिया, लेकिन अब लगता है कि उनकी कल्पनाशीलता उसी तरह उतार

पर है जैसे प्रकाश मेहरा, मनमोहन देसाई और कई एकाध फिल्मों के नामी-गिरामी डायरेक्टरों की हो चुकी है। कुल मिलाकर बॉलीवुड का भविष्य सूरज बड़जात्या, करण जौहर और आदित्य चोपड़ा के ही हाथों में सुरक्षित दिखाई पड़ रहा है। क्योंकि इन तीनों ने एक से बढ़कर एक फिल्में बनाई हैं। श्रेष्ठता की लड़ाई इन तीनों के बीच ही सिमट कर रह गई है। लेकिन इनमें राष्ट्र के गौरव की चिंता और रचनात्मकता की ऐसी तीव्र भूख नहीं है जिसके आधार पर अनुमान लगाया जा सके कि ये बॉलीवुड की शान में इजाफा करेंगे।

युवा निर्देशकों की यह त्रिमूर्ति सुपर हिट फिल्मों की हैट्रिक लगाने की ओर अग्रसर है। इन तीनों ने दो-दो सुपर हिट फिल्में देकर इंडस्ट्री को काफी राहत दी है लेकिन इन तीनों की एक से बढ़कर एक आधा दर्जन बंपर हिट फिल्मों में यदि कुछ नवीनतम ढूंढ़ा जाए तो निराशा के सिवाय कुछ नहीं मिलेगा। इन्होंने मात्र बॉक्स पर आजमाए हुए सुरक्षित विषयों और नुस्खों—प्रेम व पारिवारिक कहानियों—को भव्य व आकर्षक तरीके से दर्शकों के समक्ष परोस कर चांदी लूटा है। अंतर्राष्ट्रीय फिल्म प्रतियोगिता में शामिल होने लायक तत्वों का इनकी फिल्मों में इतना अभाव रहा है कि ऑस्कर या दूसरी फिल्म प्रतियोगिताओं में भारत का प्रतिनिधित्व करना तो दूर, भारत की ओर से उन प्रतियोगिताओं में भेजी जाने वाली फिल्मों के अंदरूनी मुकाबले तक के काबिल नहीं समझी गईं। यह बात और है कि इन्होंने फिल्मफेयर सहित दूसरे पॉपुलर एवार्ड खूब जीते।

वर्तमान पीढ़ी के इन तीन नामी-गिरामी फिल्मकारों की कमियां गिनाकर हम यह नहीं कहना चाहते हैं कि इनमें अपनी पिछली पीढ़ी या हॉलीवुड के फिल्मकारों जैसी प्रतिभा नहीं है। औरों की तरह यह त्रिमूर्ति भी प्रतिभावान है। प्रतिभावान है तभी तो ये तीनों न केवल बड़े पैमाने पर साढ़े तीन-तीन घंटे की लंबी फिल्में बनाते हैं बल्कि दर्शकों को इनसे बांधे भी रखते हैं। इतना ही नहीं मैनरिज्म में कैद एक्टरों से भी ये उल्लेखनीय परफारमेंस निकलवा लेते हैं। मेरे कहने का आशय सिर्फ यह है कि तमाम गुणों के रहते हुए भी ये कि बनियों की तरह व्यवसायिक लाभ के इतने भूखे हैं कि जोखिम उठाने से घबराते हैं। इसलिए बॉक्स ऑफिस पर आजमाए हुए सुरक्षित फामूलों का ही अवलंबन कर रहे हैं। इन्हें तो मालूम है कि खेलों में ओलंपिक मेडल की तरह ही फिल्मों में ऑस्कर व दूसरे पुरस्कार किसी देश के गौरव में भारी उछाल ला देते हैं और ओलंपिक की तरह ऑस्कर में भी भारत बिल्कुल निचले पायदान पर है। प्रतिभा और तमाम सुविधाओं के रहते हुए भी इन्हें क्यों नहीं यह चिंता सताती कि सबसे अधिक संख्या में फिल्में निर्माण करने के बावजूद अपनी निम्न स्तरीय गुणवत्ता के कारण बॉलीवुड को अंतर्राष्ट्रीय जगत में करुणा की नजर से देखा जाता। ऐसे में क्या इनका फर्ज नहीं बनता कि ऐसा कुछ उपक्रम करें जिससे बॉलीवुड का गुणगत मान बढ़े। बॉलीवुड का मान बढ़ने का मतलब है राष्ट्र के मान में वृद्धि। पर, यह बैचेनी न तो इस त्रिमूर्ति में है न ही मौजूदा दौर के दूसरी नामी-गिरामी फिल्मकारों में। चूंकि इनका एकमात्र लक्ष्य तिजोरियां भरना है इसलिए देश-विदेश की फिल्मों के आजमाए हुए सफल फार्मूलों की पुनरावृत्ति किए जा रहे हैं। इस प्रक्रिया में ये भले ही करोड़पति बन जाएं पर बॉलीवुड के कारवां को जहां मेहबूब खान, राजकपूर, गुरुदत्त, विमल राय वगैरह ने छोड़ा था, वहां से आगे बढ़ाने की जगह ये उसे पीछे हटाते जा रहे हैं। वह कारवां आगे बढ़े इसके लिए जरूरी है कि बॉलीवुड में किसी कांशीराम का उदय हो।

कांशीराम ने हजारों वर्षों की गुलाम जातियों में शासक बनने की भावना विकसित करने

के साथ-साथ, द्वेष और शत्रुता पर आधारित भारत के जाति समाज के बहुजनों में भ्रातृत्व का बीजारोपण कर एक भारी चमत्कार किया है, यह बात दलितों के साथ-साथ कुछ सवर्ण समाज-विज्ञानी भी मानने लगे हैं। पर मेरे ख्याल से उन्होंने दलितों में *पे बैक टू दी सोसायटी* (समाज को लौटाने) की भावना भरने का जो काम किया है वह भी कम बड़ा चमत्कार नहीं है। कांशीराम ने जब घर-संसार और व्यक्तिगत सुखों का विसर्जन कर डॉ. आंबेडकर के कारवां को आगे बढ़ाने का व्रत लिया तो पे बैक टू दी सोसायटी पर ज्यादा जोर दिया। उन्होंने गिड़गिड़ा कर नहीं, शब्दों के जोरदार चाबुक द्वारा दलितों के विवेक पर चोट करते हुए कहा था- *रिजर्वेसन के द्वारा ही तुम्हारा जीवन स्तर उन्नत हुआ है और रिजर्वेसन तुम्हें इसलिए मिला है कि तुम अनुसूचित जाति/जनजाति समाज में जन्मे हो, ऐसे में तुम्हें जिस समाज में जन्म के कारण रिजर्वेसन मिला उसके लिए कुछ करना तुम्हारा नैतिक कर्तव्य है।* पे बैक दू दी सोसायटी का अभियान कांशीराम वर्षों से चला रहे हैं। इस अभियान का ही नतीजा है कि आज भारत के जड़ समाज में परिवर्तन की एक हलचल शुरू हो चुकी है। बाबा साहेब का कारवां तेज गति से मंजिल की ओर भाग रहा है। पे बैक टू दी सोसायटी से प्रेरित कुछ दलित जहां कलम *से आग* उगल रहे हैं, वहीं असंख्य दलित तन-मन-धन से समाज परिवर्तन में विराट योगदान कर रहे हैं।

दलितों में आई जागृति के परिप्रेक्ष्य में यह बात जोर देकर कही जा सकती है कि बॉलीवुड में कोई कांशीराम पैदा होकर अगर पे बैक टू दी सिनेमा का अभियान चलाए तो बॉलीवुड भी हॉलीवुड का मुकाबला करने के लिए उठ खड़ा होगा। कहते हैं जहां चाह वहीं राह। एक बार यदि भारत के बनिया मनोवृति वालों में सिनेमा को लौटाने की चाह पैदा हो जाए तो ये हॉलीवुड से तुलनामूलक रूप से कम संसाधनों के बूते ही बहुत बड़े-बड़े परिणाम दे सकते हैं। पर अभी तो पे बैक टू दी सिनेमा की नाममात्र भी भावना इनमें नहीं दिखाई पड़ती है। जब सुसभ्य माने जाने वाले भारत के गौरव अमिताभ बच्चन, जिन्हें शायद भारतीय सिनेमा ने सबसे अधिक यश और धन दिया है, तक पे बैक टू दी सिनेमा की भावना से शून्य हैं तो औरों से क्या उम्मीद की जा सकती है। सिनेमा के ऋण से मुक्त होने की कोई भावना न होने के कारण ही अमिताभ फिल्मों से कमाई दौलत में इजाफा करने के लिए फैशन शो, एलबम व कुछ निहायत ही फार्मूला फिल्मों में पैसा नियोजित कर रहे हैं। पे बैक टू दी सिनेमा की चाह न होने के कारण ही मिलेनियम स्टार, हॉलीवुड के उस क्लिंट इस्टवुड से कोई प्रेरणा न ले सके जिनकी एक्शन स्टाइल अपनाकर वे एंग्री हीरो की छवि निर्मित किए। स्मरण रहे सिल्वेस्टर स्टालोन, श्वार्जेनेग इत्यादि के उदय से पूर्व अमिताभ से भी लंबे छरहरे क्लिंट इस्टवुड एक्शन व गुस्सैल चरित्र का पर्याय माने जाते रहे। अपनी रिटायरिंग उम्र में उन्होंने जो फिल्म बनाई, उसने ऑस्कर जीत कर लोगों को चौंका दिया। क्लिंट इस्टवुड से नहीं तो मेल गिब्सन से भी अमिताभ प्रेरणा ले सकते थे। जबरदस्त एक्शन हीरो मेल गिब्सन ने सिनेमा से कमाई हुई दौलत फिल्मों में लगाई तो *ब्रेवहार्ट* जैसी शानदार चीज ही सामने आई। क्लिंट इस्टवुड हों या मेल गिब्सन जैसे एक्शन हीरो या स्पीलबर्ग जैसा जादूगर निर्देशक सभी की फिल्मों की कमाई से निकली यादगार फिल्मों के पृष्ठ में एक अन्यतम कारण यही है कि इनमें पे बैक टू दी सिनेमा की भावना है अर्थात अपने राष्ट्र के गौरववृद्धि की चिन्ता है।

जहां तक पे बैक टू दी सिनेमा की भावना की बात है तो बॉलीवुड की मुस्लिम फिल्मी हस्तियां, जिन्हें हिंदू राष्ट्रवादी देशद्रोही ही साबित करने की कोशिश करते हैं, कुछ हद तक

संपन्न रही हैं। यदि फिल्मों में भारत की इज्जत में कुछ इजाफा हुआ है तो मानना ही पड़ेगा कि जो कौम खुद को सबसे अधिक वतनपरस्त मानती है, उससे कहीं ज्यादा वतनपरस्ती और पे बैक टू दी सिनेमा का जज्बा मुसलमानों में रहा है। आज मिलेनियम और सेंचुरी स्टार के सामने, एक्टिंग के बादशाह दिलीप कुमार की आभा भले ही फीकी हो गई हो लेकिन उन्होंने बॉलीवुड को अपनी कमाई हुई दौलत से कुछ देना अपना फर्ज समझा था। उनके द्वारा बनाई गई एक मात्र फिल्म *गंगा–जमुना* का फिल्मों के इतिहास में क्या मुकाम है इसे फिल्मों में रुचि रखने वाले अच्छी तरह जानते हैं। दिलीप कुमार ही क्यों, मिलेनियम हीरो के सामने कल के बच्चे शाहरुख खान और आमिर खान ने क्या किया है, इससे भी लोग वाकिफ हैं। शाहरुख और आमिर खान ने तो बस बॉलीवुड को कुछ लौटाने की गरज से मेहबूब खान, कमाल अमरोही, के. आसिफ के नक्शेकदम पर चलने की कोशिश भर की है। जब तक फिल्मों में कोई कांशीराम पैदा नहीं होता हमें यही मानना होगा कि *मदर इंडिया, मुगले–आजम, पाकीजा* जैसी फिल्मों की बुलंदी को कोई पार करेगा तो वह वर्तमान या भविष्य का कोई आमिर या शाहरुख ही हो सकता है। इसके लिए हमें शाहरुख की यह बात ही उम्मीद जगाती है जो उन्होंने *अशोका* के प्रदर्शन के समय पत्रकारों से कही थी –

'यहां मैं एक बात और स्पष्ट करना चाहूंगा कि जब हम फिल्म निर्माण करने के लिए इकट्ठे हुए, तब न मुझे फिल्म बना कर पैसे कमाने की लालसा थी, न जूही और अजीज मिर्जा को। हमारा पहला लक्ष्य यही था हम लोगों को बताएं कि हम आपके शुक्रगुजार हैं कि आपने हमें इतना बड़ा स्टार बनाया। आज मैं सोचता हूं कि मुझे इतना बड़ा स्टार दर्शकों ने बनाया है तो मैंने बदले में उन्हें क्या दिया? सिवाय बड़ी–बड़ी गाड़ियों में घूमने और बड़े बंगले में ऐश करने के। हमें अपनी पसंद की फिल्म बनाने का जो चांस मिला, हम यह मौका जाने नहीं देना चाहते थे। हम घर–घर जाकर थैंक्यू तो न कह सकते। हम अपने काम के जरिये सबको थैंक्स कहना चाहते हैं। शायद यह फिल्म चल भी जाय या न भी चले। मैंने इस नजरिए से यह फिल्म नहीं बनाई हैं मुझे लगता है कि लोगों को या सिनेमा को कुछ अलग ढंग की फिल्मों की जरूरत है। अगर आप फिल्म बना रहे हैं तो कम से कम ऐसी फिल्म बनाएं जो हमारे सिनेमा के स्तर को उठाए। आज हॉलीवुड के बाद पूरे विश्व में एक ही फिल्म इंडस्ट्री जिंदा है और वह है हमारी फिल्म इंडस्ट्री जो साल में सबसे ज्यादा फिल्में बनाती हैं लेकिन हमारी एक भी फिल्म बाहर नहीं जाती। हमारे पास दर्शक हैं, यह प्लस प्वाइंट है। तो फिर क्यों न हम कुछ खास बनाएं। हो सकता है कि पहले शुक्रवार को ही हमारी फिल्म फ्लॉप हो जाए। कोई बात नहीं, ज्यादा से ज्यादा हमें अगली फिल्म के लिए कोई पैसा नहीं देगा बस, न। हम फिल्म बनाना बंद कर देंगे। कम से कम हमें इस बात से संतुष्टि तो रहेगी कि हमने अच्छी फिल्म बनाने की कोशिश की। हमने हिम्मत तो दिखाई। मेरे वालिद बोला करते थे–

गिरते हैं शहसवार ही मैदान–ए–जंग में,
वो तिफ्ल क्या गिरेंगे जो घुटनों के बल चलें।

बॉलीवुड अब क्या करे ?

बॉलीवुड के निर्माता उद्भ्रांत होकर अंधेरे में हाथ-पांव मार रहे हैं पर बॉक्स आफिस पर सफल होने लायक कोई कारगर फार्मूला नहीं सूझ रहा है। ट्रेजेडी तो बीते दिनों की बात हुई, चालू दौर के एक्शन, ऐडवेंचर, रोमांस, कॉमेडी का न तो खालिस, न ही मिला-जुला फार्मूला ही कुछ काम कर पा रहा है। नामी-गिरामी डायरेक्टर भी जहां बॉक्स आफिस पर धमाल करने में नाकाम हो रहे हैं वहीं बड़े से बड़े सुपर स्टार अपने करिश्मे से चार-पांच दिन के लिए भी 'हाउसफुल' का बोर्ड लटकवाने में कामयाब नहीं हो पा रहे हैं। यही कारण है कि इस वर्ष के पूर्वार्द्ध तक विक्रम भट्ट की *राज* को छोड़ कर कोई भी फिल्म निर्विवाद रूप से सफल कहलाने की काबिलियत हासिल नहीं कर पाई। इस बदहाली के दौर में हर तरह की फिल्मों को लगातार बॉक्स आफिस पर धराशायी होते देख बॉलीवुड की उम्मीदें शहीदे आजम वाली फिल्मों पर टिकी थीं लेकिन इनसे भी मायूसी ही मिली।

वास्तव में प्रचलित मॉडल की फिल्मों के टिकट खिड़की पर असरहीन होते देख, देशभक्ति से लबालब भरी भगत सिंह वाली फिल्मों से एक अतिरिक्त उम्मीद हो चली थी। क्योंकि पिछले वर्ष *गदर* और *लगान* में परोसा गया देशभक्ति का हल्का-फुल्का डोज ही दर्शकों में जुनून पैदा कर दिया था। किन्तु भगत सिंह पर बनने वाली पांच में से तीन फिल्में - *शहीद ए आजम*, *द लिजेंड आफ भगत सिंह*, *31 मार्च के शहीद* - अब तक प्रदर्शित होकर मात्र बॉलीवुड की परेशानी में इजाफा ही कर पाई हैं। जब राजकुमार संतोषी और सनी देवल वाली आलीशान बजट की फिल्में कोई चमत्कार करने में नाकाम रही हैं तो शेष बची रामानंद सागर और तरुण वाधवा वाली भगत सिंही फिल्मों से उम्मीद नहीं की जा सकती कि टिकट खिड़की पर जन सैलाब उमड़ेगा। कुल मिलाकर भगत सिंह वाली फिल्में बॉलीवुड वालों के लिए जबरदस्त सदमें का सबब ही रही हैं। वह इसलिए कि एक तो बॉक्स आफिस पर इनसे प्रत्याशा पूरी नहीं हुई; दूसरे इनके प्रदर्शन के पूर्व ही जिस तरह सवर्ण बुद्धिजीवियों ने इनके निर्माताओं के व्यावसायिक चरित्र पर चोट करने में होड़ लगाया था उससे अवाम के बीच यह संदेश गया कि बॉलीवुड वालों को सिर्फ पैसे से सरोकार है। अपनी तिजोरियों पर सजग दृष्टि रखते हुए भी जिस बॉलीवुड ने राम, कृष्ण, हनुमान, दुर्गा, काली, संतोषी माता सहित असंख्य हिन्दू देवी-देवताओं; राणा प्रताप, शिवाजी जैसे अनेक हिन्दू अस्मिता के रक्षकों; खुदीराम, सुभाष बोस, गांधी, भगत सिंह इत्यादि अनेकों स्वाधीनता संग्रामियों को जन-जन तक पहुंचाने का कार्य समय-समय पर किया है, उस बॉलीवुड को यह कतई उम्मीद नहीं थी कि प्रभुवर्ग के बुद्धिजीवी, हिन्दू-धर्म-संस्कृति-शौर्य के प्रसार में उसके द्वारा किए गए कार्यों को विस्मृत कर, पैसे का लोभी कहकर तिरस्कृत करेंगे। लेकिन सारे तिरस्कार बॉलीवुड सहजता से हजम कर जाता, यदि भगत सिंह वाली कोई भी फिल्म हिट हो जाती।

क्योंकि तब कुछ दिनों के लिए देश-भक्ति का फार्मूला हाथ लग जाता। पर, वैसा नहीं हुआ इसलिए फिलहाल उसे अंधेरे में हाथ-पैर मारना पड़ रहा है।

वैसे लम्बे समय से जब भी बॉलीवुड में बॉक्स आफिस पर कारगर साबित होने लायक फार्मूलों का संकट आया है, तब-तब हॉलीवुड ने काफी सहारा दिया है। लेकिन अब वहां *साउन्ड आफ म्यूजिक, सन फ्लावर, लव स्टोरी, स्लीपिंग विद द एनिमी* इत्यादि जैसी महज भावनाप्रधान प्रेम कहानियां नहीं बनतीं। बनती हैं *टाइटेनिक* जैसी प्रेम कहानियां जिनसे प्रेरणा लेना आत्मघाती ही साबित होगा। हॉलीवुड अब *डर्टी हैरी, द सेवेन मैग्नीफिसेंट, डेथ विश जैसी* फिल्में भी पीछे छोड़ चुका है जिनसे प्रेरणा लेकर बॉलीवुड के एंग्री नायक पर्दे पर प्रतिशोध का लोमहर्षक कारनामा अंजाम देते हुए, कल तक दर्शकों को टिकट खिड़की तक खींच लाने में कामयाब होते रहे। अब वहां स्पीलबर्ग, जार्ज लुकस, जेम्स कैमरून इत्यादि का दबदबा है जिनकी फिल्मों में कहानी कम हैरतंगेज घटनाएं ज्यादा होती हैं; जिन्हें आश्चर्यजनक तकनीक के सहारे सिल्वर स्क्रीन पर पेश किया जाता है। *क्लोज इनकाउंटर आफ थर्ड काइन्ड, इ.टी, स्टार वार्स, जुरासिक पार्क, एलिएन, द एबिस, टर्मिनेटर* वगैरह से प्रेरणा लेने पर भारतीय फिल्मोद्योग को ध्वस्त होने के सिवाय और कोई लाभ होगा ?

ऐसे समय में जबकि प्रचलित फार्मूले असरहीन हो चुके हैं और हॉलीवुड से प्रेरणा लेना आत्मघाती हो चुका है, लगता है बॉलीवुड के उबरने का कोई रास्ता नहीं है। लेकिन ऐसा नहीं है। एक उपाय है जिस पर अमल करते हुए न सिर्फ बॉक्स आफिस की स्थिति में सुधार लाया जा सकता है बल्कि सिनेमा को समाज से जोड़ कर सार्थकता भी प्रदान की जा सकती है। इस फार्मूले पर अमल करने के लिए विश्व के दरिद्रतम देशों में एक भारत के बॉलीवुड को न तो समृद्धतम देश अमेरिका के स्पीलबर्ग, जार्ज लुकस, जेम्स कैमरून वाली फिल्मों की तकनीकी उच्चता और विशाल बजट की जरूरत होगी और न ही मानवीय शौर्य का प्रदर्शन के लिए अर्नाल्ड स्वार्जेनेगर, सिल्वेस्टर स्टालोन जैसे जबरदस्त शरीर सौष्ठव वाले नायकों की। इसके लिए आवश्यक है मात्र वर्णवादी मानसिकता के परित्याग की। यदि ऐसी मानसिकता त्यागने के लिए वह तैयार है तो बहुजन समाज में बॉक्स आफिस पर लोगों को खींच लाने लायक प्रचुर सामग्री उपलब्ध है।

बॉलीवुड के निर्माता अब तक ढेरों हिन्दू नायकों पर फिल्में बना चुके हैं, अब जरा बहुजन नायकों पर जोखिम उठाकर देखें। निर्माताओं को यह हकीकत मालूम होनी चाहिए कि जो लोग फिल्मों की टिकट खिड़की पर भीड़ करते हैं वे मुख्यतया बहुजन समाज के लोग होते हैं। अल्पजन समाज के पढ़े-लिखे लोग तो ज्यादातर अंग्रेजी फिल्में देखते हैं। यही वह बहुजन समाज है जिसने एक तरफ अपना प्यार देकर फिल्मवालों को स्टारडम की बुलंदियों पर पहुंचाया है तो दूसरी तरफ अपने खून-पसीने की गाढ़ी कमाई से एयरकंडीशंड बंगलों और गाड़ियों का सुख मुहैया कराया है। पर बदले में फिल्मवालों ने उन्हें कुछ दिया नहीं है। उल्टे वे, उन्हीं के पैसे से, उन्हें गुलाम बनाने वाली व्यवस्था व संस्कृति का ही अब तक प्रसार करते रहे हैं। फिल्मकारों की इस साजिश का बहुजनों को एहसास हो चला है।

विगत वर्षों से इस समाज में आई जागृति ने भारतीय समाज को देखने की इनकी दृष्टि में भारी परिवर्तन घटित कर दिया है। इससे कल तक जो नायक थे वे अब या तो खलनायक हो गए हैं या पूरी तरह अप्रासंगिक। बहुजन बुद्धिजीवियों द्वारा इतिहास के उत्खनन से फुले, पेरियार, डॉ. आंबेडकर, गौतम बुद्ध, शाहूजी महाराज, नारायण गुरु, ललई सिंह यादव इत्यादि अप्रासंगिक हो चुके नायकों की जगह आसीन हो चुके हैं, जिन्हें बहुजन समाज फिल्म और टी.वी. के पर्दे पर देखने के लिए बेताब है।

अगर बॉलीवुड बहुजन समाज की इस बेताबी को टिकट खिड़की पर भुनाने के लिए बहुजन नायकों पर कोई उपक्रम चलाता है तो उसे जोरदार मसालों की कोई कमी नहीं होगी। इनमें प्रत्येक का ही जीवन इतना घटना बहुल, रोमांचक व जिजीविषा से भरा पूरा है कि इनके सामने एंग्री यंग या ओल्डमैन नायकों का कृत्रिम विद्रोही रूप, शिशु सुलभ प्रतीत होगा। सदियों की सड़ी-गली व्यवस्था और उस व्यवस्था के संरक्षकों के विरुद्ध इनके संवादों में शौर्य की वह आंच मिलेगी जिसके समक्ष पेशी फुलाए और हाथ में स्वचालित बंदूक लिए स्टालोन और श्वार्जेनेगर जैसे नायक भी ठंडे लगेंगे।

हां जब्बार पटेल वाली *डॉ. आंबेडकर* का बॉक्स आफिस पर हश्र बॉलीवुड वालों को कुछ हतोत्साहित कर सकता है। लेकिन क्या सचमुच निराशा वाली ऐसी कोई बात है? जब्बार पटेल जैसे लोग फिल्में संग्रहालय में रखने के लिए बनाते हैं या टिकट खिड़की तोड़वाने के लिए ? जब्बार पटेल क्या आंबेडकर वाली फिल्म को डाक्युमेंटरी से भिन्न, फीचर फिल्म का रूप दे पाए थे ? फिल्म जैसी भी बनी क्या उसकी मार्केटिंग ऐसी रही कि सुचारु रूप से उपयुक्त समय पर सभी प्रांतों में उसका प्रदर्शन हो सके? बॉक्स आफिस पर इच्छाकृत रूप से *डॉ. आंबेडकर* को दु:स्वप्न बनाया गया है। ऐसे में निर्माता जब्बार पटेल वाली डॉ. आंबेडकर को भूलकर, पचास के दशक के उत्तरार्द्ध में प्रदर्शित आचार्य अत्रे वाली फुले फिल्म से प्रेरणा लें जिसने बॉक्स आफिस को धन्य कर दिया था।

आधुनिक भारत के शिलान्यासी : दुसाध

प्रथम *दलित इतिहास कांग्रेस* द्वारा अनूष्ठित इस ऐतिहासिक सम्मेलन में हम सबसे पहले आभार प्रकट करते हैं उन नवागत विदेशी आर्य अंग्रेज शासकों का, जिन्होंने इस देश के प्राचीनतम शासक विदेशागत हिन्दू आर्यों की सहस्त्रों वर्षों की अल्पजन शिक्षा नीती को ध्वस्त एवं सर्वजन शिक्षा नीति लागू कर, यहां इस रूप में एकत्रित होने का हमें अवसर सुलभ कराया। हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं लार्ड मैकाले का, जिन्हें हिन्दू आर्य मीडिया आज भी बात-बात में कोसती रहती है, जिन्होंने इस देश में अंग्रेजी शिक्षा नीति लागू कर, आधुनिक शिक्षा-संस्कृति और ज्ञान-विज्ञान के संस्पर्श में आने का मौका सुलभ कराकर हमें कूपमंडूकता से उबरने का मार्ग प्रशस्त किया। सन् 1935 में अपनी शिक्षा नीति की घोषणा करते समय लार्ड मैकाले यह भविष्यवाणी करना नहीं भूले - *हम जो शिक्षा नीति इस देश में लागू करने जा रहे हैं उसके परिणामस्वरूप हमें इस देश से चला जाना पड़ेगा किन्तु वह जाना हमारे लिए एक गौरव की बात होगी।* ऐसी सटीक भविष्यवाणी, किन कारणों से प्रेरित होकर मैकाले साहब ने की थी। कारण, उन्होंने जान लिया था कि यह शिक्षा नीति विदेशों में जनगण के पेशी संचालन से घटित *चार्टर आफ मैग्नाकार्टा* से लेकर *बिल आफ राइट* से राजतन्त्र की जगह स्थापित हुई संसदीय प्रणाली; फ्रांस की राज्यक्रांति से लेकर अमेरिका के स्वाधीनता संग्राम के साथ-साथ; वन्य जीवन से सभ्यता पथ पर मानव की अग्रगति के इतिहास से ज्ञानहीन भारतीयों को अवगत करायेगी। फलत: उनमें जन्मेगा अधिकारबोध, देशात्मबोध; और इतिहास से उद्बुद्ध भारतीय प्रवृत्त होंगे अपने स्वाधीनता संग्राम में। कहने का तात्पर्य यह कि इतिहास की अमोघ शक्ति से अवगत होकर ही उन्होंने अंग्रेजों के इस देश से चले जाने की भविष्यवाणी कर डाली थी।

अंग्रेजों के आगमन के पूर्व इस देश के शिक्षा के एकाधिकारी विदेशागत आर्यों के वंशधरों को न तो इतिहास लेखन में कोई रुचि थी न ही इतिहास लेखन की विधा ही ज्ञात थी। अपने आर्य भ्राताओं की अरूचि पर प्रकाश डालते हुए पं. नेहरू ने अपने विशाल आविष्कृत इतिहास Discovery of India में लिखा है- *our writing of India's history is perhaps resentled more then any thing else we have done' - so writes an Englishman well acquinted with India and her history."*

पहले पहल प्राचीन ऐतिहासिक उपादानों पर निर्भर होकर अंग्रेजों ने ही भारतवर्ष का इतिहास लिखकर यह घोषित किया कि आर्य यूरोपीय मूल के थे जिन्होंने प्राय: 3500 वर्ष पूर्व भारतवर्ष पर आक्रमण किया था। जिस समय आर्यों ने भारतवर्ष में प्रवेश किया था उस समय यहां राक्षस, असुर, पिशाचादि नामक जाति के लोगों का निवास था। यह जंगलों के अंधकार में ढका अटपटी भाषा बोलने वाले काले-बौने लोगों का देश था। इनका न तो नाम लेने लायक

कोई धर्म था और न ही कोई सभ्यता थी। यह प्राचीन अनुप्रवेशकारी आर्य ही थे जिन्होंने इस देश में धर्म और संस्कृति की मशाल जलाई।

मूल भारतीयों के इतिहास के संबंध में अंग्रेजों द्वारा सृष्ट इस अवधारणा को इस देश के आर्य गोष्ठीभुक्त लोग आधुनिक ग्रन्थों द्वारा कांशीराम के उदय के पूर्व तक अविराम रूप में प्रचारित करते रहे हैं। यहां तक कि 1922 में सिन्धु घाटी सभ्यता का सत्यान्वेषण भी उनके कलम पर विराम नहीं लगा पाया। इतिहास में कम रुचि रखने वाले बहुजन समाज के आम लोग आज भी आर्य श्रेष्ठत्व की इस अवधारणा के कायल हैं। उनमें यह धारणा आज भी बलवती है कि इस देश में जो कुछ भी गौरवपूर्ण है उसके रूपकार आर्य रहे। ऐसा नहीं कि अंग्रेजों से इतिहास लेखन में दीक्षित होकर, आर्यपुत्रों द्वारा एकतरफा ऐतिहासिक साक्ष्यों को आर्य श्रेष्ठत्व की अवधारणा को पुष्ट करने में व्यवहृत किया जाता रहा। आर्यों के समानान्तर मूल भारतीय अनार्य बहुजन द्वारा आर्य श्रेष्ठत्व की निस्सारता को प्रमाणित करने का भी बलिष्ठ प्रयास हुआ। महात्मा फुले और पेरियार का आर्यो के विरुद्ध गर्जन, स्वामी धर्मतीर्थ की बलिष्ठतम रचना *The History of Hindu Imperialism* इसका साक्ष्य है। किन्तु फुले, पेरियार और स्वामी धर्मतीर्थ इत्यादि की लेखनधारा जोर इस शताब्दी के शेषांश में ही पकड़ पाई है। इसके पूर्व आर्य श्रेष्ठत्व के प्रबल प्रचार के समक्ष मूल भारतीय बहुजन समाज की लेखन सक्रियता प्रायः नगण्य रही। आर्य इतिहासकारों की विपुल टीम तमाम ऐतिहासिक साक्ष्यों को गौरवहीन आर्य इतिहास को महिमामंडित करने में आज तक जुटी रही है। किन्तु अब फुले, पेरियार, स्वामी धर्मतीर्थ के युग की स्थिति नहीं है। आज अरुणशौरी की एक *Worshipping False Gods* के विरुद्ध सैकड़ों कलमें सक्रिय होकर गलत-सही देवताओं को चिन्हित कर देती हैं।

इस सदी के शेषांश में डॉ. नवल वियोगी और विशेषकर श्री एस. के. विश्वास के आवृष्कृत भारतवर्ष के इतिहास लेखन से जो बाढ़ बहुजन इतिहासकरों में आई है, उसकी सृष्टि 1941 में स्वामी धर्मतीर्थ की *The History of Hindu Imperialiasm* के बाद हो गई होती यदि बहुजन इतिहासकार आर्य इतिहासकारों के प्रचारित दृष्टिकोण के समक्ष स्तब्ध न हुए होते। खैर देर आए दुरुस्त आए। हमने सिंधु घाटी सभ्यता व बौद्ध भारत पर अधिकाधिक लेखन कर प्राचीन भारत के मूल भारतीयों के हृत गौरव से अवगत कराया। किन्तु आधुनिक भारत के इतिहास की दिशा निर्धारित करने वाले अपने पूर्वजों के कृतित्व को अनदेखा कर दिया। हमारे पूर्वजों ने 1757 के प्लासी से 1818 के कोरेगांव युद्ध तक जो इतिहास रचा, क्या उसके तात्पर्य से विश्व को अवगत करा पाए ?

जहां तक 1757 के प्लासी युद्ध में मूल भारतीय बहुजन समाज के अछूतों की शिरकत का प्रश्न है, हमारे दलित इतिहासकार उसके विशेष ऐतिहासिक तात्पर्य को सामने लाने में विफल रहे। हमारी इस चूक का फायदा उठाकर आर्य श्रेष्ठत्व को महिमामंडित करने में सदा सचेष्ट रहने वाले आर्य इतिहासकार इस घटना को बहुप्रचारित कर मूल भारतीय बहुजन समाज का मनोबल वर्षों से तोड़ते रहे हैं। प्लासी युद्ध की घटना के परिप्रेक्ष्य में वे प्रचारित करते रहे हैं कि डाक्टर आंबेडकर के पुरखों ने भारतवर्ष को जीतकर अंग्रेजों के सुपुर्द कर दिया

था अर्थात् डॉ. आंबेडकर के पूर्वजों ने देशद्रोहिता का कार्य किया था। 1997 में जब देश के लोग स्वाधीनता की 50वीं वर्षगांठ के जश्न में मस्त थे, तब इस सिद्धांत के अगुवा प्रचारक ने ऐन वक्त पर एक मोटी-सी पुस्तक निकालकर, यह संदेश दिया कि डॉ. आंबेडकर के पूर्वजों ने अंग्रेजों का साथ देकर ही देश को पराधीन बना दिया था जिसे बड़े प्रयत्नों से आर्यपुत्र देशभक्तों ने स्वाधीन किया। इस तरह उन्होंने वर्तमान *प्रजन्म* के देशभक्त लोगों की नजरों में बहुजन समाज और डॉ. आंबेडकर को गिराने का कार्य कर डाला। उनके इस महत् कार्य से धन्य हुई वर्तमान राष्ट्रवादी सरकार ने उन्हें राज्यसभा की सदस्यता प्रदान कर बहुजन समाज के जख्मों पर और नमक डाल दिया।

किन्तु क्या यही ऐतिहासिक सत्य है कि बहुजन समाज के अस्पृश्यों ने देश को पराधीन बनवा दिया था और प्लासी से कोरेगांव युद्ध तक उनकी भूमिका देशद्रोही की ही रही ? पहला प्रश्न है देश की पराधीनता, जिसके प्रथम अध्याय की शुरुआत प्लासी से होती है और जिसका शेष अध्याय 1818 में कोरेगांव में लिखा जाता है, क्या भारतवर्ष के लिए नई बात थी ? देश स्वाधीन ही कब रहा जो पराधीनता का प्रश्न उदित होता है? अंग्रेजों के पूर्व यह देश प्राय: हजार वर्षों तक विदेशागत मुसलमान विजेताओं द्वारा शासित रहा। अतएव नये सिरे से पराधीनता का प्रश्न ही नहीं उठता है। हां, यह ऐतिहासिक सत्य है कि डॉ. आंबेडकर के पूर्वजों की प्लासी से कोरेगांव के अंतिम युद्ध तक एक निर्णायक भूमिका रही। किन्तु उन्होंने देश को पराधीन बनाने की बजाय मात्र मूल भारतीय बहुजन समाज और उसके सहस्रों वर्षो से पराधीन देश के वृहत्तर हित में अपनी भूमिका द्वारा शासन परिवर्तन का निर्णायक कार्य किया था। मूल भारतीय अनार्य बहुजन समाज में सबसे नीचे में जो दबाए गए हैं, वे हिन्दू धर्मानुसार पशु से भी अधम रहे, और भारतीय समाज की अन्यान्य उच्चत्तर जातियों द्वारा अछूत रूप में घृणित माने जाते हैं। ये नर-पशु अछूत अपनी मातृभूमि को विदेशी शासन से मुक्त करने की चिन्ता में सदैव निमग्न रहे। नव-नव विदेशी शासकों के आगमन के बावजूद अपनी मानवेतरता और अपनी मातृभूमि की दुर्दशा के मूल में प्राचीन आक्रमणकारी विदेशागत आर्य भू-देवताओं की भूमिका इनकी नजरों से कभी ओझल नहीं हुई। उन्हीं आर्य आक्रमणकारी भू-देवता ब्राह्मणों से मातृभूमि की पुन: स्वाधीनता का प्रधान संग्राम, आधुनिक युग में 1757 के प्लासी युद्ध से शुरू हुआ। प्लासी युद्ध विजय का प्रधान श्रेय अंग्रेजों को है या मूल भारतीय बहुजन समाज के अछूतों को, इस पर लंबे समय से तर्क चलता आ रहा है। इस प्रसंग में अंग्रेजों के ही सजाति प्रो. शेली का वक्तव्य विशेष तात्पर्यपूर्ण है- *भारतवर्ष के राष्ट्रीय सेनाओं को जिस सैन्यवाहिनी ने पराजित किया था, उसमें 20% से ज्यादा अंग्रेज सैनिक नहीं थे। किन्तु हम लोग इस सफलता का आंकलन करते समय सदैव अपने कृतित्व को बढ़ा चढ़ाकर प्रस्तुत करते हैं। यह किसी भी तरह नहीं कहा जा सकता कि भारतवर्ष विदेशियों के द्वारा विजित हुआ था, बल्कि यह कहना उचित होगा कि भारतवर्ष ने स्वंय को स्वयं के द्वारा जय किया था - प्दकपं बंद इम ींतकसल इम ेंपक जव ींअम इममद बवदुनमतमक ंज ंसस इल जीम तिमपहदमतेए ीम ीं तंजीमत बवदुनमतमक ीमतमेमसण्* जब कोई स्वयं को स्वयं के द्वारा पराजित करता है तो उसको पराजय नहीं कहा जाता। वही तो

आत्ममुक्ति है। वहीं तो सर्वश्रेष्ठ विजय है। ऐतिहासिक साक्ष्य बताते हैं की प्लासी से कोरेगांव तक विजय का इतिहास लिखने वाली अंग्रेज सैन्यवाहिनी में 85% अछूत भारतीय सैनिक थे।

डॉ. आंबेडकर के जिन पूर्वजों को आर्य इतिहासकार भारतवर्ष की पराधीनता के लिए जिम्मेवार ठहराते हैं, जिन अछूतों की कथित देशद्रोहिता का उल्लेख कर बहुजन समाज के मनोबल को ध्वस्त करने का यत्न किया जाता रहा है, वै कौन थे ? इसका उत्तर स्वयं बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर लिख गए हैं – *अंग्रेजों ने जिस सेना वाहिनी द्वारा भारत विजय की थी, उसका गठन भारतीयों द्वारा ही किया गया था। किन्तु इस विदेशी सैन्यवाहिनी में किन भारतीयों ने योगदान किया था ? किन लोगों ने अंग्रेजों को भारत जय करने में सहयोग किया था ? इसके उत्तर में बहुत गहन अध्ययन करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि जिन लोगों ने ईस्ट इंडिया कंपनी की सैन्यवाहिनी में योगदान दिया था, वे थे मूल भारतीय अस्पृश्य। जिस भारतीय सेना ने लार्ड क्लाइव के तरफ से प्लासी में संग्राम किया था, वे थे दुसाध और दुसाध एक अछूत जाति है। इसी तरह जो लोग कोरेगांव में युद्ध जीते थे, वे महाराष्ट्र की महार जाति के लोग थे और महार भी अछूत माने जाते हैं।* प्रसंगवश उल्लेख किया जा सकता है कि मद्रास की अंग्रेज सैन्यवाहिनी भी विशेषकर परिहा जाति के अछूतों द्वारा ही गठित हुई थी।

डॉ. आंबेडकर के पूर्व पुरुषों दुसाधों और महारों को आर्य इतिहासकारों द्वारा देशद्रोही चिन्हित करना बिल्कुल ही स्वाभाविक है, क्योंकि अंग्रेजों के साथ आज की परस्पर विरोधी राष्ट्रीय सरकार के राष्ट्रीय एजेन्डे की तरह एक विशेष एजेंडे के तहत दुसाधों और महारों ने प्लासी से कोरेगांव तक विजय हासिल कर प्राचीन विदेशागत आर्यो के प्रभुत्व को ध्वस्त करने की दिशा में विराट पहल की थी। जिन विदेशागत आर्यों ने, मूल भारतीय बहुजन समाज को अपने शस्त्रों-शास्त्रों द्वारा हिन्दू-आरक्षण-व्यवस्था के तहत, सम्पत्ति संग्रह, शिक्षार्जन, शास्त्र व शस्त्रादि के स्पर्श के अधिकार से वंचित कर मानवेतर प्राणी बना कर रखा था, उन आर्यो के एकाधिकार को ध्वस्त करने के लिए अंग्रेजों को सैन्य सहयोग करने से श्रेयस्कर विकल्प दुसाधों और महारों के समक्ष नहीं था। कार्ल मार्क्स ने आंबेडकर के इन संग्रामी पूर्वजों के अभियान के निहित उद्देश्य को चिन्हित करते हुए लिखा है– *The native army organised and trained by British drill sergent was the Sine quanon of Indian itself emanicipation and of Indian ceasing to the prey of the first foreign intruders.*

भारतवर्ष के First Foreign Intruder अर्थात् प्रथम विदेशागत घुसपैठिये कौन? विदेशागत बर्बर आर्य! मूल भारतीय अस्पृश्य सुदूर अतीत से ही आर्य पराधीनता की बेड़ियां तोड़ने के लिए संग्रामरत रहे। आधुनिक काल में इस संग्राम को पूर्णांग रूप मिला प्लासी युद्ध में। इस युद्ध के युगान्तरकारी प्रभाव का आकलन करते हुए वर्तमान भारत के अग्रणी इतिहासकार श्री एस. के. विश्वास साहब लिखते हैं– *अगर दुसाध प्लासी युद्ध में अपनी भूमिका ग्रहण नहीं किए होते तो अस्पृश्य बहुजन के भाग्याकाश में मुक्ति का सूर्योदय नहीं हुआ होता। न ही जन्म ग्रहण करते डॉ. आंबेडकर और बाबू जगजीवन राम, न ही हम लोग देख पाते मान्यवर कांशीराम, बहन मायावती दलित सेनाध्यक्ष रामविलास पासवान व अन्यों*

को। प्लासी युद्ध के अछूत दुसाध सैनिकों के रक्तस्रोत और प्राण बलिदान की उर्वर भूमि से ही उठकर मंत्री के सिंहासन पर आरूढ़ हुए थे, डॉ. आंबेडकर 1942 में लेबर मिनिस्टर बनकर। 1946 के अंतरवर्ती कालीन सरकार के मंत्री बने थे बाबू जगजीवन राम और जोगेन्द्र नाथ मंडल 1947 में स्वाधीन भारतवर्ष में प्रथम कानून मंत्री का पद अलंकृत किए थे, पुन: डॉ. आंबेडकर। आज के दिनों का दलित-बहुजन का संघर्ष और कुछ नहीं, प्लासी युद्ध में उनके पूर्व-पुरुषों के हथियार उठाने की परिणत अवस्था मात्र है।

मूल भारतीय बहुजन समाज के अस्पृश्यों की कथित देशद्रोहिता का जवाब देते हुए, स्वयं बाबा साहेब ने कहा है- *अनेक इतिहासकार ही अस्पृश्यों के इस आचरण को देशद्रोहिता करार देते हैं। देशद्रोह अथवा देशप्रेम जो भी हो, अछूतों के क्षेत्र में यह आचरण यथार्थ ही नैसर्गिक है। इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं, जहां देखा गया है कि एक निपीड़ित समुदाय विदेशी आक्रमणकारियों को सहानुभूति एवं सहायता प्रदान किया है, केवल स्वदेशियों के अत्याचार से बचने के लिए।*

प्लासी के समरनायक दुसाधों के पथ का अनुसरण करते हुए, भारतवर्ष की तत्कालीन शासक गोष्ठी के उत्पीड़न से भारतीयों को निजात दिलाने के लिए ही नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने तानाशाह जर्मनी और जापान का सैन्य सहयोग लिया था। दुसाधों ने तो मूल भारतीय बहुजन समाज को इस देश के प्राचीन आर्य प्रभुओं से निजात दिलाने के लिए भारतभूमि में ही युद्ध किया था। किन्तु नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने तो विदेशी भूमि से भारत पर धावा बोला था, जिन्हें भारत की सीमा में प्रवेश करने से रोकने के लिए, स्वाधीनता संग्राम में रत बड़े-बड़े नेताओं ने लोगों का आह्वान किया था। अगर प्लासी से कोरेगांव तक भारतवर्ष की राष्ट्रीय सेनाओं को रौंदने वाले डॉ. आंबेडकर के पुरखे देशद्रोही थे तो नेताजी सुभाषचन्द्र बोस कैसे देशभक्त हो गए ? और नेताजी अगर देशभक्त थे तो उन्हें भारत की सीमा में प्रवेश करने से रोकने वाले नेताओं को किस श्रेणी में रखा जाएगा ? डॉ. आंबेडकर के पूर्वजों को देशद्रोही करार देने वाले आज के देश भक्तों को एक बार रायबहादुर, सर, राय चौधरी, सी. आई. ई. (Companion of Indian empire) के विविध भूषणों से अलंकृत व्यक्तियों की तालिका का अध्ययन करना चाहिए। अंग्रेजों द्वारा अलंकृत चूड़ान्त स्तर के दासत्व के अभ्यस्त एवं *पदलेही* भारतीयों में, इन भूषणों से शोभित सभी हिन्दू विदेशागत आर्यों के वंशधर रहे। डॉ. आंबेडकर के पूर्वजों की संख्या प्राय: शून्य रही। राजा राममोहन राय से लेकर बंकिम चटर्जी, रवीन्द्र नाथ टैगोर एवं उनके दादा प्रिन्स द्वारकानाथ ठाकुर, स्वामी विवेकानन्द, गांधी, नेहरू, सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, एम. एन. राय, गोखले एवं भारतवर्ष के असंख्य राष्ट्रीय नायकों के कथित उज्ज्वल दामन देशद्रोहिता के कलंक के दागों से मुक्त नहीं हैं। 1857 के कथित भारतीय स्वतंत्रता के प्रथम संग्राम पर आज की देशभक्त पीढ़ी जितना भी गर्व कर ले, भारतवर्ष के तत्कालीन बुद्धिजीवियों, राजे, महाराजे एवं समाज के अग्रणी व्यक्तियों ने विद्रोही सिपाहियों को कितना धिक्कृत किया और अंग्रेजों का सहयोग किया था इसका जायजा लेने के लिए एक बार श्री ए. के. विश्वास की रचना *Sepoy Mutiny 1857-58 and Indian perfidy* के पन्ने उलटने का आग्रह करूंगा।

आर्य भारत के इतिहास में डॉ. आंबेडकर के पूर्व पुरुषों की भूमिका भले ही देशद्रोहिता के रूप में चिन्हित हो किन्तु बहुजन भारत के इतिहास में इसका विपरीत रूप रहेगा। स्वयं डॉ. आंबेडकर को अपने पूर्वजों के इस कृत्य पर कोई कुंठा नहीं थी। उनके पूर्वजों का यह वीरोचित कार्य ही तो सत्ता हस्तान्तरित करने के बाद उनको अछूतों के लिए उचित अंश की मांग करने में आत्मविश्वासी बनाया था। यदि अत्यन्त बुद्धिमत्ता और साहस का परिचय देते हुए दुसाधों ने ब्रिटिश सैन्यवाहिनी में योगदान नहीं किया होता, यदि बहुजन मुक्तिकामी दुसाधों ने प्लासी युद्ध को जीतने का दु:साध्य कार्य संपन्न नहीं किया होता तो – आज भारतवर्ष में न तो सामाजिक न्याय का स्वर उच्चरित होता, न ही किसी दुसाध, चमार, महार, कुर्मी, कहार, यादव की संतानें मुख्य मंत्री, राज्यपाल, राष्ट्रपति, डाक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर न बनतीं, न ही भारतवर्ष के पोखरण में परीक्षित होता परमाणु बम। आधुनिक भारत के शिलान्यासी और बहुजन मुक्ति संग्राम के सूत्रपात्री दुसाधों के युगान्तरकारी कार्यों के प्रति सच्चा आभार प्रकट करने के लिए प्लासी युद्ध के उन अनाम शहीदों के नाम पर देश में जगह–जगह विजय स्तंभ और शहीद स्तंभ निर्माण की दिशा में हमें पहल करना चाहिए और इतिहास में उन्हें उचित स्थान देने का निर्णय इस स्थल से ही लेना चाहिए।

हिन्दू प्रचारतंत्र में बहुजन समाज

प्रचारतन्त्र की मार से भारत का बहुजन जितना आक्रांत हुआ है, उतना विश्व का कोई अन्य मानव समाज नहीं। नर-पशु बने बहुजनों के शोषण, वंचना और सतत दासत्व के मूल में हिन्दू प्रचार माध्यमों की भूमिका सर्वाधिक प्रभावकारी रही है। सहस्रों वर्ष पूर्व मूल-भारतीय विजीत दास जाति के शोषण के लिए वैदिक साहित्य द्वारा घृणा व उपेक्षा की जमीन पर रोपित वर्ण-भेद का पौधा, परवर्तीकाल में अछूत प्रथा, सती प्रथा, विधवा प्रथा व अन्यान्य कुप्रथाओं का रसायन पाकर अजर-अमर जाति वट-वृक्ष के रूप में विकसित हो उठा। यह जाति व्यवस्था ही सहस्राधिक वर्षों तक भारत की पराधीनता एवं वर्तमान में भी देश-प्रेम, अर्थ, ज्ञान, भातृत्व शून्यता का प्रधान कारण रही है। यह व्यवस्था राष्ट्र के लिए जितनी भी क्षतिकारक रही हो, देशात्मबोध-शून्य विदेशागत आर्यों के लिए वरदान साबित हुई है। इसलिए वर्ण-व्यवस्था द्वारा ही संपूर्ण जागतिक सुखों से समृद्ध यह संप्रदाय, अतीत से वर्तमान तक इस व्यवस्था को अटूट रखने के लिए अपने प्रचार माध्यमों का उपयोग करता रहा है।

प्राचीन एथेन्स में शोषक गोष्ठी के हित में चातुर्वर्ण जैसे त्रिवर्गीय सिद्धांत को द *रिपब्लिक* ग्रंथ द्वारा प्रचारित करने की प्रचेष्टा प्लेटो ने की थी, जो पूर्णतया विफल साबित हुआ। कारण चातुर्वर्ण व्यवस्था के प्रचारक वैदिक ऋषियों की भांति प्लेटो, अपने त्रिवर्गीय सिद्धांत को ईश्वर सृष्ट प्रचारित न कर सके। किन्तु प्राचीन ब्राह्मण मीडिया द्वारा जाति व्यवस्था को ईश्वर सृष्ट प्रचारित करने के फलस्वरूप मूल भारतीय विजीत दास, दैविक-दास में परिणत हो गए। ये दैविक दास इस व्यवस्था को ईश्वर सृष्ट मानकर, प्राचीन एथेन्स के स्वाभिमानी जनगण की भांति, इसके विरुद्ध विप्लव न कर सके; सहस्रों वर्षो से दासत्व के बंधन में पिष्ट व विचूर्ण, बस परजन्म में उच्चवर्ण में जन्म ग्रहण करने के लोभ में स्वतः चुपचाप इसे ढोए जा रहे हैं।

विजीत भारतीय समाज को सदा के लिए जाति/उपजातियों में विच्छिन्न करके, पराधीन दास शक्ति को अपने वंशधरों की सेवा में नियोजित करने में कुत्सित उद्देश्य से, ऋग्वेद के पुरुष-सुक्त से मानव समाज की सृष्टि में ईश्वर की विद्यमानता के जिस सिद्धांत को वैदिक ऋषियों ने प्रचारित किया, उसे वेदव्यास ने कुरुक्षेत्र के महासमर में कृष्ण को विराट रूप में आविर्भूत कराकर और पुष्टता प्रदान कर दिया। उसमें भी यदि कुछ कमी रही, तो उसे बौद्धोत्तर भारत में पूरा कर दिया मनु ने। मानव सृष्टि में हिन्दू-धर्म के दैवीय सिद्धांत पर आधारित, *मनु स्मृति* द्वारा जिस सामाजिक विधान को प्रचारित किया गया वही हिन्दू शास्त्रों का अभीष्ट है। वैदिक भारत से प्रारम्भ हिन्दू-धर्म दर्शन मूलतः मनुवाद के केन्द्रीय कक्ष पर ही घूर्णित होता रहा है। इस दर्शन का प्रचार करने वाले मनिषियों का एकमेव लक्ष्य उस हिन्दू-आरक्षण-व्यवस्था (वर्ण-व्यवस्था) को अटूट रखना रहा है जो राष्ट्र के समस्त संसाधनों

और उच्चमान के पेशों पर उच्चवर्णों का एकाधिकार कायम रखने के लिए बनी थी। प्राचीनकाल के ऋग्वेद के अनाम मनीषियों से लेकर मध्ययुग के तुलसीदासों एवं आज के भारत के अरुण शौरियों के मनोविज्ञान का अध्ययन करने पर यही दृष्टिगोचर होता है।

प्राचीनकाल की वैदिक मनीषा जहां मनुवाद को दृढ़ता प्रदान करने में जुटी रही, वहीं मध्ययुगीन मनीषा उसे पूर्ववत रखने में निमग्न रही। हालांकि तुलसी, सूर, मीरा के जमाने तक देश का चित्र भिन्न रूप ले चुका था। प्राचीन विजेता जाति उस समय तक मुसलमान विजेताओं का गुलाम बन चुकी थी। किन्तु मुसलमान विजेताओं ने भी प्राचीन विजेताओं की ही साझेदारी में अपनी अय्याशी के लिए 85% मूल भारतीय बहुजन समाज को ही अपने शोषण का लक्ष्य बनाया। इसलिए अपने समतामूलक धर्म के सिद्धांतों के विरुद्ध दण्डायमान, साझेदारों की हितकारी जाति व्यवस्था को कहीं से भी क्षति पहुंचाने से उन्होंने परहेज किया। चूंकि हिन्दू-आरक्षण (वर्ण-व्यवस्था) से उपकृत संप्रदाय को मुसलमान विजेताओं से कोई खास तकलीफ नहीं थी, इसलिए तुलसी, सूर, केशव, मीरा ने इस्लाम की तलवारों से टकराने के लिए हिन्दू समाज के समक्ष आवेदन न कर, इस व्यवस्था के जनक और संरक्षक, कृष्ण और राम के प्रति लोगों को और आकृष्ट करने में अपनी समग्र ऊर्जा उड़ेल दी। देवभक्ति में असामान्य रूप से मुखरित, इन संवेदनशील व्यक्तित्वों की देशभक्ति से दूरत्व के और कारण हो भी क्या सकते थे। उपरोक्त कारणवश ही तो आधुनिक मीडिया हिन्दू, तुलसी को लोकनायकत्व से भूषित करने में कभी लज्जित नहीं हुई। सारे के सारे मध्ययुगीन कवि, जनगण को पेशी संचालन करने की बजाय 'हरे राम, हरे कृष्ण' भजने हेतु हृदय यंत्र को और सक्रिय करने के लिए, भक्ति रस की हेरोइन पिलाते रहे। सामाजिक दायित्वज्ञान हीन भक्त कवियों की भक्ति रस की मदिरा पान कर बहुजन समाज सोया रहा एवं जाग्रत प्राचीन और नवागत अनाधिकार प्रवेशकारियों की मिलीभगत से मंदिर, मस्जिद, शिवाले और ताजमहल बनते रहे।

तुलसी, सूर, मीरा के परवर्तीकाल का बंकिम, टैगोर, प्रेमचन्द, निराला, महादेवी वर्मा के युग का भारत भी मूलत: यथावतवादी ही रहा। किन्तु इस काल में जरा विचित्रता का भी दर्शन मिलता है। देवभक्ति के साथ-साथ इस काल के प्रचार माध्यमों में देशभक्ति की भी अनुगूंज सुनाई पड़ती है, जो मध्ययुग में पूर्णतया अविद्यमान रही। अगर स्वाधीन भारत में अंग्रेजों द्वारा विकसित संसदीय प्रणाली के माध्यम से, हिन्दूराज के स्वर्णमृग को हासिल करने की उज्ज्वल संभावना नहीं दिखती तो शायद ही देशभक्ति का स्वर उच्चरित होता। स्वाधीनता के कुछ वर्ष पूर्व से लेकर स्वाधीनोत्तर काल में मार्क्स की वाणी भी प्रचार यंत्रों में गुंजित होने लगी। जिन लोगों पर प्रगतिशीलता का भूत सवार हुआ, वे वीणावादिनी की आशीर्वादपुष्ट कलम से हिन्दू ईश्वर द्वारा गुणों के आधार पर सृष्ट गुणहीन, शोषित, वंचित लोगों को आर्थिक दृष्टि से बराबर करने का आवेदन करने लगे। किन्तु पश्चिम के नव-मानवतावाद और मार्क्स के साम्य दर्शन से दीक्षित आधुनिक भारत के बुद्धिजीवियों का भारत में वैषम्य दूरीकरण का प्रयास पूर्णतया विफल ही रहा। कारण, उन्होंने उस प्रधान कारण को अक्षत रखते हुए ही साम्यता का प्रयास किया, जो इस देश में व्याप्त संपूर्ण आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक वैषम्य की जड़ है।

भारतवर्ष के समग्र वैषम्य का जो मूल कारण तुलसी, सूर, बंकिम, टैगोर, प्रेमचन्द, निराला के अनुसरणकारियों द्वारा अक्षत रहा, उसके विरुद्ध अंततः *गुलामगिरी* के पन्नों से ज्योतिबा फुले ने आवाज बुलंद कर ही दी। भारत के संपूर्ण विषमता की जड़ 'हिन्दू-ईश्वर-धर्म' के विरुद्ध पेरियार की दहाड़ ने तो दसों दिशाओं को कम्पित कर दिया। लेकिन *Riddles in Hinduism, Annihilation of Cast* इत्यादि के रचयिता और *मूक नायक, बहिष्कृत भारत* के सम्पादक डॉ. आंबेडकर ने समता, स्वाधीनता और भातृत्वाधारित भारत के निर्माण के लिए, विषमता की जड़ हिन्दू-ईश्वर और हिन्दू-धर्म पर सबसे करारा प्रहार किया। *बहुजन संगठक* के संपादक मा. कांशीराम का अवदान भी इस क्रम में स्वर्णिम अक्षरों में उल्लेख का दावा करने लायक है। सदियों से भारत की मुख्यधारा के मनीषा के मानस में जो कारण पालित-पोषित होता रहा है उसे निर्मूल करने के लिए, फुले, पेरियार, डॉ. आंबेडकर, मा. कांशीराम से अनुप्राणित एस. के. विश्वास, वी. टी. राजशेखर, बुद्धशरण हंस, जयप्रकाश कर्दम, चन्द्रभान प्रसाद, डा. विवेक कुमार, ओमप्रकाश बाल्मिकी जैसे अनेकों लोग मुस्तैद हो गए हैं। किन्तु इन्हें भी लक्ष्य पर पहुंचने के लिए मुख्यधारा के यथावतवादी प्रकाशकों से कोई सहयोग नहीं मिल रह है। फिर भी अपने सीमित साधनों से ये भारत में समता, स्वाधीनता और भ्रातृत्व स्थापित करने के लिए कटिबद्ध दिखाई पड़ रहे हैं। समाज परिवर्तन की विवर्तन धारा (Evolution Process) में आस्था खोकर क्रांतिकारी परिवर्तन (Revolutionery Change) की दिशा में दलित बुद्धिजीवी जो बलिष्ठ पदाक्षेप कर रहें हैं उसमें मजबूती तभी आएगी जब शेष बहुजन बुद्धिजीवी भी हिन्दू-धर्म-ईश्वर मुक्त मानसिकता लिए आगे आएंगे। साथ ही उनमें हिन्दू-आरक्षण का विकल्प देने की भावना हो।

विश्व के तथाकथित आदिम साहित्य ऋग्वेद से लेकर अत्याधुनिक प्रिन्ट मीडिया के विकास काल तक भारत के शिक्षा व ज्ञान के एकाधिकारियों की यात्रा अगर यथावतवाद के मार्ग पर रही तो पश्चिम के वैज्ञानिक मनीषियों द्वारा सृष्ट सिनेमा, टी.वी. जैसे जनमाध्यम भी उनकी उस मानसिकता से अछूते नहीं रहे। दादा साहेब फाल्के की निर्वाक फिल्म *हरिश्चन्द्र* से भारत की प्रथम सवाक् फिल्म *आलमआरा* से लेकर *हम साथ-साथ हैं* तक का भारतीय फिल्मों का सफर *ऋग्वेद* से *मनुस्मृति, रामचरित मानस* से *आनन्दमठ* और *वर्शिपिंग फाल्स गाड्स* से भिन्न नहीं है। भारतीय साहित्य के दर्पण में अगर समाज का अर्द्धसत्य प्रतिबिम्बित हुआ है तो सिनेमा के दर्पण में वह और भी धूमिल है। फिल्म उद्योग में भी देश के दस प्रतिशत अग्रणी लोगों का ही वर्चस्व रहा है। इन लोगों ने भी जाति-भेदमय, समता स्वाधीनता व भ्रातृत्वहीन भारतीय समाज का वास्तविक चित्र, भारतीय साहित्यकारों की तरह ही प्रतिबिम्बित करने से परहेज किया है।

कृत्रिमता और कृत्रिमता को ही दिखाने वाले भारतीय फिल्मकारों ने सर्वाधिक कृत्रिमता का परिचय बहुजन समाज को चित्रित करने में दिया है। वर्ण व्यवस्था में मानवेतर बने बहुजन समाज का इन्होंने कभी यथार्थ चित्रण नहीं किया। पेशवाकाल के हिन्दूराज का चित्रण तो किया किन्तु गले में थूकदानी और पदचिन्ह मिटाने के लिए कमर मे झाड़ू बांधे दलितों को नहीं दिखाया। भारतवर्ष की पराधीनता में क्षत्रियों का वीरोचित शौर्य और मीरजाफरों एवं राणा सांगाओं की भूमिका को दिखाया पर जाति भेद के कारण देश में उत्पन्न विच्छिन्नता को नहीं दिखाया। इन्होंने

शिवाजी, राणाप्रताप, सुभाष, गांधी के आदर्शों से समाज को प्रेरित करना चाहा लेकिन छत्रपति शाहूजी महाराज, फुले, पेरियार, आंबेडकर को इसके लायक नहीं समझा। इन्होंने गरीब बहुजन को एक गरीब मौलवी या पठान, बाबूजी या बाबू साहेब जैसा ही बराबर का गरीब समझा, परंतु बहुजन गरीब की जाति व्यवस्था द्वारा मानवेतरता की व्यथा के लिए सामाजिक न्याय की वकालत नहीं की। इन्होंने यह कभी नहीं दिखाया कि हिन्दू-आरक्षण-व्यवस्था के कारण ही सदियों से बहुजन समाज के लोग राजनेता, सैनिक, पुरोहित, शिक्षक, व्यापारी, उद्योगपति इत्यादि बनने का सपना न देख सके। इन्होंने वर्ण व्यवस्था द्वारा प्राय: छह हजार भागों में बंटे भारतीय समाज को मात्र गरीब और अमीर की दो श्रेणियों में देखा जो चरम कृत्रिम दृष्टिकोण है। कारण इन्होंने इस समाज के उन लोगों को रुष्ट नहीं करना चाहा जो छीन लेता है या फोड़ देता है उन कैमरों को जो चित्रित करना चाहता है बंबई, कलकत्ता, दिल्ली इत्यादि महानगरों की झुग्गी झोंपड़ियों को, गांव के दक्षिण में बसी मानवेतर बहुजनों की बस्तियों को। इन लोगों ने भी देश के दस को ही देश समझा है। ईश्वर के सतही चमत्कारों से प्राय: अपढ़, अर्द्धशिक्षित बहुजन दर्शकों को अभिभूत करने वाले अधिकतर फिल्मकार भी मनुवादी रहे हैं। जाति भेद व्यवस्था के विरुद्ध सतही डायलॉग मारने वाले फिल्मकारों ने हिन्दू-धर्म-ईश्वर सृष्ट जाति भेद व्यवस्था को, अपने मनुवादी संस्कारों के कारण, तोड़ने की उस शिद्दत के साथ कोशिश नहीं की जिस शिद्दत के साथ इन्होंने भारतीय समाज की गरीबी मिटाने और देवभक्ति तथा देशभक्ति प्रसारित करने में की। लोग कहते हैं कि कलाकार संवेदनशील होता है जिसकी कोई जाति नहीं होती। भारतीय फिल्मकार बंकिम चटर्जी, राजा राममोहन राय, पंडित विद्यासागर की तरह ही जाति-भेद मुक्त और संवेदनशील रहे। इन्होंने सामाजिक विषमता दूर करने के लिए कार्ल मार्क्स की दृष्टि ली। इनके आदर्श तुलसी रहे, सुभाष और गांधी रहे। लेकिन पेरियार, आंबेडकर, बुद्ध की दृष्टि कैमरे में गड़ाकर इन्होंने भारतवर्ष के समाज को देखने की जरूरत महसूस नहीं की।

भारतीय प्रचारयंत्रों में बहुजन से सीधा संपर्क स्थापित करने वाले सिनेमा, जिसकी शुरुआत ही *हरिश्चन्द्र* नामक मनुवादी विषय से हुई है, ने मूल भारतीय बहुजन समाज के पक्ष को घोर उपेक्षित और देश के दस को जितना गौरवान्वित किया है, उसे कल का उसका भूमिष्ठ अनुज टी.वी. बहुत पीछे छोड़ कर आगे निकल गया है। लोगों को शिक्षा, सूचना के साथ स्वस्थ मनोरंजन सुलभ कराने की प्रतिश्रुति के साथ जिस दूरदर्शन को राष्ट्र के जीवन के साथ जोड़ा गया वह आज निकृष्ट स्तर के मनोरंजन और वैदिक संस्कृति अर्थात् वर्ण-व्यवस्था का प्रसारक मात्र बन कर रह गया है।

7 जुलाई 1984 से *हम लोग* जैसे स्वस्थ पारिवारिक सोप ओपेरा के द्वारा दूरदर्शन ने लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करने का जो अभियान छेड़ा, उसमें *खानदान* से *बुनियाद* तक आते-आते काफी सफलता मिल गई। परवर्तीकाल में *रामायण, महाभारत, चाणक्य, टीपू सुल्तान की तलवार* ने दर्शकों को आकृष्ट करने में दूरदर्शन की प्रत्याशा को अतिक्रमित कर लिया। आकृष्ट जनगण में बाहुल्यता बहुजन समाज की रही। उपरोक्त धारावाहिकों की तैयार पृष्ठभूमि, सामाजिक न्याय के उद्घोष से प्रेरित सामाजिक परिवर्तन के प्रवाह को विपरीत दिशा में मोड़ने में यथावतवादियों के लिए काफी सहायक हुई। मध्ययुग में तुलसी, सूर प्रभृति ने इस देश के यथावतवादी संप्रदाय

के लिए जो कार्य किया वही वर्तमान में *कृष्णा, ओम नमो शिवाय, चन्द्रकान्ता, शक्तिमान, जय हनुमान* इत्यादि असंख्य धारावाहिकों के निर्माता कर रहे हैं। इन धारावाहिकों के माध्यम से अपनी अनार्य संस्कृति की अस्मिता की तलाश में जूझते बहुजन के विरुद्ध, आर्य संस्कृति के धारकों का सुपरिकल्पित षडयन्त्र क्रियाशील है। राम, कृष्ण, मीरा, राणा प्रताप, नेहरू, विद्यासागर, सुभाष, गांधी इत्यादि सहित असंख्य मुख्यधारा के महामानवों के अतिप्रचार के पार्श्व में रैदास, चोखामेला, तुकाराम, नामदेव, अछूतानन्द, फुले, पेरियार, शाहूजी महाराज, डॉ. आंबेडकर इत्यादि समाज परिवर्तनकामी बहुजन प्रतिभाओं के प्रति इलेक्ट्रॉनिक मीडिया की अछूतों जैसी उपेक्षा को, क्या षडयन्त्र से भिन्न समझा जाएगा ? यह षडयन्त्र ही तो है, जिसके तहत यहां के आर्य शासक गांधी पर फिल्म निर्माण के लिए रिचर्ड एटेनबरो जैसे विश्वविख्यात डायरेक्टर की सेवाएं लेते हैं तो डॉ. आंबेडकर के लिए काफी टालमटोल के बाद किसी तरह जब्बार पटेल जैसा टुटपूंजिया निर्देशक ढूंढ़ते हैं। इतना ही नहीं जवाहरलाल नेहरू पर पारिश्रमिक के विनिमय में फिल्म निर्देशित करने वाला केनेथ ग्रिफिथ जब अपने पैसों से डॉ. आंबेडकर पर अंतर्राष्ट्रीय स्तर की किसी फिल्म की योजना बनाता है तो भारत में शूटिंग के लिए वीसा तक नहीं दिया जाता है।

जो दूरदर्शन आज हिन्दू-धर्म-संस्कृति और आर्य श्रेष्ठत्व के प्रसार का केन्द्र बन गया है, उसका आभास मैंने वर्षों पहले पा लिया था। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया द्वारा किसी भी 'वाद' को ध्वस्त और किसी भी संस्कृति को स्थापित किया जा सकता है, इस बात को मैं बहुत पहले भांप चुका था। ऐसे में ऋग्वेदकाल से मनुवादी प्रचारयंत्रों का शिकार बने दलित बहुजन के लिए मैं 1993 से, दूरदर्शन में प्रतिनिधित्व के लिए बहुजन बुद्धिजीवियों के समक्ष आवेदन कर रहा हूं।

इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में दलित बहुजन के प्रतिनिधित्व की बात सुनकर इस देश के मेरिट वालों की पेशानी पर शिकन उभर आती है। उन्हें लगता है इससे फिल्म और टी.वी. के क्षेत्र में Sub-Standard को बढ़ावा मिलेगा। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ज्ञान-विज्ञान, साहित्य-सिनेमा, खेल-कूद में हास्यापद Standard का परिचय देनेवाले, मूल भारतीय बहुजन के समक्ष अपने मेरिट का जितना भी दंभ भर लें किन्तु वास्तव में ये प्रश्नातीत योग्यता के अधिकारी नहीं हैं। जहां तक फिल्म और टी.वी. का सवाल है इनका तैयार उत्पाद हमारा बहुजन ही हजम कर सकता है। डी.मेल, कुरोसोवा, डेविड लीन, स्पिलबर्ग इत्यादि के देशवासियों के लिए बालीवुड के मेरिट वालों का तैयार त्त्वकनबज निगलना दुष्कर है। 1970 में ग्रेगरी पेक और ओमर शरीफ अभिनीत *मैकनाज गोल्ड* की तकनीकी उत्कर्षता से विस्मित स्व: आई. एस. जौहर ने कहा था कि तकनीकी रूप से हमें वहां पहुंचने में 50 वषे लगेंगे। *जुरासिक पार्क, टाइटनिक* वगैरह देखकर मुझे लगता है हॉलीवुड को छूने में बॉलीवुड को 100 साल से भी ज्यादा लगेंगे। बॉलीवुड के मुकेश खन्ना जैसे प्रतिभाधर अधिक से अधिक तीन दशक पूर्व निर्मित हॉलीवुड की सुपरमैन के विषय और उस फिल्म के नायक क्रिस्टोफर रीव की सतही नकल कर *शक्तिमान* द्वारा बच्चों और हमारे निरीह बहुजन दर्शकों को ही विस्मित कर सकते हैं। विदेशों के ग्रेगरी पेक, चार्ली चैप्लिन, सर एलेक गिनेस, ओमर शरीफ वगैरह के अभिनय की नकल ही करके क्रमश: देवानन्द, स्व: राजकपूर, स्व: राजकुमार, स्व: संजीव कुमार जैसे बंबइया नायकों ने महान

प्रतिभाशाली के रूप में मान्यता पाया है। माइकल जैक्सन, मैडोना, सामंथा फॉक्स की सतही कॉपी करने वाले इस देश की युवा पीढ़ी के हृदय सम्राट बन गए हैं। विदेशों की आयातित तकनीक और एलेक्जेण्डर डूमा इयान फ्लेमिंग इत्यादि की कहानियां नहीं मिलतीं तो इस देश के फिल्मकारों को महान 'शोमैन' का भ्रम पालने का मौका ही नहीं मिलता।

कहने का तात्पर्य यह है जब इस देश के फिल्म और टी.वी. विधा से जुड़े व्यक्तित्व के मेरिट के कहानी यह है तो दलित बहुजन को इलेक्ट्रॉनिक्स मीडिया में प्रतिनिधित्व दे देने से कोई Standard में गिरावट नहीं आ जाएगी। जिस तरह दलित साहित्यकारों के प्रवेश से बंकिम, टैगोर, प्रेमचन्द, निराला के देश के साहित्य को सार्थकता मिलने जा रही है, आश्चर्य नहीं होगा कि दलितों के इलेक्ट्रॉनिक्स मीडिया में प्रवेश से, इस क्षेत्र में भी कोई सुखद परिवर्तन घटित हो जाए।

मीडिया में बीएसपी की संघ विरोधी भूमिका की अनदेखी

हिंदी पत्रकारिता, हिंदू पत्रकारिता है, यह आरोप तो अरसे से सुनाई पड़ रहा था पर, संप्रतिकाल में यह शोर में तब्दील हो गया है और ऐसा करने वाले खुद हिंदी पत्रकारों का धर्मनिरपेक्षतावादी खेमा ही है। वे इसे हिंदू पत्रकारिता साबित करने के लिए प्रधानतः मस्जिद ध्वंस से लेकर गुजरात कांड तक हिंदी अखबारों द्वारा अपनाये गये रूख को साक्ष्य के तौर पर प्रस्तुत करते हैं। राष्ट्र की एकता व अखंडता को गहरे रूप से प्रभावित करने वाली इन घटनाओं पर हिंदी अखबारों ने जैसा रूख अपनाया व परवर्तीकाल में इससे जिस विचारधारा की राजनीति को बल मिला उससे इन्हें अब हिंदुत्ववादी राजनीति के साथ हिंदी पत्रकारिता का रिश्ता उस नारे का अंग नजर आने लगा है, जिसमे हिंदू, हिंदी और हिंदुस्तान का इरादा छिपा है। *यह सच है कि 'तथाकथित कारसेवा और उसके बाद बाबरी मस्जिद ढहाने का जो दुष्कर्म किया गया उस पर कई हिंदी अखबारों ने एक अश्लील और क्रूर किस्म के साथ जो कुछ लिखा'*[1] एवं गोधरा कांड के बाद तोगड़िया, आचार्य गिरिराज किशोर, धर्मेन्द्र स्वामी, परमहंस दास इत्यादि जैसे अख्यात व उद्‌भ्रांत लोगों के छोटे से छोटे भड़काऊ बयानों को जिस तरह प्रमुखता से छापा वह निश्चय ही हिंदी जैसी बहुसंख्यक भाषा पर कलंक है। इसलिए आज खुलकर उस पर पूरे राष्ट्र के बजाए हिंदू के रूप में गण्य निहायत ही अल्पजन समुदाय की प्रतिनिधि पत्रिका होने का आरोप लग रहा है।

इसका चरित्र इस रूप में क्यों विकसित हुआ है, इसका उत्तर उस पर आक्षेप लगाने वाले तमाम बुद्धिजीवियों को मालूम है। वरिष्ठ पत्रकार मंगलेश डबराल के शब्दों में, *हिंदी पत्रकारिता के साथ एक बड़ा दुर्भाग्य है कि उत्तर-भारत के ज्यादातर हिंदी अखबारों के मालिकों और पत्रकारों के बहुत क्षुद्र स्वार्थ बन गये हैं उन स्वार्थों के आगे मनुष्य और समाज उनके लिए कुछ भी नहीं है। वे स्वार्थी इस कारण भी अधिक बन गये हैं कि हिंदी के पास पिछले कई वर्षों में खासी राजनैतिक ताकत आई है। राजनैतिक रूप से कहा जाता है कि इस देश में उत्तर-प्रदेश ही राज करता है। उत्तर प्रदेश की भाषा हिंदी है। इस राजनैतिक ताकत ने हिंदी पत्रकारिता को सत्ता के करीब रहने का आसान रास्ता सुलभ करा दिया है। ....उत्तर प्रदेश राजनैतिक रूप से शक्तिशाली है तो सांस्कृतिक रूप से अत्यंत दरिद्र है। यह दरिद्रता अखबारों भी प्रकट होती है। कुछ हिंदी अखबारों के पत्रकार या तो नेता हैं या विभिन्न पार्टियों के एजेण्ट। यह एक बड़ा दुर्भाग्य है कि हिंदी की पत्रकारिता पूरे समाज के विषय में व्यापक दृष्टिकोण रखने की बजाए एक घटिया हिंदू मानसिकता की अभिव्यक्ति करती है।*[2] सत्ता का अनुग्रह जय करने के अतिरिक्त इसके चरित्र निर्माण में जातिगत कारण भी है इसका

खुलासा करते हुए डॉ. महीपसिंह ने कहा है कि *अखबारों के संपादक और संपादकीय विभाग में ब्राह्मणों का वर्चस्व है या कायस्थों का। दलित या दूसरे पिछड़े वर्गों के लोगों की भागीदारी न के बराबर है। ऐसी स्थिति में वर्गों और जातियों की अपनी मानसिकता सारी पत्रकारिता के तेवर को प्रभावित तो करेगी ही।*[3] उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त हिंदी पत्रकारिता के क्रमशःउग्र हिंदुत्ववादी होते जाने की पृष्ठ में खुद हिंदुत्ववादी सांप्रदायकि शक्तियों की सक्रियता भी एक बड़ा कारण है इसका रहस्योद्घाटन करते हुए अनिल चमड़िया कहते हैं, *तीन स्तरों पर हिंदुत्ववादी शक्तियां मीडिया को लेकर सक्रिय हैं। पहला, पुराने और व्यवसायिक संस्थानों में घुसपैठ; दूसरा, उनके स्थानापन्न के लिए अपने नियन्त्रयण वाली संस्थाओं की स्थापना और तीसरा, हिंदुत्ववादी सांप्रदायिकता विरोधी पत्रकारों व संस्थानों पर हमले।*[4]

लेकिन हिंदी अखबारों के मालिकों और पत्रकारों के क्षुद्र स्वार्थ एवं उनकी जातिवादी मानसिकता के कारण इसने जो हिंदू पत्रकारिता का रूप अख्तियार किया है उससे बुद्धिजीवी खास चिंतित नहीं होते यदि न इसके कारण संघ परिवार के राजनीतिक संगठन की शक्ति में अभिवृद्धि हुई होती। क्योंकि भाजपा के राज्य एवं केंद्र की सत्ता पर काबिज एवं उसके भ्रांतृ संगठनों द्वारा अयोध्या से गुजरात तक देश की हजारों करोड़ की संपदा एवं असंख्य लोगों की प्राणहानि किये जाने के पूर्व के वर्षों की *मुख्यधारा की हिंदी पत्रकारिता का अध्ययन किया जाए तो उसका विकास सामाजिक क्षेत्र में दकियानूसी विचारों; प्रतिगामी प्रवृतियों और कर्मकांडों को तथा राजनीतिक क्षेत्र में सत्ताधारी पार्टी की नीतियों को प्रचारित करने की प्रक्रिया में ही हुआ है। इसके बाद जो स्थान बचता था वह जैन मुनियों के प्रवचनों से लेकर बिड़ला मंदिर के सत्संगों की रिपोर्टों को दिया जाता रहा। यह स्थिति हाल के वर्षों तक रही।*[5] अर्थात हिंदी पत्रकारिता अपने जन्मकाल से हिंदू पत्रकारिता ही रही यह बात दावे से कही जा सकती है। कारण, एकमात्र स्वाधीनता संघर्ष के दिनों में इसकी जिस भूमिका की प्रशंसा की जाती है, वह संघर्ष भी बहुतों के अनुसार हिंदू राज का ही संघर्ष था। ऐसे में जो पत्रकारिता अपने शैश्वाकाल से हिंदू पत्रकारिता रही वह ऐतिहासिक कारणों से बाबरी मस्जिद ध्वंसोत्तर काल में उग्रतर हिंदू पत्रकारिता के रूप में तब्दील होने के लिए अभिशप्त थी, और इससे संघ परिवार को लाभान्वित होना ही था एवं वह हुआ भी। जाहिर है नब्बे के दशक में जब संघ सत्ता में घुसपैठ बनाकर सांप्रदायिकता को तुंग पर पहुंचाने लगा, हिंदी पत्रकारिता ने हिंदुत्ववादी सांप्रदायिकता विरोधी पत्रकारों की मुश्किलों में और इजाफा कर दिया। पर, सांप्रदायिकता के उभार के दिनों में, जनमत निर्माण में सर्वाधिक प्रभावशाली भूमिका निभाने वाले अखबारों की पहुंच मेट्रोपोलिटन शहरों से लेकर गांवों तक हो गयी थी। लाखों-लाखों लोगों तक पहुंचने वाले इन अखबारों द्वारा सांप्रदायिकता को जितना भी बढ़ावा दिया जाता रहा हो, भरपूर स्पेस उनमें हिंदुत्ववादी सांप्रदायिकता विरोधी पत्रकारों के लिए भी सुलभ था। इस लेखक का मानना है कि संघ विरोधी पत्रकार यदि ईमानदारी से अखबारों के सम्पादकीय पृष्ठों पर मिले स्पेस का इस्तेमाल किये होते तो भाजपा कभी भी केंद्र की सत्ता पर नहीं पहुंचती। लेकिन भरपूर अवसर पाकर भी वे संघ परिवार के राजनीतिक संगठन के विस्तार

को रोकने में बुरी तरह विफल रहे तो उसके मूल में वह रणनीति ही है जो उन्होंने भेड़चाल के रूप में इच्छाकृत या अनजाने में अपनाया।

सांप्रदायिकता विरोधी पत्रकारों को जो स्पेस हिंदू अखबारों ने सुलभ कराया उसका अधिकतम उपयोग उन्होंने संघ परिवार को सांप्रदायिक और अल्पसंख्यक विरोधी प्रचारित करने में लगाया। शायद ही कोई धर्मनिपेक्षतावादी पत्रकार हो जिसने बार-बार संघ को सांप्रदायिक कहने और यह बताने पर बल न दिया हो कि उसके असल निशाने पर अल्पसंख्यक (मुसलमान) हैं। लेकिन संघ पर वैसा इल्जाम लगाने वाले पत्रकारों ने शायद देखने की कोशिश नहीं की कि संघ खुद ही सुपरिकल्पित तरीके से अपनी छवि घोर सांप्रदायिक व अल्पसंख्यक विरोधी के रूप में निर्मित करता रहा। और धर्मनिरपेक्षतावादियों ने उसके ऐसा होने का सर्वशक्ति से प्रचाराभियान चलाकर उस छवि को और पुष्टता प्रदान कर दिया। संघ को यह छवि रास आयी। क्योंकि ब्राह्मणों द्वारा ब्राह्मणों के हित में सृष्ट संघ एक ऐसा संगठन है जिसका लक्ष्य ब्राह्मणों के नेतृत्व में क्षत्रिय और वैश्यों के भी हितों की रक्षा करना है। इस तरह यह मूलत: एक सवर्णवादी संगठन है जिसका जनाधार अधिक से अधिक 15 प्रतिशत लोगों तक सीमित है। लेकिन जब इसे सांप्रदायिक के रूप में अतिप्रचारित किया गया तब उसका जनाधार 15 से 85 प्रतिशत तक फैलने की संभावना उजागर हो गयी। इससे उसके जनाधार का विस्तार कैसे हो गया यह सांप्रदायिकता के विचारधारा के विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जायेगा। सांप्रदायिकता की विचारधारा क्या है और यह कैसे अपना प्रभाव विस्तार करती है इसका अच्छा विश्लेषण विपिन चन्द्र ने किया है। वे कहते हैं–

सांप्रदायिकता या सांप्रदायिक विचारधारा के तीन तत्व या तीन चरण होते हैं और उनके तारतम्य होता है। इस क्रम में सबसे पहला स्थान इस विश्वास को है कि एक ही धर्म के मानने वालों के सांसारिक हित-यानी राजनीतिक आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हित भी एक ही जैसे होते हैं। सांप्रदायिक विचारधारा के हृदय का पहला आधार है। इसी से धर्म पर आधारित सामाजिक-राजनीतिक समुदायों की धारणा का जन्म होता है। ..... सांप्रदायिक विचारधारा का दूसरा तत्व यह विश्वास है कि भारत जैसे बहुभाषीय समाज में एक धर्म के अनुयायियों के सांसारिक हित यानी सामाजिक सांस्कृति, आर्थिक और राजनीतिक हित अन्य किसी भी धर्म के अनुयायियों के सांसारिक हितों से भिन्न है। सांप्रदायिकता अपने तीसरे चरण में तब प्रवेश करती है जब यह मान लिया जाता है कि विभिन्न धर्मों के अनुयायियों या समुदायों के हित एक दूसरे के विरोधी हैं।[6]

सांप्रदायिक विचारधारा में विद्यमान उपरोक्त तत्वों को ध्यान में रखकर ही डॉ. हेडगेवार ने मुसलमानों के विरुद्ध एक विशाल हिंदू समाज बनाने के लिए राष्ट्रीय स्वंयसेवक संघ की स्थापना की थी। पर, उसके पृष्ठ में उनका लक्ष्य विशाल हिंदू समाज का हित न होकर ब्राह्मणों का हित ही सर्वोपरि था। क्योंकि *1925 के पूर्व वर्षों में बड़ी तेजी से ब्राह्मणों के विरुद्ध हालात पैदा होने लगे थे। उन दिनों अग्रणीय विद्वान लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में ब्राह्मणों को आर्य (विदेशी) प्रमाणित करने की होड़ विद्वानों में पैदा हो चुकी थी। 1922 में सिन्धु*

सभ्यता के उत्खनन के सत्यान्वेषण ने भारत में प्राचीन विदेशागत लोगों के आगमन की पुष्टि कर दी थी। उधर सिन्धु सभ्यता के सत्यान्वेषण और ज्योतिबा फुले के आर्य-अनार्य सिद्धांत से प्रेरित ई.व्ही. रामास्वामी पेरियार, दक्षिण भारत में आर्य-द्रविड़ सिद्धांत का प्रचार कर, ब्राह्मण सत्ता के विनाश की आधारशिला तैयार करना शुरू कर चुके थे। इसके पूर्व 1918 में इंग्लैण्ड की पार्लियामेंट में पुरुषों के साथ तीस वर्ष से अधिक उम्र की महिलाओं के लिए मताधिकर का कानून पास हो चुका था। जो इस बात का संकेत था कि वहां निकट भविष्य में एडल्ट फ्रेंचाइज लागू होने जा रहा है। इन सारे हालतों पर किसी की सजग दृष्टि थी तो डा. हेडगेवार की। बंगाल की अनुशीलन समिति, जिसमें शूद्रों और मुसलमानों का प्रवेश निषिद्ध था, के सदस्य रह चुके डा. हेडगेवार ने ब्रिटेन में महिला फ्रेंचाइज लागू होते ही भारत के भविष्य का चित्र देख लिया था। उन्हें यह अनुमान लगाने में देर नहीं हुई कि जो भारत खुद अंग्रेजों के लिए बोझ बन चुका है, उसे वे निकट भविष्य में स्वत: ही छोड़कर चले जायेंगे। उनके जाने के बाद आजाद भारत में जब संसदीय प्रणाली लागू होगी, जिसमें आर्थिक व मानवीय मर्यादाशून्य दलित-पिछड़ों को भी वोट देने का अधिकार मिलेगा। वैसे में मताधिकार सम्पन्न शिक्षित व जागरूक शूद्रातिशूद्र विदेशी रूप में चिन्हित ब्राह्मणों को वोट देने से पहले दो बार सोचेगें। पेरियार के जोर पकड़ते 'आत्म सम्मान के आंदोलन ने उन्हें कुछ कदम उठाने के लिए विवश कर दिया। 1925 के पूर्व दिनों के हालात ने ही उन्हें विशाल हिंदू समाज बनाने के लिए प्रेरित किया ताकि विद्वानों द्वारा विदेशी प्रमाणित किये गये लोगों को विशाल हिंदू समाज के अंग के रूप में प्रस्तुत किया जा सके। इसीलिए जिन दिनों देश के दूसरे नेता आजादी की जंग लड़ रहे थे, उन्होंने आजाद भारत के ब्राह्मणों के हित में राष्ट्रीय स्वंयसेवक संघ बनाकर, मुस्लिम विद्वेष के प्रसार और हिंदू- धर्म-संस्कृति के नाम पर लोगों को उद्वेलित कर विशाल हिंदू समाज बनाने में खुद को निमग्न किया। वे इस बात से वाकिफ थे कि जो दलित-पिछड़े हिंदू-धर्म के नाम पर खुशी-खुशी पशुवत जिंदगी जी रहे हैं उनको धर्म के नाम पर उद्वेलित कर आसानी से ध्रुवीकृत किया जा सकता है। और जब हिंदू-धर्म के नाम पर हिंदुओं का ध्रुवीकरण होगा तो नेतृत्व स्वत: ब्राह्मणों के हाथ में जायेगा ही जायेगा। [7]

लेकिन आजाद भारत में ब्राह्मण सत्ता पर अस्सी के दशक तक कोई संकट नहीं आया। अत: *उस समय तक हेडगेवार से गुरुमंत्र पाकर संघ चुपचाप काम करता रहा। लेकिन मंडल की रिपोर्ट के बाद जब दलित-पिछड़ों के हाथ में सत्ता आने का आसार दिखा तब संघ ने हेडगेवार के फार्मूले पर लौटते हुए, राम जन्मभूमि के उद्धार के नाम पर आजाद भारत का सबसे बड़ा आंदोलन (अटल बिहारी वाजपेयी के अनुसार) खड़ा कर दिया। परिणाम आज सामने है। स्वयं ब्राह्मण अटलजी अल्पजन समाज के सदस्य होकर भी एक नहीं तीन बर देश की बागडोर थाम चुके हैं।*[8]

वास्तव में सांप्रदायिकता विरोधी पत्रकारों की रणनीति में एक विराट छिद्र यह रहा कि वे सांप्रदायिकता के विरुद्ध लड़ाई में मंडल की रपट को प्राय: विस्मृत कर गये जबकि मंडल के कारण ही संघ परिवार को उग्र सांप्रदायिकता का दामन थामना पड़ा था। क्या हुआ था मंडल रपट से ! इसके कारण सवर्णो को 27 प्रतिशत नौकरी के अवसरों से वंचित होना पड़ा

था जिससे क्षुब्ध होकर सवर्ण युवकों ने आत्मदाह तक का रास्ता अख्तियार कर लिया था। लेकिन इससे भी बड़ा प्रभाव राजनीति के क्षेत्र में पड़ा था। 1978 में बामसेफ की स्थापना के बाद कांशीराम ने दलित-पिछड़ों को जोड़ने एवं उनकी जाति चेतना के राजनीतिकरण की जो प्रक्रिया शुरू की थी उसमें मंडल की रपट प्रकाशित होने के बाद अचानक भारी उछाल आ गया जिससे यह तय हो गया कि जाति के नाम पर आने वाले दिनों में भारत की परम्परागत शासक जातियों-ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों - के लिए चुनाव जीतना मुश्किल हो जायेगा। आकस्मिक तौर पर उभरे इस चिरस्थाई संकट का मुकाबला करने के लिए संघ को जोर-शोर डा. हेडगेवार के फार्मूले (हिंदू-धर्म-संस्कृति के पुनरूद्धार और मुस्लिम विद्वेष के प्रसार) जिसे गोलवलकर, डी.डी. उपाध्याय और श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने और धारदार बना दिया था, पर लौटने के सिवाय कोई और विकल्प नहीं था। इस फार्मूले से निरिह दलित-पिछड़ों की धार्मिक चेतना के राजनीतिकरण हुआ। फलतः बहुजनों का जाति चेतना के राजनीतिकरण की बाधित हुईं अल्पजन सवर्ण, हिंदू के नाम पर बहुजनों के वोट से चुनकर सत्ता पर काबिज होने लगे।

बहरहाल जाति चेतना का मुकाबला धार्मिक चेतना के राजनीतिकरण से करने के लिए संघ ने जो उग्र सांप्रदायिकता का कार्ड खेला उससे जहां बहुजनों की जाति चेतना में शिथिलता आयी वहीं मुसलमानों के जान-माल का ज्यादा ही नुकसान हुआ। इस नुकसान को देखकर संघ विरोधी नेताओं की भांति कुछ पत्रकार खुलकर तो कुछ संकेतों से यही बताने लगे कि संघ के असल निशाने पर मुसलमान ही हैं। यह एक भ्रांत सिद्धांत था और इससे संघ को दोहरा लाभ मिला। पहला, मुसलमानों के बीच संघ का हौव्वा खड़ा करने से मुस्लिम समाज के सामने देश की संपदा और संस्थाओं में भागीदारी का प्रश्न हो गया गौण क्योंकि सुरक्षा बन गई पहला व आखिरी मुद्दा। इससे देश की सत्ता पर काबिज संघियों को मुसलमानों की भागीदारी के प्रश्न से पूरी तरह राहत मिल गईं। दूसरा, मुसलमानों को संघ के असल निशाने पर जानकर सांप्रदायिकता विरोधी बुद्धिजीवियों ने जो उनकी अतिरिक्त तरफदारी की उससे धर्म के नाम हिंदुओं का ध्रुवीकरण कुछ और ही ज्यादा हुआ। बुद्धिजीवियों की यह रणनीति संघ परिवार के लिए कितनी फायदेमंद हुई इसका बेहतरीन मिसाल गुजरात विधानसभा का पिछला चुनाव है।

क्या यह सही है, जैसा कि सांप्रदायिकता विरोधी पत्रकार खुलकर या या संकेतों से यह बताते रहे है कि संघ के असल शत्रु मुसलमान हैं ? यह सोचने की बात है कि घोषित तौर पर अराजनैतिक संगठन संघ का लक्ष्य सत्ता पर कब्जा जमाना है। सत्ता की राह में बाधक 16-17 प्रतिशत मुसलमान ही हैं या अस्पृश्य-आदिवासी-पिछड़ों का विशाल मतदाता समूह ? बेशक गैर-अल्पसंख्यक ही उसकी राह की मुख्य बाधा है और यही विशाल मतदाता समूह जब मंडल के दिनों में सवर्णवादी सत्ता के समक्ष पर्वत बनकर खड़ा हुआ तब उसे सांप्रदायिकता का कार्ड खेलना पड़ा। ऐसे में यह कहना ही ठीक होगा कि *देखने पर संघ के सीधे निशाने पर अल्पसंख्यक समुदाय जरूर नजर आता है पर असल निशाने पर दलित-पिछड़े ही हैं।* वास्तव में हिंदुत्ववादी सांप्रदायिकता विरोधी बुद्धिजीवियों ने संघ के

विरुद्ध वैचारिक प्रहार करते हुए शब्द चयन में सावधानी बिल्कुल ही नहीं बरता। इस क्रम में उन्होंने सबसे बड़ी भूल संघ के साथ अतिशय मात्रा में 'सांप्रदायिक' का विशेषण जोड़कर किया। *इसे बार-बार सांप्रदायिक कहने का नतीजा यह हुआ है कि जाहिल किस्म के जो दलित-पिछड़े खुद को हिंदू समझते हैं उन लोगों ने भी यह मानना शुरू किया कि संघ उनका भी हितैषी है। फलत: जिन्हें संघ विरोधी खेमे में होना चाहिए, वे संघ समर्थन कैम्प में चले गये।*[10] ऐसा क्यों हुआ वह पिछली पंक्तियों में विपिन द्वारा सांप्रदायिकता की दी गई परिभाषा का मनन करके जाना जा सकता है। वास्तव में संघ के लिए 'सांप्रदायिक' की जगह 'सवर्णवादी' का विशेलेषण इस्तेमाल किया गया होता तो कुछ और ही बात होती। सांप्रदायिकता संघ का हथियार है क्योंकि यह सहस्रों भागों में विच्छिन्न हिंदुओं को हिंदू के नाम पर एकीकृत कर उसके लक्ष्यों की पूर्ति कर देती है। इससे अद्विजों और द्विजों का स्वार्थ एक जैसा लगने लगता है और दलित-पिछड़े, सवर्णो की जगह अल्पसंख्यकों को अपने हित में बाधक मानने लगते हैं। इस हथियार के प्रयोग का मनोवैज्ञानिक असर डा. आंबेडकर की इस टिप्पणी *हजारों जातियों में बंटे कलहरत हिंदू कभी एक नहीं होते। ये तभी एक होते हैं जब इनके जब इनके सामने मुस्लिम आंतक का हौव्वा खड़ा होता है। बाकी हर समय, हर बात में वे एक दूसरे से जुदा-जुदा रहते हैं*-में समझा जा सकता है। वैसे हिंदुओं का यह विच्छिन्न चरित्र ही सवर्णों के प्रभुत्व के लिए फायदेमंद है। पर, चुनाव के समय अल्पजनों को बहुमत के लिए सांप्रदायिकता का इस्तेमाल जरूरी हो जाता है। बहरहाल यह निर्विवाद रूप से सही है कि संघ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का हितपोषक संगठन है अत: यह एक विशुद्ध सवर्णवादी संगठन हुआ। अत: बार-बार यह इसे 'सवर्णवादी' प्रचारित करने के साथ ही बार-बार यह सत्य अखबारों के द्वारा जनता तक पहुंचाया जाता कि संघ की तमाम गतिविधियों का लक्ष्य दलित-पिछड़ों को सत्ता से दूर रखना है तो यह अब तक काफी हद तक सिमट गया होता।

लेकिन सांप्रदायिकता विरोधियों का प्रतिपक्ष जनमत निर्माण में शब्दों को हथियार के रूप में इस्तेमाल करने में निपुण था। इसलिए तो भानु प्रताम शुक्ल, स्व. नरेन्द्र मोहन, तरूण विजय, दीनानाथ मिश्र, हृदय नारायण दीक्षित, बलबीर पुंज इत्यादि कलमवीरों ने बड़ी कुशलता के साथ एक राष्ट्र विरोधी संगठन के साथ 'राष्ट्रवादी' का पुछल्ला जोड़कर उसे जनता का कोपभाजन होने से बचा लिया। लेकिन जो संगठन देश के मुट्ठी भर सवर्णों के स्वार्थ के लिए निर्भूल हिसाब करके एक छोटी सी मस्जिद के ध्वंस के विनिमय में हजारों हिंदू देवालयों का ध्वंस एवं अरबों-खरबों की संपदा के साथ असंख्य लोगों की प्राणहानि करा दिया; जो तुच्छ स्वार्थ के लिए 18 करोड़ लोगों को मुख्यधारा से अलग-थलग कर उस मानव शक्ति को देश हित में इस्तेमाल होने से रोकता है एवं इस प्रक्रिया में देश के एक और विभाजन की जमीन तैयार करता है; जो सदियों से देश की संपदा, संस्थाओं और लाभाकारी पेशों से वंचित किये गये लोगों का नौकरियों में आरक्षण खत्म करने के लिए देश की सुरक्षा तक से जुड़े लाभकारी सार्वजनिक उपक्रमों के बेचने की जुगत भिड़ाकर देश को अर्थिक रूप से विदेशियों का गुलाम बनाने का सर्वशक्ति से प्रयास करता हो वैसा संगठन और उससे जुड़े लोग तो विशुद्ध राष्ट्रद्रोही ही हुए न ?

बहरहाल हिंदी पत्रकारिता को हिंदू पत्रकारिता कहने वालों ने अपने जिस शत्रु को सांप्रदायिक रूप में चिन्हित किया उससे लड़ने के लिए पकड़ा धर्मनिपेक्षता का हथियार। इस हथियार का सांप्रदायिकता विरोधी किस तरह इस्तेमाल किये हैं इसका जायजा लेने के पूर्व हमें यह बात ध्यान में रखनी होगी कि *अपने बृहत्तर उद्देश्य के लिए ही संघ परिवार ने खुद को बड़ी चालाकी से हिंदू-धर्म-संस्कृति के ठेकेदार के रूप में परिणत कर लिया है। ऐसे में जब तक हिंदू-धर्म-संस्कृति के प्रति लोगों में जरा भी आकर्षण है, यह उन्हें, उसके नाम पर आंदोलन या बवाल खड़ा करके अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए लोगों को ध्रुवीकृत करता रहेगा। अत: जिस संगठन की जीवनी शक्ति ही हिंदू-धर्म-संस्कृति है उसके विरुद्ध वही शक्ति कामयाब हो सकती है जिसमें इसके खात्में की दूरगामी रणनीति हो क्योंकि जब तक हिंदू-धर्म-संस्कृति का वजूद है तक इसे सबल या दुर्बल रूप में बचे रहना ही है।* [11] अत: देश की जो हिंदुत्ववादी सांप्रदायिक शक्ति खुद को हिंदू-धर्म-संस्कृति के साथ चालाकी से एकाकार कर चुकी है उसके खिलाफ 'धर्मनिरपेक्षता' का हथियार किस तरह प्रयोग किया गया एवं उसके सम्भावित परिणाम क्या रहे इसका जायजा हम चर्चित इतिहासकार के एन. पणिक्कर के विश्लेषण के आइने में लेंगे। पणिक्कर महोदय कहते हैं—

धर्मनिरपेक्षता की भारतीय अवधारणा दो सिद्धांतों पर आधारित है, जिनकी भारतीय राज्य द्वारा वकालत की जाती है। पहला, सभी धर्मों की समान मान्यता और दूसरा, किसी भी धर्म के अनुयायियों के साथ भेदभाव नहीं। राज्य तथा शासन नियंत्रित संचार माध्यमों के अधिकारीगण, इन दोनों ही आदर्शों को उभारने की कोशिश करते हैं, हांलाकि ऐसा करते हुए चुनावी राजनीतिक हितों का ध्यान भी रखना नहीं भूलते हैं। इस तरह हमारे राष्ट्रीय नेतागण, समानश्रद्धा के साथ सभी धार्मिक मतों के धर्मस्थलों के दर्शन के लिए जाकर अपने धर्मनिरपेक्ष होने का दावा पेश करते हैं और संचार माध्यम सभी धर्मों की प्रार्थनाओं के प्रसारण के लिए समय आवंटित कर। ऐसा लगता है कि इन सिद्धांतों तथा आचारों की प्रेरणा, उस धार्मिक सार्वभौमवाद से आती है, जिसकी भारतीय समाज में लंबी परंपरा रही है और यह परंपरा भक्ति आंदोलन तक तो जाती ही है। ....धर्मनिरपेक्षता की यह भारतीय अवधारणा, उन्नीसवीं सदी के सार्वभौमवादी विचारों का आदर्शीकरण तथा रोमानीकरण है, उन्हें पूंजीवादी राजनीतिक ढांचे में जोड़ने के साथ। बहरहाल उन्नीसवीं सदी का हमारा अनुभव, इसका पर्याप्त प्रमाण है कि, न तो सभी धर्मों के प्रति सम्मान अपने आप धर्मनिरपेक्षता पैदा कर सकता है और न ईश्वर की एकता का विचार। इसके बजाय वे सामाजिक चेतना को धार्मिक दायरे में ही बनाये रखने का काम करते हैं और इस प्रकार इसकी संभावनाओं को बनाये रखते हैं कि विशेषत्ववादी तथा परधर्म-विरोधी प्रवृत्तियां, अनुकूल मौका पाते ही फिर उभर आयें। धर्मनिरपेक्षता के भारतीय विचार की कमजोरी ठीक यही है। वह धर्म को बीच में बनाये रखती है तथा धार्मिकता को बढ़ाती है। वह धार्मिक पहचानों को बनाये रखती है तथा उन्हें रेखांकित करती है और इस प्रकार, विभिन्न धार्मिक समुदायों के बीच सामाजिक दूरी बढ़ाती है। ... भारतीय राज्य खुद को धर्म मात्र से अलगाता नहीं है बल्कि सभी धर्मों तथा उनके सामाजिक आचारों को सार्वजनिक रूप से मान्यता देकर, अपने चारों और तटस्थता का एक आभामंडल

विकसित कर लेता है। इस प्रक्रिया में ऐसी-ऐसी परंपराओं व रिवाजों को भी अति-पवित्र मान लिया जाता है तथा बनाये रखा जाता है, जो वास्तव में धार्मिक पोंगापंथ से अनुमोदन हासिल कर रहे होते हैं। ....पिछले चालीस वर्षों से धर्मनिरपेक्षता एक प्रमुख आकस्मिकता बनी रही है और समाज का बढ़ते पैमाने पर सांप्रदायीकरण होता गया है। ...इस गतिरोध से निकलने का एक ही रास्ता नजर आता है कि धर्म का आमने-सामने होकर मुकाबला किया जाये, धर्म की एक चौतरफा आलोचना प्रस्तुत की जाये, ताकि अंतत: उसे खत्म किया जा सके। मार्क्स के शब्दों में उसका 'एक दृढ़ सकारात्मक खात्मा।' यही एकमात्र आधार है जिस पर, धर्मनिरपेक्षता वास्तव में टिक सकती है। [12]

लेकिन हिंदुत्ववादी सांप्रदायिकता विरोधी पत्रकार सांप्रदायिकता के विरुद्ध 'धर्मनिरपेक्षता' नामक हथियार का इस्तेमाल पणिक्कर जैसे विद्वानों की भांति न कर सके। जबकि यह देखते हुए कि *जैसे दादी-नानी की कथाओं में किसी शैतान का प्राण किसी पशु-पक्षी में बसने की बात सुनी जाती है वैसे ही अब संघ की प्राणशक्ति हिंदू-धर्म है,*[13] धर्मनिरपेक्षतावादी पत्रकारों को अनिवार्य रूप से हिंदू-धर्म के खात्मे की दिशा में अग्रसर होना चाहिए था। हांलाकि तमाम राष्ट्रवादी पत्रकारों ने भी इन्हें यह कहकर '*जो होगा धर्मनिरपेक्षतावादी, वह होगा धर्म विरोधी* बार-बार ललकारा पर वे धर्म के खात्में की दिशा में कदम बढ़ाने की बजाए अच्छा हिंदू बनकर धर्मोपदेशक की भांति सभी धर्मों को समान मर्यादा देने की बात करते रहे। वास्तव में पिछले एक दशक से धर्मनिरपेक्षतावादियों की प्रमुख स्ट्रेटजी अच्छा हिंदू बनकर संघियों की गतिविधियों में यह खामी दिखाने की रही कि संघ का कार्यकलाप हिंदुत्व के आदर्शों के खिलाफ है। ऐसा साबित करने के क्रम उन्होंने उस हिंदू-धर्म के संबंध में, जो हिंदू-धर्म दलित-पिछड़ों की पशवाधम जीवन का मूल कारण रहा, ऐसी अच्छी-अच्छी विशेषताऐं गिनाया है जो हिंदुत्व के उत्तोलक संघियों के लिए भी संभव नहीं था। उनके ऐसा करने से संघियों का तो कुछ नहीं बिगड़ा (क्योंकि हिंदू मतदाताओं को ठंडे अच्छे हिंदुओं की तुलना में उग्र/कट्टर हिंदू ज्यादा भाये) पर, अमानवीय हिंदू-धर्म को और पुष्टता मिल गई। सांप्रदायिकता विरोधी पत्रकार बाबरी मस्जिद ध्वंसोत्तर काल में अच्छा हिंदू का आदर्श प्रचारित करने में कितना निमग्न रहे उसका उज्जवलतम दृष्टांत सुप्रसिद्ध वयोब्द्ध पत्रकार प्रभाष जोशी के लेखों का संग्रह '*हिंदू होने का धर्म*' है।

प्रभाष जोशी हिंदी पत्रकारिता जगत में किसी परिचय के मोहताज नहीं हैं। किंतु मस्जिद ढहाये जाने के बाद उन्होंने संघियों के विरुद्ध जिस तरह अपनी लेखनी को तलवार के रूप में इस्तेमाल किया उससे वे एक विरल सम्मान के पात्र बने। संघ परिवार के विरुद्ध लिखे गये उनके लेखों का संग्रह पिछले दिनों 'हिंदू होने का धर्म' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ जो खूब बिका और सराहा भी गया। 7 दिसंबर 1992 से लेकर 27 अक्तूबर 2003 के मध्य उनके द्वारा लिखे गये 158 लेख 655 पृष्ठों की जिस पुस्तक के रूप में संग्रहित किये गये हैं उस पुस्तक के जिल्द के पिछले भाग पर उनके संक्षिप्त परिचय के साथ 6 दिसंबर 1992 को बाबरी मस्जिद के ध्वंस का हवाला देते हुए बताया गया है, *तब से प्रभाष जोशी की पत्रकारिता और सामाजिक सक्रियता का एक प्रमुख उद्देश्य सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के*

नकली और आक्रामक तत्वों के बरक्स हिंदू होने के असली धर्म और मर्म को उभारना रहा है उनकी पुस्तक का परिचय वास्तव में निर्भूल है। पुस्तक के प्राय: सभी लेखों में पत्रकार जोशी जी हिंदू परिवार के एक ऐसे भद्र अभिभावक के रूप में नजर आते हैं जिसकी आत्मा अपने परिवार के कुछ सदस्यों को अधर्म के रास्ते पर जाते देख बेचैन है। वैसे में वे उनकी नालायकीयत से खिन्न होकर हिंदू का आदर्श समझाते हुए दूसरे हिंदुओं को उनसे दूर रहने का उपदेश देते नजर आते हैं। उनकी चिंता के केंद्र में वे मानवेतर दलित-पिछड़े नहीं है जिन्हें हिंदू-आरक्षण (वर्ण-व्यवस्था) के तहत सदियों से ज्ञान, देश की संपदा, संस्थाओं, लाभकारी पेशों इत्यादि से दूर रखा गया एवं जिनके हाथ में सत्ता की बागडोर जाते देख ही सवर्णवादी संघ ने बाबरी मस्जिद का विध्वंस कर डाला और इनके आरक्षण को खत्म करने के लिए ही वह सरकारी उपक्रमों को औने-पौने दामों में बेचने की जुगत भिड़ाते हुए आर्थिक रूप से देश को विदेशियों का गुलाम बनाने की दिशा में अग्रसर है। उनकी चिंता इस बात के लिए भी बहुत कम है कि 18 करोड़ अल्पसंख्यकों को अलग-थलग करने की मुहिम चलाकर संघ देश को एक और विभाजन की ओर ठेल रहा है; उनकी प्रधान चिंता तो उस धर्म के लिए है *जिसकी पहली पुस्तक ';ग्वेद' में बताया गया-एक सत् विप्रा बहुधा वंदति।*[14] और अपनी चिंता को जोशीजी ने छिपाने का प्रयास भी नहीं किया है। संग्राम में लिखे गये अपने लेखों के संग्रह की भूमिका में उन्होंने अपनी चिंता को निम्न शब्दों में व्यक्त किया है।

बाबरी मस्जिद का गिराया जाना मेरी तरह धर्म और इस देश के समाज की उदार, सहिष्णु और सर्वग्राही परंपराओं में पले-पनपे तमाम लोगों के लिए मूल से हिलाकर विचलित कर देने वाला सदमा था। ... यह एक ऐसा अहिंदू अपकर्म था जो मुझे हिंदुत्ववादियों के उन्माद के भी योग्य नहीं लगता था। इस लगने को आप मेरा मूरखपन कह सकते हैं। लेकिन अब भी हिंदुत्ववादियों की भलमनसाहत में अपना सहज मानवीय विश्वास मानना चाहता हूं। छह दिसंबर ने जो मुझे दिखाया और समझाया उसे जानते हुए भी मैं चेतन रूप से जानना नहीं चाहता था। बाबरी मस्जिद मेरे लिए भारतीय मुसलमानों की ऐतिहासिक और अतिक्रमित धर्म-स्थली ही नहीं थी, वह हिंदुओं की धर्म और संस्कृति और सामाजिक परंपराओं की कसौटी थी। जिस धर्म और समाज ने इस्लाम और ईसायत के नाम पर विदेशी हमलावरों के किये गये इतने विध्वंस के बावजूद धार्मिक प्रतिशोध को अपना जीवन मूल्य नहीं माना वह अपनी लोकतांत्रिक शक्ति के बेहतर समय में ऐसा काम कैसे कर सकता है ? ... सवाल उस सेकुलरवाद का नहीं जिसे बाद में हमने अपने संविधान में जोड़ा है। सवाल उस धर्म का है जिसने कम से कम पांच हजार साल से भारत के समाज को धारण कर रखा है और उस संस्कृति का है जो बहुलता और विविधता को अपनी प्राण शक्ति मानती है।[15]

जोशीजी द्वारा व्यक्त उपरोक्त उद्‌गार से स्पष्ट है कि उनकी हिंदू-धर्म-संस्कृति के प्रति असीम दुर्बलता है। जहां तक इसके प्रति दुर्बलता सवाल है उससे कमोबेश वे सभी पत्रकार ग्रसित रहे हैं जो हिंदी पत्रकारिता को हिंदू पत्रकारिता घोषित कर प्रगतिशील होने का छाप छोड़ना चाहते हैं। और जिसमें हिंदू-धर्म-संस्कृति के प्रति दुर्बलता होगी वह राष्ट्र के लिए सबसे बड़े संकट के रूप मे विद्यमान उस संघ के खात्मे की दीर्घसूत्रीय रणनीति पर कैसे

अमल करेगा जिसकी जीवनी शक्ति ही हिंदू-धर्म-संस्कृति है, एवं जिसने बड़ी चालाकी से इसके साथ खुद को एकाकार कर लिया है। संभवत: हिंदू-धर्म-संस्कृति के प्रति अपनी दुर्बलता के कारण ही संघ विरोधी पत्रकारों ने संतों की भूमिका को नजरअंदाज कर दिया। ये साधु-संत ही हैं जिनके नेतृत्व में संघ परिवार *राम जन्मभूमि मुक्ति यज्ञ समिति* और *धर्मस्थान मुक्ति यज्ञ समिति* जैसी एकाधिक समितियां गठित कर गुलामी के प्रतीकों की मुक्ति के नाम पर आंदोलन चलाकर सांप्रदायिकता को तुग पर पहुंचाया।

यह कोई लुकी-छिपि बात नहीं है कि संघ ब्राह्मणों द्वारा प्रधानत: ब्राह्मणों के हित में एक ऐसा संगठन है जिसका लक्ष्य ब्राह्मणों के नेतृत्व में बाकी द्विजों की भी हितों की रक्षा करना है। लेकिन मंडल के दौर में दलित-पिछड़ों को सत्ता से दूर रखने के लिए जब इसने राम मंदिर के नाम पर मुसलमानों को निशाना बनाकर बहुजनों के विरुद्ध परोक्ष युद्ध छेड़ा तब उसकी सेना में ब्राह्मण परिदृश्य से गायब थे। यहां तक कि पंडित अटल बिहारी वाजपेयी भी नजर नहीं आ रहे थे। ऐसा नहीं कि वाजपेयीजी उन दिनों चलाये जा रहे उग्र आंदोलन से दुखी थे, जैसा कि बहुत से राजनीति के पंडित बताते हैं; इसलिए वे इसे दूर से दार्शनिक मुद्रा में देख रहे थे। वे इससे भावनात्मक रूप से पूरी तरह जुडे हुए थे तभी तो बाद में रामजन्मभूमि मुक्ति आंदोलन को स्वाधीन भारत का सबसे बड़ा आंदोलन कहकर सराहना किया। उस आंदोलन से दूर उन्हें संघ की रणनीति के तहत ही रखा गया था। कारण, उन दिनों बहुजनों की जाति चेतना के राजनीतिकरण की जो आंधी चल रही थी उसमें हिंदू मीडिया द्वारा निर्मित अटलजी की छवि तिनके की भांति बिखर जाती। यही नहीं तब बड़ी आसानी से बहुजनों को अंदाजा हो जाता कि ब्राह्मणों के हाथ में सत्ता की लगाम देने के लिए ही सारा उपक्रम चलाया जा रहा है। इस स्थिति का अनुमान लगाकर ही संघ ने आडवाणी, कल्याण सिंह, विनय कटियार, नरेन्द्र मोदी, वेंकैया नायडू, उमा भारती, ऋतम्भरा इत्यादि पिछड़ी जाति के लोगों मोर्चे पर तैनात कर दिया था। एक अपुष्ट सूत्र के अनुसार आडवाणी भी पिछड़ी जाति के हैं। जाति चेतना के राजनीतिकरण के दौर में संघ ने पिछड़ों को जो अग्रिम पंक्ति में रखने की परिकल्पना किया उस पर आज भी अमल कर रहा है। यही नहीं उन्हे राज्यों की सत्ता भी दिया है बेशक असल ताकत ब्राह्मण अटलजी के हाथ में है। संघ परिवार में पिछड़ों की यह भीड़ देखकर कई टिप्पणीकारों को लगता है यह शूद्रों का संगठन हैं। यह तो ठीक वैसी ही टिप्पणी है कि संघ के असल निशाने पर मुसलमान हैं।

दरअसल जो लोग यह कहते हैं कि संघ परिवार शूद्रों का परिवार है वे या तो लोगों को गुमराह करते हैं या अपनी नजरे खुली नहीं रखते अथवा संघ उनके लिए चिंता का विषय नहीं है। असलितय तो यह है कि संघ परिवार के जमीन पर शूद्र जरूर दिखते हैं पर उसके आकाश और पाताल में ब्राह्मण ही हैं। आकाश मतलब संघ के शीर्ष पर बैठा ब्राह्मण भी कुछ लोगों के नजर में आ जाता है। पर, पाताल में विचरण करते ब्राह्मण लोगों को इसलिए नहीं दिखाई पड़ते कि सांप्रदायिकता विरोधियों ने कभी संतों को हिसाब में रखा नहीं। अगर संतो की सांप्रदायिकता को बढ़ावा देने वाली भूमिका को राजनीति के पंडितों ने कुछ भी महत्व दिया होता तो यह बात आइने की तरह साफ हो जाती कि उसके पीछे ब्राह्मणों का विशाल

फौज है। लोगों को जानना चाहिए कि संतई के लिए भारत में शास्त्रों द्वारा अधिकृत जाति ब्राह्मण ही है। शास्त्रागत इन अधिकारों के कारण ही एकमात्र ब्राह्मण चारों धामों के स्वामी हैं। इसी अधिकार के कारण इक्का-दुक्का को छोड़कर सभी महंत ब्राह्मण हैं। संतों की जमात में अपवाद रूप से साध्वी ऋतम्भरा, उमा भारती, धर्मेन्द्र स्वामी हैं। शूद्रों में जो लोग संतो की जमात में शामिल हैं उनकी हैसियत घुसपैठियों से भिन्न नहीं है। देश के लाखों-लाखों संतो में प्राय 90 प्रतिशत संत ब्राह्मण हैं। साधु-संतो की जमात में शूद्रों की संख्या नहीं के बराबर है, यह सत्य पिछले दिनों विश्व हिंदू परिषद् के संकल्प सभा के दौरान अलग से अनुष्ठित *समाजवादी संत सभा* में नगण्य लोागें की उपस्थिति से उजागर हो गया। संतों के वेश में विद्यमान ब्राह्मणों की विशाल फौज ही संघ की असल 'न्यूक्लियर' है। इस फौज के आकार का इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि देश में लगभग 24 लाख मंदिर हैं जिनका संचालन इनके ही हाथ में। इन मंदिरों से जुड़े प्राय 90 फीसदी ब्राह्मण ही संघ के लिए किसी न किसी रूप में सक्रिय हैं।

यह इतिहास का कितना बड़ा परिहास है कि तथाकथित गुलामी के प्रतीकों की मुक्ति के लिए आंदोलन चलाने वाले इन्हीं संतों के पूर्ववर्तियों ने जाति-व्यवस्था का निर्माण कर देश को इतना कमजोर बना दिया कि मुट्‌ठी भर विदेशी आक्रांताओं के लिए इस देश को लूट का निशाना बनाने में कोई दिक्कत नहीं हुई। पूर्ववर्ती संतों द्वारा बहुजनों के खून-पसीने की गाढ़ी कमाई की अधिकतम संपदा देवालयों में जमा करने के कारण ही कई विदेशी आक्रमणकारी ललचाये जिसके फलस्वरूप खड़े हुए गुलामी के असंख्य प्रतीक। पर, तब संतों ने देश को आंतरिक रूप से मजबूत करने का प्रयास नहीं किया। वे 'ब्रह्म सत्य, जगत मिथ्या' के सिद्धांत में आस्था रखते हुए दूध-मलाई, भांग-धतूरों और देवदासियों का भोग लगाने में मस्त रहे। जो परजीवी संत मुसलमान और ब्रिटिश काल में भारत की गुलामी से निर्लिप्त रहे, मंडलोत्तर भारत में सत्ता दलित-पिछड़ों के हाथ में जाते देखकर चैतन्य हो गये। उन्होंने तुलसी, सूर, रामानुज स्वामी, भोलानाथ गिरी, बाबा गंभीरनाथ, तैलंग स्वामी, वामा क्षेपा, रामदास काठियाबाबा जैसे पूर्ववर्ती संतों की परंपरा त्यागकर मिथ्या जगत पर ध्यान केंद्रित किया। उन्होंने बहुजनों की जाति चेतना का मुकाबला धार्मिक चेतना के राजनीतिकरण से करने के लिए सबसे पहले निशाना बनाया बाबरी मस्जिद को। बाबरी मस्जिद के टूटने के परिणाम स्वरूप देश-विदेश में टूटे असंख्य मंदिर, टूटा मुंबई शेयर मार्केट का भवन। लेकिन सबसे बड़ी टूटन राष्ट्रीय एकता की हुई। बाद में इन्हीं संतों के उकसाने पर रामभक्तों के उत्पात के कारण गोधरा और गोधरा के बाद मानवता को शर्मसार करने वाला गुजरात जनसंहार हुआ। वास्तव में बाबरी ध्वंस से लेकर आज तक इन संतों के कारण राष्ट्र की जो हानि हुई है उसकी भरपाई मुश्किल है। लेकिन इतने बड़े पैमाने पर जान व माल की हानि करा कर, जिस तरह उन्हें अपने सजाति ब्राह्मणों के नेतृत्व में सवर्णवादी सत्ता को कायम रखने में सफलता मिली, उससे उन्हें 'गुलामी के प्रतीकों' की उपयोगिता का एहसास हो गया। एहसास हो गया है इसलिए संत के रूप में विद्यमान बहुजनद्रोही ब्राह्मणों का गिरोह भूख, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, राष्ट्र की सुरक्षा इत्यादि की उपेक्षा कर गुलामी के प्रतीकों का कभी खत्म न होने वाला छद्‌म

एजेंडा लेकर आगे बढ़ रहा है। लेकिन जिस दिन तथाकथित गुलामी के प्रतीकों की मुक्ति आंदोलन के माध्यम से मिली सत्ता का उपयोग कर, संघ परिवार निजीकरण का लक्ष्य पूरा कर लेगा, उस दिन से संत भी अपना एजेंडा छोड़कर हरिभजन में निमग्न हो जायेंगे। [16] यह कितने अफसोस की बात है कि देश के तमाम समाज विरोधी तत्वों से भी कई गुना क्षतिकर रूप में क्रियाशील संतों की इस विशाल फौज से जनगण को आगाह करने की जहमत देश के हिंदुत्ववादी सांप्रदायिकता विरोधी पत्रकारों ने नहीं उठाया। अगर वे इस तथ्य से बहुजन समाज को अवगत कराये होते कि संतों के वेश में छिपे जो ब्राह्मण आज तक मिथ्या संसार से आंखें मूंदे रहे वे अपने सजातियों के हाथ से सत्ता की बागडोर खिसकते देखकर ही गुलामी के प्रतीकों के पुनरूद्धार के लिए ही संघ परिवार के साथ जुड़े तो निश्चय ही दलित-पिछड़े सवर्णवादी संघ के मुहिम से दूर भागते। पर, ऐसा नहीं हुआ तो इसके लिए निश्चय ही काफी हद तक जिम्मेदार सांप्रदायिकता विरोधी पत्रकार ही हैं।

सांप्रदायिकता विरोधी पत्रकारों की भूलों की लंबी फेहरिस्त में यह भी शामिल है कि उन्होंने संघ के विरुद्ध अत्यंत आक्रामक अंदाज में सक्रिय अशरफ मुसलमानों और उनके द्वारा परिचालित संगठनों की साजिश से सवर्णवादी संघ के असल प्रतिपक्ष दलित-पिछड़ों को आगाह करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। जबकि हकीकत यही है कि यह जानते हुए भी कि 10-15 प्रतिशत सवर्णों के समर्थन पर टिका संघ धार्मिक चेतना के राजनीतिकरण के लिए तरह-तरह के हथकण्डों को अपनाकर दलित-पिछड़ों तक प्रसारित विशाल हिंदू समाज की नुमाईन्दगी करना चाहता है, अशरफ मुसलमानों और उनके संगठनों ने उसके इरादों के कामयाब बनाने में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।मसलन संतों के उकसाने पर रामभक्तों के उत्पात के कारण जो गोधरा कांड हुआ और गोधरा कांड के फलस्वरूप संघ परिवार ने जो गुजरात जनसंहार का अध्याय शुरू किया उसमें पिछड़ों के साथ दलित-आदिवासी भी शामिल हो गये थे। गुजरात जनसंहार के माध्यम से संघ को हिंदुओं के ध्रुवीकरण में जिस तरह अप्रत्याशित सफलता मिल रही थी उसे देखते हुए उस ध्रुवीकरण पर रोक लगाना वक्त का तकाजा था। पर वैसे नाजुक दौर में सपा नेता आजम खान ने यह कहकर सनसनी फैला दी कि मुल्क के 18 से 20 करोड़ अल्पसंख्यकों को अब अपने नये वतन के विषय में सोचना होगा। उनके बयान के अगले ही दिन हिंदुओं के ध्रुवीकरण के हर अवसर के इस्तेमाल की ताक में बैठे राष्ट्रवादी अखबार 'दैनिक जागरण' को यह टिप्पणी करने का अवसर हाथ लग गया। *इस कथन से तो उसी मानसिकता की झलक मिल रही है जिससे पाकिस्तान ग्रसित है और जो पाकिस्तान के हुक्मरानों तथा वहां के आतंकवादी संगठनों के सरगनाओं के बयानों से आये दिन जारी होती रहती हैं। इस मानसिकता का एकमात्र उद्देश्य भारत को खंड-खंड करना है। वस्तुत: यह वह मानसिकता है जो पिछले चौदह सौ वर्षों से चली आ रही है और जिसके कारण भारत को भीषण अत्याचार सहने पड़े। कम से कम 21वीं सदी के इस युग में तो इस मानसिकता का परित्याग कर ही दिया जाना चाहिए।*[17] राष्ट्रवादी दैनिक पत्र की इस संपादकीय के अगले ही दिन उत्तर प्रदेश के एक अंचल में भारतीय जनता पार्टी द्वारा *'आतंरिक आतंकवाद विरोध दिवस'* पर आयोजित एक संगोष्ठी मं भाजपा के एक वरिष्ठ नेता

को यह कहने का अवसर मिल गया, *राष्ट्र इन आतंकवादी ताकतों की बड़ी घटना का शिकार हो, इसके पूर्वदेश के प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य बन गया है कि वे इन देशघाती आतंकवादी ताकतों को नेस्तनाबूद करने के लिए अगुवाई करें ऐसे तत्वों से बेहद कड़ाई के साथ निपटा जाय, ताकि कोई सिरफिरा देश के बंटवारे की बात सपने में भी न सोच सके।*

राज्य सभा के अति महत्वपूर्ण मंच से जारी की गई मोहम्मद आजम खान की टिप्पणी पर 'दैनिक जागरण' एवं एक महत्वपूर्ण भाजपा नेता की उपरोक्त टिप्पणी साबित करती है कि उसमें हिंदुओं को ध्रुवीकरण के तत्व कूंट-कूंट कर भरे हुए थे। डॉ. आंबेडकर ने बार-बार चेतावनी देते हुए कहा है कि विभिन्न जातियों में बंटा हिंदू समाज एक छिन्न-भिन्न व बिखरा समाज है। और विभिन्न जातियों में बंटे हिंदू सिर्फ तभी ध्रुवीकृत होते हैं जब इनके सामने मुसलमानों का खौफ खड़ा किया जाता है। आंबेडकर की इस चेतावनी की रोशनी में क्या ऐसा नहीं लगता कि *यह टिप्पणी संघ के मंसूबों को कामयाब बनाने के इरादे से की गई थी ? क्योंकि इसमें हिंदुओं के ध्रुवीकरण के तत्व कूंट-कूंट कर भरे हुए हैं। जनाब खान के बयान से न सिर्फ हिंदुओं का जबरदस्त ध्रुवीकरण हो सकता है, बल्कि गोधरा रेल कांड के बाद जिस हिंदू आतंकवाद ने कुछ ही दिनों में कई सौ लोगों की प्राणहानि और देश की 5-7 हजार करोड़ की संपदा का नुकसान करा दिया, उस हिंदू आतंकवाद को प्रधान मुद्दा बनने से भी कुछ हद तक बचा जा सकता है। क्योंकि उनके बयान के बाद संघियों (हिंदुओं) को मुस्लिम अलगाववाद का मुद्दा खड़ा करने का अवसर मिल सकता है। आज संघियों के हित में जो कार्य मोहम्मद आजम खान ने कर डाला है वही सिमि की नेता और इमाम बुखारी जैसे लोग अरसे से करते आ रहे हैं। बीच-बीच में ये भड़काऊ बयान जारी कर संघियों का कुछ बुरा तो नहीं कर पाते, सिर्फ हिंदुओं का ध्रुवीकरण कराते रहते हैं। और जो लोग बार-बार अपने कार्यों और बयानों से हिंदुओं का ध्रुवीकरण में मदद पहुंचाते हैं, उन्हें संघ के एजेंट के सिवाय कहा ही क्या जा सकता है ?*

वास्तव में गहराई से अध्ययन करने पर इसमें कोई संदेह नहीं रह जायेगा कि मोहम्मद आजम खान, इमाम बुखारी, सिमि के नेता इत्यादि संघ के एजेण्ट हैं। क्योंकि धर्म के नाम पर हिंदू के ध्रुवीकरण को रोकने की, जो कि किसी भी संघ विरोधी का चरम लक्ष्य होना चाहिए, इनके पास कोई नीति नहीं है। यदि सचमुच ये संघ के शत्रु होते, जैसा कि जाहिर करते रहते हैं, तो कोई न कोई ऐसा रास्ता जरूर इजाद करते जिससे ध्रुवीकरण का रास्ता बंद होता। पर, वैसा इसलिए नहीं करते हैं क्योंकि ये शायद संघ से मिले हुए हैं। ऐसे लोग गाहे-बगाहे संघियों को लाभ पहुंचाने के सिवाय कुछ कर ही नहीं सकते। ऐसे लोग संघ के एजेण्ट ही नहीं भारत के मुसलमानों के शत्रु भी हैं। ऐसा ही है इसलिए तो यह जानने के बावजूद कि ग्यारह सितंबर को अमरीका का वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर हमले के बाद पूरे विश्व में मुसलमानों की तस्वीर आतंकवादी के रूप में उभारी जा रही है और भारत के संसद और अमरीकन सेंटर पर हमले के बाद संघ उनकी छवि अलगाववादी व देश विरोधी के रूप में प्रचारित कर रहा है, वे ऐसा कदम उठा रहे हैं जिससे संघ के प्रचार को और बल मिलता है।''[18]

वास्तव में संघ के मददगार के रूप में क्रियाशील मुस्लिम नेताओं व संगठनों की भूमिका को जनसमक्ष न लाना सांप्रदायिकता विरोधियों की एक बड़ी भूल ही रही। लेकिन सर्वाधिक खलने वाली भूलों में एक विराट भूल उन्होंने संघ विरोधी नेताओं को प्रोजेक्ट में करने में किया। मंडलोत्तर काल की राजनीति सांप्रदायिक बनाम धर्मनिरपेक्षता के रूप में इतिहास के पन्नों में दर्ज होकर रह गई है। इस दौर में हिंदुत्ववादी सांप्रदायिक विरोधी पत्रकारों ने मुलायम सिंह यादव को धर्मनिरपेक्षता खेमें के सबसे बड़े नायक के रूप में प्रोजेक्ट करने की हर मुमकिन कोशिश किया। पर, जिस मुलायम की छवि को धर्मनिरपेक्षतावादी पत्रकारों ने सबसे बड़े सांप्रदायिकता विरोधी नेता के रूप में पुष्ट किया, उनके मोहभंग की प्रक्रिया तबसे शुरू हुई जब भाजपा के सहयोग से ही तीसरी बार मुख्यमंत्री बनने के बाद बाबरी मस्जिद मामले में उनकी सरकार ने पहला हलफनामा जारी किया। हांलाकि पहले हलफनामे पर हुई किरकिरी से आहत होकर उन्होंने अबिलंब एक पूरक शपथपत्र जरूर जारी कर दिया लेकिन जो शंका उनके व्यवहार को लेकर धर्मनिरपेक्षता पूरी खेमें में उपजी वह अब और घनीभूत हो गयी है। इन पंक्तियों के लिखे जाने तक *''संघ ने दावा कर दिया है कि मुलायम उसकी राह पर ही चल रहे हैं और उनमें बदलाव का वर्तमान क्रम जारी रहा तो भविष्य में वे हिंदुत्ववादी पाले में खड़े नजर आयेंगे। संघ के पूर्वीक्षेत्र सरसंघचालक ने कह दिया है कि संघ को हर हिंदुत्ववादी की जरूरत है और मुलायम उनके साथ उसी तरह आ सकते हैं जैसे 70 सालों तक संघ का विरोध करने वाले ब्लिट्ज के संपादक करंजिया आ गये थ। मुलायम अब दस साल पहले वाले मुलायम नहीं हैं, उनमें सकारात्मक बदलाव आ रहा है।* [19] लेकिन 1999में भारतीय राजनीति के एक निर्णायक मोड़ पर सोनिया के विदेशी मूल के मुद्दे को उठाकर केंद्र में स्वंयसेवी सरकार को मजबूती से जमने का अवसर देने के बाद, बाबरी मामले में मुलायम द्वारा दायर पहले हलफनामे के कुछ सप्ताह बाद ही संघ द्वारा उनकी प्रशंसा तो इतने स्थूल कारण हैं कि उनसे मोहभंग होना ही है। पर, पिछले दस वर्षों से उनकी गतिविधियों को सांप्रदायिकता विरोध पत्रकारों ने ठीक से देखा होता तो बहुत पहले ही मुलायम को खारिज कर किसी और को सांप्रदायिकता विरोधी नायक रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया होता, जिससे संघ के विस्तार पर अंकुश लगता।

मुलायम सिंह यादव की छवि का पोस्टमार्टम करने के पूर्व हमें यह जान लेना चाहिए कि एक सच्चे हिंदुत्ववादी सांप्रदायिक विरोधी नेता में प्रमुख विशेषताऐं क्या होनी चाहिए ? पहला, वह अल्पजन सवर्णवादी संघ के साथ अद्विज हिंदुओं को ध्रुवीकृत होने रोके। इसके लिए आवश्यक है वह ऐसा कोई कदम न उठावे जो धर्म के नाम पर हिंदुाओं के ध्रुवीकरण का कारण बने। दूसरा, उसे हिंदू-धर्म-संस्कृति के खात्मे की दीर्घसूत्रीय रणनीति पर काम करना होगा। कारण, हिंदू-धर्म-संस्कृति ही संघ की प्राणशक्ति है और जब तक इसका वजूद ही संघ को किसी न किसी रूप में बचे रहना है। यदि उपरोक्त शर्तों के आधार पर हम मुलायम सिंह यादव की छवि को परखें तो स्पष्ट नजर आयेगा कि उनमें संघ विरोधी नायक के तत्व पूरी तरह अविद्यमान रहे। संघ विरोधी के तौर पर उनकी रणनीति मुख्यतः दो बातों पर केंद्रित रही, पहला,

संघ को घोर सांप्रदायिक व मुसलमान विरोधी करार देना एवं दूसरा, उसके राजनीतिक संगठन भाजपा का मुकाबला करने के लिए धर्मनिरपेक्ष सुदृढ़ मोर्चा बनाना।

संघ को घोर सांप्रदायिक व मुस्लिम विराधी प्रचारित करने की नीति संघ के लिए कैसे बेहद लाभकारी साबित हुई वह इस लेख के शुरूआत में ही विस्तार से बताया जा चुका है। इस संबंध में अन्यान्य धर्मनिरपेक्षतावादी नेताओं की तुलना में मुलायम के विषय में यह बात दावे से कही जा सकती है कि उन्होंने मुसलमानों की जरूरत से ज्यादा हिमायत कर अपनी छवि *'मुल्ला'* के रूप में स्थापित करने का जो कौशल अपनाय वह व्यक्तिगत रूप से सांप्रदायिकता और भाजपा के उभार का सबसे बड़ा कारण बना। संघ अपने जन्मकाल से ही अपने आधार को विस्तार देने के लिए मुस्लिम तुष्टिकरण को हथियार के रूप में इस्तेमाल करता रहा है। उसके इस हथियार को और धारदार बनाने में स्वाधीनोत्तर भारत में मुलायम जैसा योगदान शायद ही किसी ने दिया हो। यही नहीं आजम खान जैसे उनके काबिल सिपहसलार के बार-बार *'भारतमाता को डायन'* कहने और 18-20 करोड़ अल्पसंख्यकों से नए वतन के विषय में सोचने की खुली घोषणा से भी संघ की मुराद काफी हद तक पूरी हुई है। मुलायम *'मुल्ला'* छवि के प्रति सदा इतने चिंतित रहे कि पिछले दस-बारह वर्षों से वे इच्छाकृत रूप से या अंजाने में हिंदुओं के ध्रुवीकरण का एक बड़ा सबब बन कर रहे गये हैं। उन्होंने मुल्ला बनकर उत्तर प्रदेश में भले ही अपनी राजनीतिक हैसियत बढ़ाया हो पर सर्व भारतीय स्तर पर संघियों का उपकार ही किया है।

संघ को सांप्रदायिक व अल्पसंख्यक विरोधी करार देने के साथ उनकी रणनीति का जो दूसरा हिस्सा धर्मनिरपेक्ष दलों का मोर्चा बनाना रहा वह अगर परवान नहीं चढ़ पाया तो उसके लिए उनसे बढ़कर जिम्मेवार दूसरा नेता ढूढ़ना मुश्किल होगा। 1999 में सोनिया गांधी के विदेशी मूल के मुद्दे को हवा देकर उन्हेंने स्वयंसेवी सरकार को स्थापित होने का उन्होंने जो अवसर दिया, वह तो एक इतिहास है ही। पर, उसके बाद भी कई अवसर आये जब उस सरकार को उखाड़ फेंका जा सकता था। और यह काम बिना कांग्रेस को साथ लिए नहीं हो सकता, यह बच्चे तक को भी मालूम है। लेकिन यह सत्य जानने के बावजूद भी कि बिना कांग्रेस को साथ लिए संघियों को केंद्र की सत्ता से बेदखल करना असंभव है, उन्होंने कांग्रेस और भाजपा से समान दूरी बनाये रखने की रणनीति ही अख्तियार किया। 1977 और 1989 में कांग्रेस विरोधी जिस मुहिम में संघियों को साथ लेने में जिस मुलायम को कभी गुरेज नहीं रही वे भाजपा विरोधी अभियान में कांग्रेस के जाने का कभी मन न बना सके। यह रणनीति निश्चय ही किसी सच्चे संघ विरोधी की नहीं हो सकती।

जहां तक हिंदू-धर्म-संस्कृति के प्रति नजरिये का सवाल है धर्मनिरपेक्षता के जबरदस्त योद्धा मुलायम के.एन. पणिक्कर की धर्मनिरपेक्षता की कसौटी *धार्म का सकारात्मक खात्मा पर कभी खरे नहीं उतरे। कारण, श्री यादव किसी संघी से कम हिंदू-धर्म के प्रति मोहग्रस्त नहीं हैं। फर्क इतना है कि संघी 'जय श्री राम' का नारा लगाते हैं तो वे 'जय श्री कृष्ण' का उद्घोष करते हैं। और तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये तो जय श्री कृष्ण का नारा ज्यादा*

घातक है। राम तो वर्ण-व्यवस्था का संरक्षक होने के नाते कहीं से मर्यादित चरित्र हैं। जबकि श्री कृष्ण तो वर्ण-व्यवस्था, जो सहस्रों वर्षों से शूद्रातिशूद्रों की करूणतर स्थिति का प्रधान कारण है, के जनकत्व की दाम्भिक घोषणा करने एवं असंख्य परस्त्रियों के साथ रास रचाने वाला एक अय्याश चरित्र है। एक आम हिंदू की तरह हिंदू-धर्म-संस्कृति के प्रति मोहग्रस्त रहने के कारण श्री यादव महाभाजपा विरोधी होकर भी कांशीराम की भांति यह घोषणा नहीं कर सके कि राममंदिर नहीं, हमारी पार्टी वहां शौचालय बनवाने के पक्ष में है। जिस व्यक्ति में कांशीराम वाला चरित्र न हो, वह कैसे उस हिंदू-धर्म-संस्कृति के विरुद्ध सुपरिकल्पित अभियान चला सकता है जो संघ परिवार का प्राण व आधार है। कांशीराम का चरित्र उनमें पूरी तरह अविद्यमान है, तभी तो वे राममंदिर निर्माण, बेशक बाबरी मस्जिद से दूर, की हिमायत तो करते हैं, लेकिन उस आंबेडकर स्मारका को अय्याशी का अड्डा घोषित करते हैं, जहां से आंबेडकर, फुले, पेरियार, शाहूजी महाराज, नारायण गुरु जैसे साहसी क्रांतिकारी पुरुषों का संदेश आर्यावर्त में फैलने हैं। विशेषकर पेरियार के मामले में तो यह साफ हो गया कि यादवजी और उनके लोग हिंदू-धर्म-संस्कृति के मामले में भाजपाइयों से भी आगे हैं। मायावती द्वारा आंबेडकर स्मारक में पेरियार की मूर्ति लगाने के इरादे को भांपकर जहां भाजपा के विनय कटियार ने वह मूर्ति गोमती में डुबो देने की विनम्र घोषणा की वही कटियार से आगे बढ़कर उन्होंने सपाई से उस मूर्ति को नाले में डुबो देने का एलान कर डाला। जिस पेरियार ने भाजपा नायक राम व हिंदू-धर्म-संस्कृति के विरुद्ध अभियान चलाकर दक्षिण भारत में ब्राह्मण सत्ता का विनाश कर डाला, उस पेरियार को फूटी आंखों से न देखेने वाले, संघ परिवार को कितनी चुनौती दें पायेंगे, इसका सहज अनुमान कोई भी लगा सकता है।[20]

वास्तव में यदि यह सत्य है कि दादी-नानी की कहानियों में जिस तरह किसी पशु-पक्षी में शैतानों के प्राण बसे होने की बात सुनते थे उसी तरह आज संघ का प्राण हिंदू-धर्म-संस्कृति में बसता है एवं यह संतों के बेश में छिपे विशाल ब्राह्मण वाहिनी के सहयोग से हिंदू-धर्म-संस्कृति के नाम पर निरिह अद्विजों को गोलबंद कर देश में सवर्णवादी सत्ता कायम रखना चाहता है तब भाजपा विरोधी प्रमुख दल व नेता के रूप में बसपा और उसके संस्थापक कांशीराम को प्रोजेक्ट करने से श्रेयकर कोई और बात हो ही नहीं सकती थी। क्योंकि राममंदिर का मुद्दा तूल पकड़ने के बहुत पहले से कांशीराम संघ परिवार के समानांतर एक ऐसा सामाजिक व सांस्कृति आंदोलन चला रहे थे जिससे दलितों के साथ कुछ पिछड़ों में भी एक ऐतिहासिक भावांतरण की प्रक्रिया शुरू हुई। इस आंदोलन का आकलन करते हुए प्रसिद्ध दलित बुद्धिजीवी चन्द्रभान प्रसाद ने लिखा है, *बसपा के गठन के बाद दलित समाज में सांस्कृतिक स्तर पर व्यापक परिवर्तन होने लगे। लोगों ने अपने घरों से हिंदू-देवी-देवताओं की मूर्तियां, चित्र निकाल कर नदी तालाबों में डुबोना शुरू कर दिया। उनके स्थान पर गौतम बुद्ध, महात्मा फुले, डा. आंबेडकर और कांशीराम के चित्र लगाने लगे। इस तरह चुनावों में बसपा जहां एक राजैतिक पार्टी लगती है, वहीं सामान्य परिस्थितियों में एक सामाजिक व सांस्कृतिक आंदोलन लगती है।*[21]

लेकिन कांशीराम को मात्र इसलिए ही नहीं प्रोजेक्ट करना चाहिए था कि उन्होंने संघ

की प्राणशक्ति को क्षीण करने के लिए दीर्घसूत्रीय सांस्कृतिक आंदोलन की प्रक्रिया चलाया बल्कि इसलिए भी कि उन्होंने सामाजिक परिवर्तन के जिस आंदोलन की बयार बहाया उसकी कार्यप्रणाली में संघ के सभी सूत्रों की काट थी।

कांशीराम ने जब सार्वजनिक जीवन में प्रवेश कर भारत के अतीत, वर्तमान और भविष्य का अध्ययन किया तो उन्हें विशाल हिंदू समाज के विपरीत बहुजन समाज बनाने से भिन्न कोई उपाय नजर नहीं आया। उन्हांने डा. हेडगेवार के फार्मूले से यह जान लिया यदि हिंदू- धर्म-संस्कृति के उज्जवल पक्ष के नाम पर आंदोलन चलाकर ध्रुवीकृत हिंदुओं का नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथ में थमाया जा सकता है तो हिंदू-धर्म-संस्कृति के अंधकार पक्ष अर्थात वर्ण-व्यवस्था के वंचना के नाम पर आंदोलन चलाया जाय तो अवश्य ही वंचित जातियों का ध्रुवीकरण होगा और स्वत: ही दलित-पिछड़ों व अल्पसंख्यकों के हाथ में देश का नेतृत्व जायेगा। हांलाकि कांशीराम ने यह कभी कबूल नहीं किया कि उन्होंने डा. हेडगेवार का अनुसरण किया है पर, उनकी कार्यप्रणाली में उसकी झलक मिलती है।

चूंकि कार्यप्रणाली एक जैसी होने बावजूद 'विशाल हिंदू समाज' और 'बहुजन समाज' की संकल्पना दो विपरीत ध्रुव जैसे हैं इसलिए उनका उल्टा फार्मूला ही एक दूसरे के मुआफिक आता है। यही कारण है भारतीय समाज का लंबे समय तक अध्ययन करने के बाद जब कांशीराम ने 6 दिसंबर 1978 को बामसेफ (आल इंडिया बैकवर्ड एंड माइनरिटिज इम्पलाइज फेडरेशन) नामक अपंजीकृत, गैर-धार्मिक, गैर-आंदोलनात्मक और गैर-राजनीतिक संगठन बनाया तो डा. हेडगेवार अपने समाज को जिस आर्य-अनार्य सिद्धांत से बचाना चाहते थे, उसी को प्रधानता देने से वे न रोक सके। डा. हेडगेवार और कांशीराम अपने-अपने सपनों के भारत का निर्माण करने के लिए क्रमश: आर.एस.एस. और बामसेफ नामक जो वैचारिक संगठन तैयार किया था उनमें उक ही साम्यता थी कि दोनों घोषित तौर पर अराजनैतिक संगठन रहे किंतु उनके निर्माण का मूल मकसद राजनीतिक ही था। राजनीतिक उद्देश्यों के लिए जहां आरएसएस हिंदुओं के धार्मिक चेतना के राजनीतिकरण पर केंद्रित रहा, वहीं बामसेफ जाति चेतना के राजनीतिकरण पर। [22]

और कहना न होगा मंडल तक आते-आते सीमित साधनों वाला बामसेफ दौड़ में आरएसएस से कुछ आगे निकल गया था। जिस मंडल की रपट निकलने के बाद बहुजनों की जाति चेतना का तीव्रतर उभार आया एवं जिससे बाध्य होकर संघ धार्मिक चेतना के राजनीतिकरण के लिए सांप्रदायिकता का दामन था उसके मूल में कांशीराम का आंदोलन ही था। इस पर टिप्पणी करते हुए तेज तर्रार पत्रकार कंवल भारती ने लिखा है, *पिछड़ों की भागीदारी का जो आंदोलन कांशीराम ने चलाया उसी के परिणामस्वरूप मंडल आयोग की सिफारिशें लागू हो सकीं। उसी के परिणामत: दलित और पिछड़ों में राजनीतिक चेतना पैदा हो सकी। यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि भारतीय राजनीति में पिछड़े समुदायों के लिए जो उर्ध्वमुखी गतिशीलता आज दिखलाई देती है, वह कांशीराम से पूर्व की राजनीति में बिल्कुल नहीं थी। तब मुलायम सिंह यादव और लालू प्रसाद यादव तक अपनी जमींन पर*

दूसरों के सहारे खड़े थे।[23] परवर्तीकाल में जब स्वयंभू संघविरोधियों की कमजोरियों के कारण भाजपा सत्ता में आई जाति चेतना के जनक कांशीराम की शिष्या मायावती को भाजपा के निकट जाकर मित्र के वेश में शत्रु का काम करना पड़ा। उन्होंने भाजपा के सहयोग से मिली सत्ता की क्षमता का अधिकतम उपयोग संघ के समानांतर सांस्कृतिक कार्यक्रम चलाने में किया। इन कार्यक्रमों का लक्ष्य बहुजनों की जाति चेतना का राजनीतिकरण करना एवं हिंदू-धर्म-संस्कृति की जड़ों में मट्ठा डालना था।

हिंदू विद्वानों के सौजन्य से नायक सम्पन्न होकर भी शूद्रातिशूद्र समाज नायकविहीन था। मायावती के हाथों जब-जब सत्ता आई, उन्होंने विस्मृत बहुजन नायकों को नये सिरे से प्रतिष्ठित कर, दबी-कुचली जातियों के इतिहास को गौरव प्रदान करने का यत्न किया। उन्होंने डा. आंबेडकर, पेरियार, फुले, शाहूजी के नाम पर मेले लगवाना शुरू किया। भारत में पहली बार डा. आंबेडकर के नाम पर आगरा विश्व विद्यालय का नामकरण; आगरा स्टेडियम का नाम एकलव्य, कानपुर विश्वविद्यायल का नाम शाहूजी के नाम पर करने के साथ फुले, गौतम बुद्ध, महामाया, शहीद उधम सिंह, संत कबीर आदि के नाम पर पुराने जिलों के नामकरण के पीछे मायावती की मंशा उपेक्षित जातियों के इतिहास को गौरवमय बनाने की रही। इसी मकसद से उन्होंने अलीगढ़ में पिछड़ी जाति के कर्पूरा ठाकुर और अहिल्या बाई होल्कर की प्रतिमा स्थापित करवाया तो लखनऊ में लखना पासी के किले का पुर्ननिर्माण और परिवर्तन चौक का निर्माण। दलित-पिछड़ों में आत्म गौरव का संचार करने के लिए ही सामाजिक परिवर्तन के लिए कार्य करने वाले बहुजन महापुरुषों की स्मृति में उन्होंने डा. आंबेडकर गौरव पुरस्कार, अहिल्याबाई होल्कर पुरस्कार, संत रविदास समृति पुरस्कार, संत कबीर सांस्कृतिक एकता पुरस्कार, महर्षि वाल्मीकि सहित्य पुरस्कार, वीरांगना महारानी लक्ष्मीबाई पुरस्कार, अवन्तीबाई पुरस्कार, सावित्रीबाई फुले पुरस्कार, वीरांगना झलकारी बाई पुरस्कार आदि स्थापित किये। किंतु ड्रीम प्रोजेक्ट बना आंबेडकर स्मारक ही। [24]

मायावती के उस ड्रीम प्रोजेक्ट को ही संघ विरोधी महानायक ने धड़ल्ले से अय्याशी का अड्डा कह डाला था। लेकिन आंबेडकर स्मारक अय्यासी का अड्डा नहीं राम मंदिर को तोड़ है इसका संकेत इस टिप्पणी में पाया जा सकता है, *बसपा की धिक्कार रैली में बसपा सुप्रीमो कांशीराम और मुख्यमंत्री मायावती की गर्जना और शाम को चारबाग रेलवे स्टेशन पर मची भगदड़ में मरने वालों के परिजनों के आर्तनाद के बावजूद एक संदेश दीवार पर लिखी इबारत की तरह साफ था। दलितों में आई चेतना की उपज आंबेडकर पार्क अब उनके स्वाभिमान का ही प्रतीक नहीं, आंबेडकरवादियों के लिए तीर्थस्थल भी बन गया है।*[25]

बसपा के सामाजिक आंदोलनो का ही परिणाम था कि मायावती जब-जब सत्ता में आई भाजपा का जनाधार कम हुआ और संघ के हौसले पस्त। उनके तीसरी बार मुख्यमंत्री बनने पर संघ का राजनीतिक संगठन किस दशा में पहुंच गया था इसका आंकलन मोहन सिंह ने, जो सपा के पूर्व सांसद व वरिष्ठ पदाधिकारी हैं, बहुत निराशा के साथ इन शब्दों में किया था, *पुनः अगस्त 2002 में शिमला में बसपा सुप्रीमों कांशीराम ने कहा–हमने कांग्रेस के साथ में समझौता*

कर उत्तर प्रदेश में उसका नाश कर दिया। अब भाजपा को तहस-नहस कर देंगे। लगता है बसपा सुप्रीमो अपने कथन को सच साबित कर देंगे। क्या देश के भाजपाई लिखावट को नहीं देख रहे हैं ? उत्तर प्रदेश का राजनीतिक परिदृश्य भाजपा के समापन की घंटी है।[26] लेकिन जो लोग हिंदी की रोटी खाकर भी हिंदी पत्रकारिता को हिंदू पत्रकारिता करार देकर प्रगतिशीलता का चोला धारण करते रहे हैं उन लोगों ने क्या कभी राम मंदिर का तोड़ आंबेडकर स्मारक बनाने वाली उस मायावती की सांप्रदायिकता विरोधी भूमिका को आदर के साथ याद किया जिसने अपनी पार्टी के सांस्कृतिक आंदोलनों एवं कुशल रणनीति के सहारे, सांप्रदायिका के गर्भ से पनपी भाजपा के समापन की घंटी बजा दी ? नहीं ! उन लोगों को तो वह मायावती ही याद रही जो शहरी मैडम के स्टाइल में बाल कटवाती और सिल्क के सूट एंव हीरे का आभूषण धारण करती एवं जन्मदिन पर 50 किलो का के काटती है। लेकिन हीरे के आभूषण धारण करने एवं विशाल केक काटने वाली मायावती की भूमिका पर ही टिप्पणी करना इसलिए आवश्यक था क्योंकि *इससे जीर्ण-शीर्ण वस्त्र, उच्छिष्ट भोजन, टूटी थाली और लोहे के गहनों पर सदियों से निर्भर रहने वालों में वीभत्स संतोषबोध की जगह भयावह अंसतोषबोध पनपनें की संभावना बलबत होती है।*[27]

यह माना कि सवर्णवादी भाजपा के समापन की घंटी बजाने और शूद्रातिशूद्रों में वीभत्स संतोषबोध की जगह उग्र-असंतोषबोध भरने वाली मायावती को प्रोजेक्ट करने की मानसिकता से सांप्रदायिकता विरोधी पत्रकार पुष्ट नहीं थे पर, वे वाजपेयी सरकार की आर्थिक नीतियों के निहितार्थ को उजागर कर सांप्रदायिकतावादी भाजपा के विरुद्ध शूद्रातिशूद्रों को ध्रुवीकृत करने का उपक्रम तो चला ही सकते थे। और यह इसलिए भी लाजिमी था क्योंकि हिंदुत्ववादी सांप्रदायिकता विरोधी पत्रकार सामान्यतया मार्क्सवादीय विचारधारा से संस्कारित रहे हैं। पर, मार्क्सवादीय विचारधारा, जो शासकों के हर गतिविधियों के पीछे, शोषितों के शोषण का आर्थिक कारण ढूंढ़ निकालती है, से पुष्ट होकर भी वे यह खुलकर न बता सके कि स्वयंसेवी सरकार की आर्थिक नीतियों का चरमलक्ष्य भारत के चिरशोषितों (दलित-पिछड़ों) की बदहाली के विनिमय में सवर्ण जातियों को उपकृत करना है। पर, ऐसा बताने के बजाये उन्होंने साम्राज्यवादी ताकतों को लाभ पहुंचाने का हौव्वा खड़ा करने की मुहिम चलाया जो निरिह दलित-पिछड़ों के सिर पर से गुजर गया। यही नहीं जब सांप्रदायिकतावादी भाजपा ने पाठ्यक्रमों में संस्कृत ज्योतिष और कर्मकांड संयोजित किया तब तमाम गैर-ब्राह्मणों को भाजपा के विरुद्ध लामबंद करने का स्वर्णिम अवसर सुलभ हो गया था। इसके लिए बस इतना बताना था कि *भूमंडलीकरण के भयावह परिणामों का आंकलन कर ही, ब्राह्मणों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता के लिए विख्यात भाजपा, एक सुनियोजित योजना के तहत, शिक्षा जगत में प्रचीन ज्ञान के सरंक्षण के नाम पर संस्कृत, ज्योतिष विज्ञान और पौरोहित्य को बढ़ावा देने के माध्यम से, ब्राह्मण युवकों को रोजगार के नये क्षेत्र सुलभ कराने का अभियान चला रही है। यह सही है कि भूमंडलीकरण के पूरे यौवन पर पहुंचते ही भारत के कृषि व छोटे-मझोले उद्योग ध्वस्त हो जायेंगे और सर्वोत्तम (बेस्ट) ही बचे रहेंगे। लेकिन भारतीय समाज में ब्राह्मण सर्वोत्तम होने के बावजूद बेरोजगारी से पूरी तरह मुक्त नहीं रहेंगे। वैसे में कुछ नये क्षेत्रों में*

शिक्षित ब्राह्मणों को खपाने की जरूरत पड़ेगी। इस जरूरत ने ही भाजपा के ब्राह्मण नेताओं को नये सिरे से संस्कृत, कर्मकांड और ज्योतिष विद्या को बढ़ावा देने के लिए प्रेरित किया है। चूंकि ऐसे विषयों में सिर्फ ब्राह्मणों को ही दाखिला दिलाना मुश्किल है, इसलिए अब्राह्मण छात्रों को भी इन विषयों में पढ़ने के लिए भर्ती किया जा रहा है। किंतु विभिन्न जातियों के छात्रों के बीच लाभान्वित होंगे मात्र ब्राह्मण छात्र। कारण, जहां अपनी संस्कारगत रूचि के कारण संस्कृत में पारंगत होकर वे मिडिल स्कूल से लेकर विश्वविद्यालयों तक भारी मात्रा में शिक्षक के रूप में नौकरी पायेंगे, वहीं ज्योतिष के क्षेत्र में इनका एकाधिकार और मजबूत होगा। क्योंकि बुरे ग्रहों के चक्कर में फंसा कोई हिंदू ज्योतिष को विज्ञान मानकर सलाह लेने किसी दुसाध, चमार, अहिर, कुर्मी, क्षत्रिय, बनिया ज्योतिषि के पास जायेगा नहीं। हिंदू धर्म-शास्त्रों द्वारा पुष्ट उनकी मानसिकता ब्राह्मण ज्योतिषि के पास जाने के लिए विवश कर देगी। जहां तक कर्मकांड का सवाल है लखनऊ के कर्मकांड संस्थान से निकले दलित छात्रों की करूण दशा सब कुछ बयान कर देती है। इस क्षेत्र में अब्राह्मणों की दाल जरा भी नहीं गलनी है। ब्राह्मण पुजारी अगर अब्राह्मणों को अनुमति भी दे दें, तो भी धार्मिक अनुष्ठान का आयोजन करने वाले आम हिंदू कर्मकांड के लिए ब्राह्मणों को ही आमंत्रित करेंगे। यही नहीं लखनऊ जैसे कर्मकांड संस्थानों व विभिन्न विश्वविद्यालयों से कर्मकांड की डिग्री लेकर निकले स्मार्ट ब्राह्मण छात्रों की सेवायें लेने में एन.आर.आई. भी अब कई गुना रूचि लेंगे। मुसलमान व ईसाई पुजारियों के समक्ष पुराने मॉडल के धोती व चोटीधारी पुजारी हास्यापद लगते हैं जिन्हें विदेशों में बुलाकर कर्मकांड करवाने में वहां के भारतीयों को शर्म आती है। नये स्मार्ट पुजारी उन्हें इस समस्या से निजात दिला देंगे।[28] लेकिन भाजपा की ब्राह्मण केंद्रित शिक्षा नीति के जरिये विराट जन आक्रोश खड़ा करने की जगह सांप्रदायिकता विरोधी पत्रकारों ने शिक्षा का भगवाकरण' का शोर मचाकर मुद्दे को भिन्न दिशा में मोड़ दिया।

इस लेख की पूर्वपंक्तियों का ध्यान से अनुधावन करने पर यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि हिंदुत्ववादी सांप्रदायिकता विरोधी पत्रकारों ने रणनीतिक तौर पर सिर्फ भूलें ही भूलें की हैं। एकाध भूलें हों तो उसे संयोग मानकर नजरअंदाज किया जा सकता है। पर, उन्होंने तो सवर्णवादी संघ परिवार के खिलाफ सिर्फ भूलें ही भूलें की हैं। क्या इसे इच्छाकृत माना जाए ? निश्चय ही ! तब तो जाहिर है कि हिंदी पत्रकारिता को हिंदू पत्रकारिता कहकर शोर मचाने वालों ने बड़ी सफाई से कथित सांप्रदायिक संघ परिवार को लाभ पहुंचाया है। आखिर क्यों ? मेरा मानना है चूंकि भारत में किसी भी व्यक्ति की सोच स्व-वर्ण व स्व-जाति की स्वार्थ सरिता के मध्य प्रवाहित होती रहती है एवं उसमें सर्व वर्ग की चेतना नहीं के बराबर रहती है। इसलिए सांप्रदायिकता विरोधी पत्रकार जो मुख्यता ब्राह्मण व अन्य सवर्ण जातियों से आते है, सवर्णवादी संघ को दुर्बल करने की दिशा में कारगार उपाय न सके और जब जाति समाज की इस चिरपरिचित दुर्बलता से आक्रांत होने के कारण राजा राममोहन राय और पंडित ईश्वर चन्द विद्यासागर जैसे महामानव अपनी प्रतिभा का उपयोग बहुजन समाज के हित में न कर सकें तो आज के चरम भौतिकवादी युग में बुद्धिजीवी वर्ग से यह प्रत्याशा करना ज्यादती ही होगी कि वह बहुजन विरोधी संघ के खात्में की दिशा में अग्रसर होगा। पर, यह तो निहायत

ही कम पढ़े-लिखे एक लेखक की राय है। अगर डा. आंबेडकर जैसे विद्वान की नजर से उन कारणों की तफ्तीश करनी हो जिससे प्रेरित होकर हिंदुत्ववादी सांप्रदायिकता विरोधी पत्रकारों ने सांप्रदायिक संघ परिवार के खिलाफ रणनीतिक भूलें की हैं तो हमें निम्न पंक्तियों को बहुत ध्यान से पढ़ना होगा, *चाहें आप इस सिद्धांत को मानें या न मानें कि एक महान पुरुष इतिहास का निर्माता होता है, लेकिन आपको इतना अवश्य मानना होगा कि प्रत्येक देश में बुद्धिजीवी वर्ग सर्वाधिक प्रभावशाली वर्ग रहा है। वह भले ही शासक वर्ग न हो। बुद्धिजीवी वर्ग वह है, जो दूरदर्शी होता है। सलाह दे सकता है और नेतृत्व प्रदान कर सकता है। किसी देश की अधिकांश जनता विचारशील एवं क्रियाशील जीवन व्यतीत नहीं करती। ऐसे लोग प्रायः बुद्धिजीवी वर्ग का अनुकरण और अनुगमन करते हैं। यह कहने में कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी कि किसी देश का संपूर्ण भविष्य उसके बुद्धिजीवी वर्ग पर निर्भर होता है। यदि बुद्धिजीवी वर्ग ईमानदार, स्वतन्त्र और निष्पक्ष है तो उस पर भरोसा किया जा सकता है कि संकट की घड़ी में वह पहल करेगा और उचित नेतृत्व प्रदान करेगा। यह ठीक है कि प्रज्ञा अपने आप में कोई गुण नहीं है। यह केवल साधन है और साधन का प्रयोग उस लक्ष्य पर निर्भर है जिसे एक बुद्धिमान व्यक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। बुद्धिमान व्यक्ति भला हो सकता है, लेकिन साथ ही वह दुष्ट भी हो सकता है। उसी प्रकार बुद्धिजीवी वर्ग उच्चविचारों वाले व्यक्तियों का एक दल हो सकता है, जो सहायता करने के लिए तैयार रहता है और पथभ्रष्ट लोगों को सही रास्ते पर लाने के लिए तैयार रहता है। बुद्धिजीवी वर्ग धोखेबाजों का एक गिरोह या संकीर्ण गुट के वकीलों का निकाय भी हो सकता है, जहां से उसे सहायता मिलती है। आपको यह सोचकर खेद होगा कि भारत में बुद्धिजीवी वर्ग ब्राह्मण जाति का ही दूसरा नाम है। आप इस बात पर खेद व्यक्त करेंगे कि ये दोनों एक ही हैं। बुद्धिजीवी वर्ग का अस्तित्व किसी एक जाति से आबद्ध होना चाहिए और इस बुद्धिजीवी वर्ग को उस ब्राह्मण जाति के हितों एवं आंकाक्षाओं में साझीदारी करनी चाहिए, जिसने अपने आप को देश के हितों के बजाये उस जाति के हितों का अभिरक्षक समझ रखा है। सारी स्थिति अत्यंत खेदजनक हो सकती है। लेकिन सच्चाई यही है कि ब्राह्मण लोग ही हिंदुओं का बुद्धिजीवी वर्ग हैं।* [29]

संदर्भ :

1. *डा. श्योराज सिंह बेचैन, हिंदी का दलित पत्रकारिता पर पत्रकार आंबेडकर का प्रभाव, पृष्ठ 359*
2. *वही, पृष्ठ 360*
3. *वही, पृष्ठ 363*
4. *अनिल चमड़िया, कथादेश, नवंबर 2003, पृष्ठ 47*
5. *वही, पृष्ठ, 45*
6. *विपिन चन्द्र, भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष, पृष्ठ, 319*
7. *एच.एल. दुसाध, वर्ण-व्यवस्था : एक वितरण व्यवस्था, पृष्ठ 166-67*

8. वही, पृष्ठ 223
9. एच.एल. दुसाध, हिंदू आरक्षण और बहुजन संघर्ष, पृष्ठ 199
10. वही, पृष्ठ 23
11. एच.एल. दुसाध, वर्ण-व्यवस्था : एक वितरण व्यवस्था, पृष्ठ 201
12. के.एन. पणिक्कर, संस्कृति, चेतना, विचारधारा : एक एतिहासिक परिप्रेक्ष्य, पृष्ठ 33-36
13. एच.एल. दुसाध, हिंदू धर्म का काल बनेगा हिंदुत्व, राष्ट्रीय सहारा, 22 जनवरी 2003
14. प्रभाष जोशी, हिंदू होने का धर्म, पृष्ठ 19
15. वही, पृष्ठ 18
16. एच.एल. दुसाध, संघ परिवार की नयी पटकथा, राष्ट्रीय सहारा, 3 जनवरी 2003
17. एच.एल. दुसाध, वर्ण-व्यवस्था : एक वितरण व्यवस्था, पृष्ठ 206
18. वही, पृष्ठ 209-10
19. जनसत्ता, नई दिल्ली, 22 दिसंबर 2003
20. एच.एल. दुसाध, वर्ण-व्यवस्था : एक वितरण व्यवस्था, पृष्ठ 203-4
21. चन्द्रभान प्रसाद, बसपा : एक सामाजिक विद्रोह का दर्पण, राष्ट्रीय सहारा, 4 नवंबर 1999
22. एच.एल. दुसाध, सामाजिक परिवर्तन की सक्रिय संकल्पना, जनसत्ता एक्सप्रेस, 14 अक्तूबर 2002
23. कंवल भारती, कांशीराम के दो चेहरे, पृष्ठ 8
24. एच.एल. दुसाध, सामाजिक परिवर्तन की सक्रिय संकल्पना, जनसत्ता एक्प्रेस, 14 अक्तूबर 2002
25. दैनिक जागरण, 30 सितंबर 2002
26. मोहन सिंह, अवसरवादी राजनीति का हस्र, राष्ट्रीय सहारा, 8 नवंबर 2002
27. एच.एल. दुसाध, दलितों की बड़ी जरूरत है उग्र-असंतोषबोध, हिंदुस्तान, 17 मार्च 2003
28. एच.एल. दुसाध, पौरोहित्य के जरिये रोजगार की संभावनाऐं, जनसत्ता एक्सप्रेस, 21 सितंबर 2002
29. डा. आंबेडकर, बाबा साहेब डा. आंबेडकर संपूण वांड्मय, खंड-पहला, पृष्ठ 94-95

पे बैक टू दी सोसाइटी

[राजकिशोर के लेख *दलितों को चांद चाहिए* पर प्रतिक्रिया]

किसी जमाने में डॉक्टर आंबेडकर ने कहा था– *हमारे पढ़े-लिखे लोगों ने हमें धोखा दिया है।* अपने मसीहा के दुखों से प्रायश्चित्त करने के लिए परवर्तीकाल के दलितों ने कमर कसी। इसकी शुरुआत मा. कांशीराम ने की। कई सहस्र वर्षों के भारतवर्ष की राजनीति में एकमात्र क्रांतिकारी राजनीतिक के रूप में चिन्हित मान्यवर कांशीराम बहुजन समाज में आमूल परिवर्तन की लहर पैदा करने के लिए तो याद किए ही जाएंगे पर उनका सबसे बड़ा अवदान दलितों में समाज के ऋण से मुक्ति (पे बैक टू दी सोसाइटी) होने की भावना भरना रहा है। दुनिया में ज्यादातर क्रान्तियां समाज के निम्नतर स्तर पर पड़े लोगों को साथ लेकर हुई है। फ्रांस की राज्यक्रांति या माओ द्वारा चीन की क्रांति समाज के निचले स्तर के लोगों को साथ लेकर हुई। पर, कांशीराम ने भारत में क्रांति के इस सूत्र को उलटकर समाज के सबसे उत्पीड़ित वर्ग के पढ़े-लिखे लोगों को अपना साथी बनाया। पहले बामसेफ और उसके बाद डी. एस. फोर के द्वारा पढ़े-लिखे लोगों को जोड़ने के बाद बी.एस. पी. बनाकर उन्होंने सहस्त्रों वर्षों के शासित समाज में शासक होने की भावना भर दी। उनकी इस भावना से उद्‌बुद्ध होकर पढ़े-लिखे सारे दलित अपने-अपने तरीके से समाज को कुछ देने में जुट गए हैं। बेशक ऐसे लोगों की संख्या अभी भी अपर्याप्त है पर, है वर्द्धमान। पहले जहां दलित अफसर अपना परिचय छिपाकर बाबू साहेब, बाबाजी बनने की कोशिश करते थे आज वे अपना जाति परिचय खुलकर दे रहे हैं। आज शायद ही देश में ऐसा कोई दलित अफसर हो जो समाज को कुछ देने की बात नहीं सोच रहा हो। वह साहित्य सृजन कर रहा है, दलित आंदोलनकारियों को पैसा मुहैय्या करा रहा है।

जो यह सोच रहे हैं कि पढ़े-लिखे दलित कुछ नहीं कर रहे हैं उन्हें वामन मेश्राम के नेतृत्व में चल रहे बामसेफ के सम्मेलनों में जाना चाहिए। बामसेफ का वार्षिक राष्ट्रीय सम्मेलन देखना तो भारत जैसे देश में एक भारी आश्चर्य से गुजरना है। भारत के पढ़े लिखे कुछ लोग इतने अनुशासित और समाज के प्रति इतने समर्पित हो सकते हैं, इसका दर्शन वहीं होता है। एक बार जो उस अधिवेशन में चला जाता है, वह एक बात सीख कर आता है –

पढ़े-लिखे दलितों को चांद सितारे नहीं बस बहुजनराज चाहिए।

राजनैतिक आरक्षण नहीं पूना-पैक्ट खत्म हो

गत 17 सितंबर के *राष्ट्रीय सहारा* में, दलित-विरोधी एक दस्तावेज के रूप में चिन्हित होने लायक, *आत्ममंथन की जरूरत* नामक मस्तराम कपूर का आलेख पढ़कर मैं 'पूना-पैक्ट' के बाद हिंदुओं द्वारा विजयोत्सव मनाये जाने की किताबों में पढ़ी हुई घटना को, शिद्दत से याद किए बिना न रह सका। ऐतिहासिक पूना-पैक्ट हस्ताक्षरित होने के बाद हिंदुओं में खुशी का वह आलम था कि उसमें शरीक होने और महात्माजी के गले मिलकर बधाई देने के लिए रुग्ण शरीर लेकर भी सुदूर बंगाल से भागे-भागे चले आए थे कविगुरु टैगोर। वहीं दूसरी तरफ दलितों में भारी मायूसी थी। क्योंकि सात समंदर पार से डॉ. आंबेडकर हिंदुओं द्वारा शैतान, प्रतिक्रियावादी, देशद्रोही, अंग्रेजों के दलाल इत्यादि खिताबों से भूषित हो कर भी, अपने सुदीर्घ संग्राम के द्वारा, दलित-मुक्ति का जो चार्टर आफ मैग्नाकार्टा अर्थात् 'कम्यूनल अवार्ड' जीत कर लाए थे, उसकी मूल आत्मा की ही हत्या अहिंसा के पुजारियों ने कर डाली थी। डॉ. तुलसीराम जैसे प्रखर दलित बुद्धिजीवी की क्रांतिकारी सोच से उत्साहित होकर कपूर साहेब ने अपने आलेख में 'राजनीतिक आरक्षण' के खात्मे की जो मांग उठाई है, उसका असर दलित बुद्धिजीवियों पर कुछ हद तक पूना-पैक्ट जैसा ही हुआ। दरअसल जब एक दलित बुद्धिजीवी ने ही वैसी मांग उठा दी थी तो कोई गांधीवादी चूकता ही कैसे? डॉ. राम प्रदत्त मौके का फायदा उठाने में मस्तराम इस कदर तत्पर हो गए कि उन्हें यह याद ही नहीं रहा कि वे जिस चंद्रभान प्रसाद के अमेरिकी निष्कर्षों की प्रशंसा में पंचमुख हुए हैं, वे चंद्रभान प्रसाद राष्ट्र के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ही दलितों के प्रतिनिधित्व की निरंतर वकालत किए जा रहे हैं।

यह सत्य है कि पूना-पैक्ट के जरिये मिले राजनीतिक आरक्षण से अधिकांशत: व्यक्तित्व रहित, हाथ उठाऊ दलित नेता ही चुन कर संसद व विधानसभाओं में पहुंचते रहे हैं। लेकिन इस सत्य से औरों से बेहतर रूप में वाकिफ डॉ. आंबेडकर ने चुनावों में बार-बार पराजय की पीड़ा का दंश झेल कर भी कभी राजनीतिक आरक्षण के खात्मे की आवाज नहीं उठाई। उन्होंने तो पूना-पैक्ट के ही खात्मे की आवाज बुलंद कर, अपने अनुसरणकारियों को इसके विरुद्ध संघर्षरत होने का संदेश दिया था। मस्तराम कपूर जैसे गांधीभक्त से तो नहीं किंतु डॉ. तुलसीराम जैसे प्रखर आंबेडकरवादी से तो दलित समाज प्रत्याशा कर ही सकता है कि वे गोलमेज बैठकों में बाबा साहेब के प्रयासों से प्राप्त परिणामों को सार्थक बनाने की दिशा में कुछ करें।

यदि कोई पूना-पैक्ट के खात्मे के लिए अभियान शुरू करता है तो उसे इस बात की चिंता छोड़ देनी चाहिए कि उसे पढ़े-लिखे नौकरीशुदा दलितों का सहयोग नहीं मिलेगा। वे अगर आगे बढ़ते हैं तो पाएंगे कि पढ़ा-लिखा नौकरीशुदा दलित वर्ग तन-मन-धन के साथ उनके साथ खड़ा है। मा.कांशीराम के सौजन्य से यह वर्ग काफी हद तक उस दशा को अतिक्रम कर चुका है, जिस दशा को देखकर 18 मार्च 1956 को आगरा के रामलीला मैदान

में डॉ.आंबेडकर रोये थे। सहस्रों वर्षों के दासों (दलितों-पिछड़ों) में शासक बनने की अभूतपूर्व आकांक्षा पैदा करने और फुले की बहुजन संकल्पना को व्यापकतर बहुजनवाद में परिणत करने के साथ कांशीराम ने तीसरा महत्वपूर्ण ऐतिहासिक चमत्कार दलितों में 'पे बैक टू दी सोसाइटी' (समाज को प्रतिदान देने) की भावना भर कर किया है।

शहादत की हद तक समाज को कुछ देने की भावना से सराबोर यह पढ़ा-लिखा दलित तबका आजादी की दूसरी लड़ाई अर्थात दलित-पिछड़ों की मुक्ति संघर्ष में वही भूमिका अदा करने जा रहा है जो भूमिका 15 अगस्त, 1947 के पूर्व गांधी जी से प्रेरित लोगों ने निभाया था। आज दलित-बहुजन की मुक्ति अपनी पूर्णता के करीब पहुंच गई होती यदि पढ़े-लिखे सक्षम पिछड़ों में 'पे बैक टू दी सोसाइटी' की भावना के साथ-साथ अपनी गुलामी का एहसास भी पैदा हुआ होता। बामसेफ के राष्ट्रीय अध्यक्ष वामन मेश्राम के शब्दों में- *विदेशों में जिन्हें स्लेव (गुलाम) कहते हैं वर्ण-व्यवस्था में उन्हें ही शूद्र कहते हैं। यदि इन शूद्रों को अपनी गुलामी का एहसास हो जाए तो भारत में रातोरात सामाजिक क्रांति हो जाय।* इन शूद्रों में दलितों को तो काफी हद तक अपनी गुलामी का एहसास हो चुका है पर पिछड़े इस एहसास से मुक्त हैं। काश ! मस्तराम कपूर जैसे लोग दलितों को उपदेश देना छोड़कर अपनी सारी ऊर्जा पिछड़ों में यह एहसास पैदा करने में लगाते।

लेकिन कपूर साहब वैसा करेंगे नहीं क्योंकि उन्हें लगता है कि वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध दलितों की तरह पिछड़े भी सक्रिय हैं। क्या वे बतालाएंगे कि कितने पिछड़े धर्मान्तरण की मानसिकता से पुष्ट हुए हैं या उनके कितने संगठन हिंदू-धर्म-संस्कृति व ईश्वर के खिलाफ मुहिम चला रहे हैं? क्या वे पिछड़ों की उन राजनीतिक पार्टियों का नाम गिनाएंगे जो बसपा की तरह सामाजिक विद्रोह का दर्पण हैं। दलित बुद्धिजीवी चंद्रभान प्रसाद के शब्दों में *बसपा सामाजिक विद्रोह का दर्पण है। इसके गठन के बाद से दलित समाज में सांस्कृतिक स्तर पर व्यापक परिवर्तन होने लगे। लोगों ने अपने घरों से हिंदू देवी-देवताओं की मूर्तियां, चित्र आदि निकाल कर नदी तलाओं में डुबोना शुरू कर दिया। उनके स्थान पर लोगों ने गौतमबुद्ध, फुले, डॉ. आंबेडकर और कांशीराम के चित्र लगाना शुरू कर दिया। इस तरह चुनावों में जहां बसपा एक राजनीतिक पार्टी लगती है वहीं सामान्य परिस्थितियों में सामाजिक व सांस्कृतिक आंदोलन लगती है।*

अंत में यदि मस्तराम कपूर सचमुच चंद्रभान प्रसाद के अमेरिकी निष्कर्षों के कायल हुए हैं और उसे भारत में लागू होते देखना चाहते हैं तो वे दलित बुद्धिजीवियों से राजनीतिक आरक्षण के खात्मे पर पुनर्विचार करने का आवेदन करने के साथ पूना-पैक्ट के खात्मे का उपदेश करें। पूना पैक्ट के खात्मे और 'सामुदायिक अधिनिर्णय' मूल स्वरूप में लागू होने के बाद, जहां आरक्षित सीटों से वर्तमान संख्या से कुछ कम किंतु समर्पित व ईमानदार दलित आएंगे, वही सामान्य सीटों से ऐसे जनप्रतिनिधि आएंगे जो दलितों की स्वार्थ रक्षा के लिए मजबूर रहेंगे।

संविधान समीक्षा पर राष्ट्रपति

भारतीय गणतंत्र के 52वें वर्ष में प्रवेश की पूर्व संध्या पर राष्ट्र के नाम संदेश में राष्ट्रपति के. आर. नारायणन ने प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी के उस सुझाव को खारिज कर दिया है, जो देश के बहुसंख्यक लोकतंत्रप्रेमियों की दुश्चिंता का कारण बन गया था। ज्ञातव्य है कि हाल ही में उन्होंने चुनाव आयोग की स्वर्ण जयंती के अवसर पर अनुष्ठित समारोह में लोकसभा और विधानसभाओं के कार्यकाल को सुनिश्चित करने की पुरजोर वकालत की थी। राष्ट्र के नाम अपने संदेश में राष्ट्रपति ने स्पष्ट रूप से कहा कि हमारे संविधान निर्माताओं ने स्थिरता की तुलना में उत्तरदायित्व को अधिक महत्व दिया था। संविधान में बदलाव की वकालत करने वालों को उन्होंने सतर्कता वाणी सुनाते हुए कहा है कि *हमारे संविधान के रूपकारों ने इच्छाकृत रूप से 1937 के भारत शासन अधिनियम में शामिल सीमित मताधिकार व अप्रत्यक्ष चुनावों की प्रणाली को अस्वीकार किया था। ऐसा फैसला करते हुए उन्होंने भारत के आम लोगों में अत्यधिक विश्वास जताया था।..... आज जब अप्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली की बात सुन रहे हैं तो यह जरूरी है कि हम पीछे मुड़कर उस विश्वास की बात पर विचार करें।* संविधान में बदलाव को लेकर राष्ट्र के अभिभावक द्वारा व्यक्त की गई आशंकाओं से राष्ट्रवादियों को गहरा आघात लगा है। वे उन पर प्रत्याक्रमण करते हुए यह आरोप लगा रहे हैं कि राष्ट्रपति कांग्रेस व वामपंथी दलों की भाषा बोल रहे हैं। स्मरण रहे कि 23 जनवरी को एक जनसभा में कांग्रेस अध्यक्ष सोनिया गांधी ने कहा था... *लगता है*

कि संविधान समीक्षा के जरिये कुछ लोग देश में सदा के लिए राज करना चाहते हैं। संविधान समीक्षा पर सोनिया गांधी की आशंका से राष्ट्रपति के वक्तव्य में काफी समानता होने के कारण ही राष्ट्रवादी कह रहे हैं कि वे वामपंथियों और कांग्रेस की भाषा बोल रहे हैं। अगर ऐसा है तो क्या राष्ट्रपति सिर्फ कांग्रेस और वामपंथियों की ही भाषा बोल रहे हैं? क्या राष्ट्रपति की भावना में समूचे राष्ट्र (अल्पजन राष्ट्रवादियों को छोड़कर) का स्वर गुंजित नहीं हुआ है? नहीं! राष्ट्रवादी ऐसा नहीं मान सकते क्योंकि वे मात्र अपने को ही राष्ट्र मानते हैं। इसीलिए तो राष्ट्रवादी अटल बिहारी वाजपेयी को मुट्ठी भर हिंदुओं की इच्छा को, राम मंदिर निर्माण के सिलसिले में *राष्ट्र की भावना का प्रकटीकरण* कहने में कोई हिचक नहीं है।

आज संविधान समीक्षा को लेकर कांग्रेस, वामदलों व समग्र बहुजन समाज सहित राष्ट्र के अभिभावक स्वयं अगर तरह-तरह की आशंकाएं व्यक्त कर रहे हैं तो क्या इसके लिए खुद स्वयंसेवक प्रधानमंत्री की संदिग्ध भूमिका ही जिम्मेवार नहीं है? क्या उन्हें संविधान की समीक्षा करने की अनुमति राष्ट्र ने दी है? राष्ट्र को संविधान सुपुर्द करने के पूर्व संविधान पर लंबे समय तक चली बहस के दौरान संसद के केंद्रीय कक्ष में ही संविधान निर्माता डॉ. आंबेडकर ने उच्च स्वर में कहा था— *जो संविधान के विषय में असंतुष्ट हैं, वे यदि वयस्क मतदाताओं के मत से निर्वाचित संसद में दो तिहाई बहुमता अर्जित नहीं कर सकते, उनके असंतोष को जनगण का असंतोष नहीं कहा जा सकता।* संविधान निर्माता के उपरोक्त शब्दों के आधार पर प्रधानमंत्री स्वयं विचार करें कि क्या उनके संविधान के प्रति वर्तमान असंतोष को राष्ट्र का असंतोष कहा जा सकता है? शायद कहा जाता यदि वे अपने युक्तिसंगत असंतोष को संसद में रखते और सहमति हासिल करते। मगर उन्होंने ऐसा नहीं किया। उनके पास वह नैतिक बल नहीं था। बहुमत के कंगाल प्रधानमंत्री को यह भलीभांति विदित था कि देश के एक चौथाई से कुछ ही अधिक मतदाताओं का समर्थन प्राप्त करने वाली पार्टी के असंतोष को बहुसंख्यक लोगों के असंतोष में परिणित करने लायक तत्व हैं ही नहीं। इसलिए सदन की इच्छा के विरुद्ध फासिस्ट प्रवृत्ति का परिचय देते हुए, उन्होंने समीक्षा आयोग गठित कर, संविधान में त्रुटियां ढूंढ़ने का काम सौंप दिया।

क्या वास्तव में संविधान में त्रुटियां हैं जिनके दूरीकरण के लिए प्रधानमंत्री इतनी कसरत कर रहे हैं? नहीं। राष्ट्रपति के.आर. नारायणन ने गत वर्ष भारतीय गणतंत्र के स्वर्ण जयंती समारोह में द्विधारहित कंठ से कहा था- *भारत के संविधान में कमजोर वर्ग को पूरी सुरक्षा दी गई है, और जो लोग संविधान में खामियां निकाल रहे हैं वे यह भूल जाते हैं कि कमी संविधान में नहीं, उसे लागू करने वालों में है।* कुछ वैसे ही विचार सुप्रीम कोर्ट के वरिष्ठ अधिवक्ता अभिषेक मनु सिंघवी ने भी व्यक्त किए हैं- *अपना राज्य, अपनी सत्ता होने के बावजूद आज गरीब और गरीब है तो इसका कारण संविधान कतई नहीं है। संविधान अच्छे काम करने से रोकता कहां है। रुकावट तो राजनेताओं की निर्बल, स्वार्थी इच्छाशक्ति है। न तो संविधान हमारी तकलीफों का कारण है और न ही उसके आकार बदलने-हटाने से खामियां दूर होने वाली हैं।* वास्तव में राष्ट्रपति के.आर. नारायणन, सोनिया गांधी इत्यादि सहित

प्राय: समग्र राष्ट्र (हिंदू राष्ट्रवादियों को छोड़कर) ही संविधान को नहीं, संविधान लागू करने वालों को दोषी मानता है।

जहां तक देश की सर्वाधिक असहाय मानव गोष्ठी दलितों का प्रश्न है उन्हें उनकी संख्यानुपात में, संविधान ने राजनीतिक प्रतिनिधित्व सुलभ करा रखा है किंतु उनके प्रतिनिधि विधायक, सांसद उनके लिए कार्य न कर शासक दलों के दासत्व में ही विगत 50 वर्षों से लीन रहे। दोष क्या इसमें संविधान का है? क्या संविधान में परिवर्तन कर उनकी प्रतिबद्धता दलितों के प्रति वापस लाई जा सकती है? इसी तरह संविधान प्रदत्त अधिकारों से समृद्ध होकर भी दलितों को, विभिन्न सरकारी नौकरियों, मेडिकल संस्थानों, कालेज-विश्वविद्यालयों, रेडियो, टी.वी. इत्यादि में उनके संख्यानुपात में प्रतिनिधित्व नहीं मिला तो दोष किसका है, संविधान लागू करने वालों का या खुद संविधान का? संविधान निर्माता डॉ. आंबेडकर ने कहा था- *26 जनवरी, 1950 को हम लोग समानता का अधिकार भोग करेंगे। किंतु सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में 'असमानता' मिलेगी। राजनीति के क्षेत्र में हमलोग एक नागरिक को एक ही वोट एवं प्रत्येक वोट के एक ही मूल्य की स्वीकृति देने जा रहे हैं....। हम लोगों को अवश्य ही निकटतम समय में इस विपरीतता को दूर कर लेना होगा- अन्यथा असमानता से पीड़ित जनता इस राजनैतिक गणतंत्र के ढांचे को ध्वस्त कर सकती है।* आज भी भयंकर आर्थिक और सामाजिक असमानता का शिकार बन कर भी यदि दलित, गणतांत्रिक ढांचे को ध्वस्त करने की डॉ. आंबेडकर की वाणी को सही साबित नहीं कर रहे हैं तो उसका प्रधान कारण यह है कि वे डॉ. आंबेडकर के बनाए संविधान के प्रति आज भी घोरतर रूप से श्रद्धाशील हैं। वे अपनी दुर्दशा के लिए जिम्मेदार स्वाधीनोत्तर भारत के कर्णधारों को मानते हैं।

अत: प्रश्न उदित होता है कि संविधान के जनक की भविष्यवाणी के अनुसार जहां दलितों को गणतंत्र के ढांचे को ध्वस्त करने की दिशा में अग्रसर होना था वहां इसके विपरीत इस देश की प्रधान शासक जाति के एक प्रधानमंत्री और उनकी पार्टी संविधान को रद्दो-बदल करने की मशक्कत क्यों कर रही है? क्या उनके मन में संविधान के प्रति अश्रद्धा है या उनका कोई अन्य अभीष्ट है? जहां तक अश्रद्धा का प्रश्न है, उससे इंकार नहीं किया जा सकता। जिनका विचार गुरुजी के 'विचारों के गुच्छों' से फला-फूला है; जो विषमता की बुनियाद पर विकसित हिंदू-धर्म व संस्कृति के प्रति अथाह विश्वास रखते हैं; जो हिंदू-धर्म की आस्था के समक्ष आधुनिक भारत के कानून को तुच्छ व हिंदू-शास्त्रों के विधानों द्वारा परिचालित परजीवी साधु-संतों के धर्म-संसद के प्रति श्रद्धाशील हैं, उनकी संविधान के प्रति अश्रद्धा स्वाभाविक है, लेकिन संविधान में परिवर्तन के प्रयास के पृष्ठ में मूल कारण कुछ और है।

दरअसल देश के अधिकाधिक बुद्धिजीवी व नेताओं की धिक्कार ध्वनि को अनसुना कर प्रधानमंत्री, संविधान की समीक्षा संपन्न करवाने के लिए जिस तरह आमादा हैं, उसके पृष्ठ में उनका प्रधान उद्देश्य देश के बहुजन समाज के सत्ता पर काबिज होने की उज्ज्वल होती संभावना को क्षीण करना है। संविधान के स्वर्ण जयंती वर्ष में संविधान को लागू करने की दिशा में राष्ट्र के कार्यों की समीक्षा होनी चाहिए थी, इससे कोई भी विवेकवान व्यक्ति सहमत

होगा। लेकिन हुआ इसका उल्टा। प्रधानमंत्री ने संविधान की ही समीक्षा करवाने का स्वार्थान्ध निर्णय लिया। उन्हें विदित था जिस शोषित बहुजन समाज के स्वार्थ को दृष्टिगत रख कर भारत के संविधान की रचना हुई है, अगर उस संविधान को लागू करने की विफलताओं की समीक्षा की गई तो बहुजन को भारत के शासक संप्रदाय से निराशा के सिवाय कुछ नहीं मिलेगा। उसे पता चल जाएगा कि उसके हित में संविधान को लागू करने में कोताही बरती गई है। वैसे में शोषित बहुजनों में शासक संप्रदाय के प्रति आक्रोश और स्वयं देश का भाग्य नियंता बनने की भावना प्रबल होती। अतएव बहुजनों को बचाव की मुद्रा अख्तियार करने और उनका ध्यान विपरीत दिशा में मोड़ने के लिए, उनके सामने संविधान की समीक्षा का विवेकहीन निर्णय लेने से श्रेयकर कोई उपाय नहीं था। किंतु बहुजन समाज जब अपना इतिहास लिखेगा, संविधान की स्वर्ण जयंती वर्ष में बहुजन विरोधी गोष्ठी को बेनकाब होने से बचाने के लिए संविधान समीक्षा के अटल निर्णय के लिए प्रधानमंत्री को कभी क्षमा नहीं करेगा।

लेकिन संविधान समीक्षा के मूल में प्रधानमंत्री का उद्देश्य मात्र बहुजन विरोधियों को बेनकाब होने से बचाना और बहुजन समाज का ध्यान अन्यत्र केंद्रित करने तक ही सीमित नहीं है। भविष्य में आने वाले तूफान का संकेत उन्होंने देख लिया है। उन्हें नजर आने लगा कि बहुजनों में राजनैतिक चेतना के प्रसार के साथ जिस तरह भारत की परंपरागत शासक जातियों के सांसदों और विधायकों की संख्या में संकोचन होता जा रहा है, वह कोई सुखद संकेत नहीं है। अत: वे संविधान में ऐसा प्रावधान चाहते हैं कि सांसदों या विधायकों का न्यूनतम संख्याबल लेकर भी कोई अगर प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री बन जाय तो उसे अपना कार्यकाल पूरा करने में कोई बाधा न आए। इसके लिए वे कभी अमेरिका की राष्ट्रपतीय प्रणाली की बात उछालते हैं तो कभी जर्मन संविधान का हवाला देते हैं। उद्देश्य यही है कि संविधान में परिवर्तन घटित कर ऐसी कोई सुरक्षित प्रणाली संयोजित कर दी जाए। उन्हें यह मालूम है जब तक राहुल गांधी व प्रियंका वढेरा और परिपक्व वय हो कर दिल से सक्रिय राजनीति में नहीं उतरते हैं, उनका मैदान साफ है। आज यदि दलित/पिछड़े सांसदों की भारी भीड़ में प्रधानमंत्री बन कर जिस अनिश्चितता के तनाव से गुजर रहे हैं, अगर इच्छित सुरक्षित प्रणाली संविधान में संयोजित हो गई, बहुजन सांसदों की उससे भी भारी संख्या के बीच एक बार प्रधानमंत्री बनने पर पूरे कार्यकाल के लिए तनाव मुक्त हुआ जा सकता है। इसलिए वे कार्यकाल पूरा करवाने लायक किसी प्रणाली की वकालत कर रहे हैं। इसके लिए बार-बार चुनावों में होने वाले भारी खर्च की युक्ति खड़ी कर रहे हैं।

जिस देश में नेताओं की शाहखर्ची ईर्ष्या की वस्तु है। जहां के नौकरशाह और नेता मिल कर देश को अन्धाधुन्ध लूट रहे हैं वहां चुनावों में होने वाले खर्च के लिए रोना-धोना हास्यास्पद बात है। एक चुनाव में प्रति व्यक्ति जितना खर्च होता है उसे झेलने के लिए तो बहुजन समाज तैयार है मगर मजबूत सरकारें (कार्यकाल पूरा करने वाली) नहीं। स्वधीनोत्तर भारत में लगभग चार दशकों तक मजबूत सरकारों का चमत्कार बहुजन ने तो देखा ही है अटल जी भी अपनी यादों में उनके दुखद चित्र ही संजोये होंगे। 1975 की इमरजेंसी का जन्म

एक मजबूत सरकार के ही जठर से हुआ था। आज अटल जी की सरकार मजबूत होती तो क्या ध्वस्त बाबरी मस्जिद की भूमि पर राममंदिर खड़ा नहीं होता? क्या आंखें नीची करके प्रधानमंत्री मंदिर मुद्दे पर द्विअर्थी संवाद बोलते? इसलिए अटलजी मजबूत सरकार की जितनी भी वकालत कर लें बहुजन तो मजबूर सरकार ही चाहेगा।

हिंदू शास्त्रों के विधानों के सौजन्य से भारत में जो सदियों पुराना शासक और शासित वर्ग है, उन वर्गों की स्थिति को उलटने में सक्षम है डॉ. आंबेडकर द्वारा रचित संविधान। इस संविधान को भारत की परंपरागत शासक गोष्ठी के अनुकूल बदल लेना बहुत दुष्कर कार्य है, यह अटल जी जानते हैं। जानते हैं, इसलिए वे एक अन्य मोर्चे पर भी अपने कौशल आजमा रहे हैं। वह है हिंदूत्व या राम मंदिर मुद्दा। उन्होंने एक कुशल गणितज्ञ की तरह निपुणता से जोड़-घटाव कर राम मंदिर का मुद्दा उछाल दिया है। इस मुद्दे को पकड़कर संघ के अजस्र शिशु संगठनों ने कितनी विकराल परिकल्पना हैं। राष्ट्र उसे बेबसी से देख रहा है। 1925 में भारत की परंपरागत शासक गोष्ठी की एक गौरव संतान ने हिंदुइज्म के नाम पर 'हिंदू समाज' बनाने की परिकल्पना जिस उद्देश्य से की थी उससे अटलजी से ज्यादा कौन अवगत होगा? आज संसद में बहुजन सांसदों की संख्यागरिष्ठता के बावजूद अटल जी प्रधानमंत्री बन गए हैं। बहुजन समाज में बढ़ती जागृति के परिप्रेक्ष्य में अटलजी को यह भान हो चला है कि संविधान में छेड़छाड़ कर, भविष्य सुरक्षित करना आसान नहीं है। बहुजन समाज के जातिगत चेतना के राजनीतिकरण का मुकाबला एकमात्र 'हिंदू-समाज' बनाकर ही हो सकता है। हिंदू-समाज का आधार हिंदू-धर्म है। और जब हिंदू-धर्म के नाम पर आंदोलन होगा नेतृत्व स्वत: ही भारत की परंपरागत शासक गोष्ठी के हाथ में आ जाएगा। अत: अटल जी ने यह सत्योपलब्धि कर ली है कि 'बहुजन-समाज' के बढ़ते प्रभाव को म्लान करने और अपनी जाति को सत्ता के शीर्ष पर बनाए रखने के लिए 'हिंदू-समाज' बनाना आवश्यक है और इस उद्देश्य में सफल होने के लिए जो करना आवश्यक है, उस दिशा में वे कदम बढ़ा चुके हैं। अत: जो लोग अटलजी के संविधान समीक्षा की दिशा में की जा रही तैयारियों से आतंकित हैं, उन्हें उनके विकल्प कार्यक्रम से भी सतर्क रहना आवश्यक है।

कांशीराम का परिवर्तनवादी सूत्र

वन्यावस्था को अतिक्रम करते हुए सभ्यता पथ पर मानव समाज की यात्रा के वर्तमान पड़ाव पर खड़े होकर अगर हम अतीत का सिंहावलोकन करें तो उसमें बुद्धिजीवियों की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण नजर आएगी। बुद्धिजीवियों की इस भूमिका के कारण ही संभवत: विद्या, ज्ञान अथवा मसि को असि से भी ज्यादा शक्तिशाली माना गया है। मनुष्य की यह संपदा ही उसे अन्य प्राणियों से भिन्न व श्रेष्ठ बनाती है। इस बुद्धिबल का ही प्रयोग करके कभी कॉपर्निकस, जियार्दानो ब्रूनो, गैलीलियो, लियोनार्दो विंसी, जिरोलामो फ्रांकास्टोरो, न्यूटन वगैरह मनीषियों ने प्रकृति की प्रतिकूलताओं के विरुद्व मानव की जय यात्रा की शुरुआत की थी। उनके सूत्रों का अवलंबन कर आज मानव प्रकृति का दास होने के अभिशाप से काफी हद तक मुक्त हो चुका है। अगर कॉपर्निकस, गैलीलियो वगैरह ने कुदरत के खिलाफ जहीनी जंग छेड़ कर उसकी गुलामी से मानव को निजात दिलाया तो मानव समाज का शोषण व दमन करने वाली मानव द्वारा ही सृष्ट व्यवस्थाओं के खिलाफ हॉब्स, रूसो, वाल्टेयर, हैरियट स्टो, मार्क्स, माओ वगैरह अनेकों बुद्धिजीवियों ने अपनी मनीषा का प्रयोग कर समाज को *एटिला दी हुणों* से मुक्त कराया। इन मनीषियों की परम्परा ने बार-बार समाज में परिवर्तन की तरंगें पैदा कर आज समाज को इस अवस्था में पहुंचा दिया कि मानवाधिकारों का सम्मान करना, हर सभ्य मनुष्य अपना कर्तव्य मानता है।

समाज परिवर्तन में यदि हम विश्व के अन्यान्य बुद्धिजीवियों से तुलना करें तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि सुदूर अतीत से लेकर वर्तमान तक भारत की मनीषा, पश्चिम की भूमिका में अवतीर्ण न हो सकी। इस देश के जिन प्राचीन ऋषि-मुनियों के प्रति 21वीं सदी के बुद्धिजीवी भी श्रद्धा से सिर झुकाते है, उन ऋषि-मुनियों में कुछेक ने भी पश्चिम के मनीषियों की तरह कुदरत के खिलाफ जहीनी जंग छेड़ने की जहमत नहीं उठाई। सभी के सभी ने कुदरत के सामने आत्म-समर्पण किया। फलत: इस देश में 33 करोड़ देवता सृष्ट हो गए जिनकी कृपा का स्रोत इजाद करने में ही इस देश के मनीषी अपनी ऊर्जा लगाते रहे। इस प्रक्रिया में यहां जन्मे शंकराचार्य, रामानुज, तैलंग स्वामी, वामाक्षेपा, भोलानाथ गिरि, रामदास काठिया बाबा, देवरहा बाबा सहित असंख्य बाबा। इसी प्रक्रिया में समाज परिवर्तन में मनुष्य की बुद्धि के बाद जो उसकी पेशी संचालन की भूमिका होती है, वह भारत में निष्कृय रही। दशा परिवर्तन के लिए लोग अपने हाथों पर निर्भर न रहकर, प्रकृति अर्थात् 33 करोड़ देवताओं पर निर्भर हो गए। भारतीयों की इस मानसिकता को ध्यान में रखकर कार्ल मार्क्स सहित अन्य कई विद्वानों ने यह कहा है कि *प्रकृति के समक्ष लगातार आत्मसमर्पण करने के कारण यह देश बन्दर हनुमान का भक्त और गोमाता की संतान के रूप में परिणित हुआ है।* सिर्फ प्रकृति के विरुद्ध ही नहीं, मानव की शोषणकारी व्यवस्थाओं के विरुद्ध भी मुखरित

होने वाले भारतीय चिन्तकों की सोच का स्वरूप पश्चिम के रूसो, वाल्टेयर, मार्क्स के सर्वथा विपरीत रहा इसलिए इस देश में तुलसी, सूर, गांधी, हेडगेवार वगैरह के चेले ही भूमिष्ठ होते रहे। फलतः समाज परिवर्तन में बुद्धिजीवियों की सार्थक भूमिका के अभाव में यह देश वैज्ञानिक जीवन पद्धति से कोसों दूर, अन्धविश्वास व कुसंस्काराच्छन्न एक ऐसा देश है जहां के पढ़े-लिखे आधुनिक लोग भी भारत में प्राचीन युगीन रामराज्य की व्यवस्था स्थापित करने के लिए उत्सुक दिख रहे हैं। वास्तव में यह समाज जड़ता से ग्रस्त है। ऐसे समाज के परिवर्तन में बुद्धिजीवियों की भूमिका पर आलोकपात करने के पूर्व हमे इस समाज के स्वरूप और उसकी समस्याओं पर संक्षेप में चर्चा कर ली जाए।

प्रतिस्पर्धा की बुनियाद पर विकसित विश्वमय प्रसारित श्रेणी समाजों के पार्श्व में घृणा व उपेक्षा एवं मानवाधिकारों के हरण की आधारशिला पर विकसित भारतीय समाज अपना प्रागैतिहासिक वैशिष्ट्य लिए विश्व की छाती पर एकमात्र जाति समाज के रूप में विद्यमान है। विश्व के अन्यान्य समाजों से इसका तुलनामूलक अध्ययन करने पर स्पष्ट ही दिखाई देता है कि यहां परिवर्तन का रथचक्र, महावीर कर्ण के रथचक्र की ही भांति, सुदूर अतीत से जाति के कीचड़ में इस तरह फंसा पड़ा है कि टस से मस नही होता। भारतीय समाज की अपरिवर्तनशीलता मानव समाज के विकास के इतिहास का ऐसा विस्मयकर व्यतिक्रम है कि इसे दुनिया का आठवां आश्चर्य कहना गलत न होगा। इसकी स्थिति का चित्रण करते हुए कार्ल मार्क्स ने लिखा है– *भारत के अतीत का राजनैतिक स्वरूप जितना भी परिवर्तनशील क्यों न रहा हो, सुदूर पुराकाल से लेकर वर्तमान तक इसके सामाजिक रूप में रत्ती भर भी परिवर्तन नही आया है; एकदम अपरिवर्तित रह गया है। इस समाज की आर्थिक संरचना को कोई भी परिवर्तन बदल नहीं पाया है। परिणाम स्वरूप दूसरे देशों के प्राचीन व मध्य युग के राजा, बैरन्स, नाईट्स, गिल्ड मास्टर का समाज में जहां आज कोई अस्तित्व नहीं, सब परिभाषाएं श्रेणी समाज वाले देशों में अर्थहीन एवं अतीत का इतिहास मात्र रह गई है। भारतवर्ष के जाति समाज के प्रागैतिहासिक ब्राह्मण- शूद्रादि आज भी वही आदिम माहात्म्य लिए स्वमहिमा विद्यमान एवं सम्पूर्ण शक्ति से क्रियाशील है।*

कार्ल मार्क्स ने भारतीय समाज का यह रूप स्थापित करने के सिलसिले में, इस समाज की ऐसी सच्चाई को द्विधा मुक्त चित्त से स्वीकृति प्रदान की है जिसे उनके भारतीय अनुसरणकारी स्वीकार करने से बचना चाहते हैं। भारत का समाज विशुद्ध रूप से एक जाति समाज है, इस सत्य को प्रायः नकारते हुए यहां के प्रगतिशील, इसे भी विश्व के अन्यान्य देशों की तरह गरीब-अमीर की दो श्रेणियों में बंटा, श्रेणी समाज बतलाने का प्रयास करते हैं। यही कारण है सहस्त्रों जातियों के सहस्त्रों समाज में बंटे भारत के लोगों का वे मात्र गरीब-अमीर श्रेणी में वर्गीकरण करते हैं। उनकी इस परिभाषा में एक गरीब चमार-दुसाध और गरीब ब्राह्मण-क्षत्रिय में कोई फर्क नहीं दिखता है। लेकिन जाति और श्रेणी समाज में जमीन-आसमान का फर्क है। चूंकि इन दोनों समाजों की समस्याएं और उन समस्याओं का प्रतिकार सर्वथा भिन्न है इसलिए इनमें समाज परिवर्तन के लिए रचे गए सूत्र दूसरे पर फिट

नही बैठते। यही कारण है श्रेणी समाजों को दृष्टिगत रखकर मार्क्स द्वारा समाज परिवर्तन में रचे गए सूत्र भारत के जाति समाज में प्रभावी नहीं हुए।

जाति समाज और श्रेणी समाज का मौलिक प्रभेद यह है कि श्रेणी समाजों में सम्पूर्ण समाज गरीब-अमीर की दो श्रेणियों में बंटा है जिसमें निरंतर परिवर्तन भी परिलक्षित होते हैं। वहां के समाजों में गरीब श्रेणी का व्यक्ति अपने उद्यम और परिश्रम से अमीर बनकर अपना अवस्थान अमीरों की श्रेणी में ला सकता है। विपरीत स्थितियों में एक अमीर भी गरीब की श्रेणी में स्खलित हो सकता है। ऐसे समाजों में पेशों में भी विचलनशीलता अर्थात हर पेशे में हर व्यक्ति को अपनी योग्यता आजमाइश करने की पूरी छूट रही है, इसलिए वहां के समाजों में तीव्र प्रतियोगिता का बोलबाला रहा है। प्रतियोगिता का जबरदस्त माहौल होने के कारण ही वहां खेल-कूद, राजनीति, व्यवसाय, वाणिज्य व विभिन्न पेशों में योग्य से योग्यतम लोगों का आविर्भाव होता रहता है। श्रेणी समाज की ये विशेषतायें भारत के जाति समाज में बिल्कुल ही दृश्यमान नहीं हैं। सहस्त्रों वर्षों से विभिन्न पेशे भिन्न जातियों के लिए आरक्षित (निर्दिष्ट) रहने के कारण प्रोफेसनल मोबीलिटी इस देश में कभी नहीं रही। जन्म सूत्र से पीढ़ी दर पीढ़ी यहां के लोग एक तयशुदा कर्म/पेशे में लिप्त रहे। चूंकि सभी पेशों में सभी जातियों का प्रवेश यहां कठोरता से वर्जित रहा इसलिए यहां प्रतियोगिता का वातावरण कभी पैदा ही नहीं हो सका। इससे शिक्षा, सैन्य, व्यवसाय, वाणिज्य, गीत-संगीत इत्यादि विभिन्न पेशों व कलाओं के क्षेत्र में सर्वोत्तम लोगों का आविर्भाव ही नही हुआ। एकलव्यों और कर्णों को मुक्त प्रतियोगिता के क्षेत्र से सदैव दूर रखा गया, चाहे कला व साहित्य का क्षेत्र हो या व्यवसाय वाणिज्य का, या क्रीड़ा का; श्रेणी समाजों की प्रतिभाओं के समक्ष बराबर घुटने टेकती रही। लेकिन जाति समाज की सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि पिरामिडनुमा इस समाज की सहस्त्रों श्रेणियों में श्रेणी परिवर्तन की कोई भी गुजांइश नही है। श्रेणी समाजों का एक गरीब जैसे अपने परिश्रम के फल से अमीर श्रेणी में खुद को परिवर्तित कर सकता है वैसा यहां कुछ भी नहीं है। राष्ट्रपति, मुख्यमंत्री, आईएएस, पीसीएस, प्रोफेसर, इंजीनियर डाक्टर बन कर भी दुसाध, चमार, मुसहर अछूत बने रहने के लिए अभिषप्त होते हैं। ब्राह्मण-क्षत्रिय कुलीगीरी, झाडूगीरी या भीख-मंगई करते हुए दरिद्रता की चरम प्रतिमूर्ति बनकर भी चमार, दुसाध की श्रेणी में नही जा सकता।

वास्तव में मानव समाज की प्रगति-परिवर्तन, उन्नयन-शोषणादि में मनुष्य की वित्त-वासना की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका होने के बावजूद अपवाद रूप से भारत के लोगों की सामाजिक मर्यादा निर्धारित करने में वित्त की भूमिका महत्वहीन है। विश्व में अन्यत्र जहां सामाजिक मर्यादा निर्धारण में वित्त की भूमिका ही प्रमुख रहती है, वहीं भारत में यह भूमिका जन्मसूत्र से मिली जाति निभाती है। इस समाज में व्यक्ति जिस जाति में जन्म ग्रहण करता है, आजीवन उसी जाति में रहकर निर्धारित जीवीकोपार्जन करना पड़ता है। पैतृक सूत्र में ही उसकी जीविका का अधिकार रहता है। जाति-भेद या जाति-श्रेणियों की यही विशेषता इसके सहस्त्रों वर्षों तक असंख्य प्रतिकूलताओं के मध्य भी इसके कायम रहने की जीवनी शक्ति है। अतः ऐसे समाज में स्वतः ही सामाजिक मर्यादा निर्धारण में वित्त की भूमिका गौण रह जाती है।

वित्त की इस भूमिका के कारण ही हम देखते हैं कि आईएएस, प्रोफेसर, इंजीनियर, डॉक्टर बना कोई दलित जब गांवों में जाता है, जहां जाति समाज अपने आदिमतम रूप से आज भी प्रवाहमान है, उससे गरीब से गरीब और अनपढ़ बाबाजी या बाबूसाहेब लोग सलाम बजाने की उम्मीद करते हैं। व्यक्ति की सामाजिक मर्यादा तय करने वित्त की गौण भूमिका का दर्शन सिर्फ भारत में ही नहीं मिलता। भारतीय शूद्रों की तरह ही इस अभागेपन का शिकार, दक्षिण अफ्रीका के काले भी कुछ काल तक रहे हैं। दक्षिण अफ्रीका के काले जितना भी वित्त संचय कर लें वे गोरों के स्टेनगनों के सामने सदा नत-मस्तक, निकृष्ट एवं निम्नस्थित हैं। अंग्रेजी राज में गुलाम भारतीयों की भी दक्षिण-अफ्रीका के कालों जैसी ही अवस्था थी। कालों की तरह ही अंग्रेजों के साम्राज्य में भारतीयों को सभी स्कूलों, कालेजों, क्लबों, रेस्टोरेन्टों एवं होटलों इत्यादि में प्रवेश की अनुमति नहीं थी। भारत के जाति समाज में देश के मूल निवासी शूद्र, दक्षिण अफ्रीका के कालों और ब्रिटिश के गुलाम भारतीयों जैसा मर्यादाहीन जीवन जीने के लिए सहस्त्रों वर्षों से अभिशप्त रहे हैं। दक्षिण अफ्रीका के कालों और भारत के शूद्रों की सामाजिक मर्यादा निर्धारण में वित्त की भूमिका पर सुप्रसिद्ध दलित बुद्धिजीवी एस. के. विश्वास साहेब ने एक बहुत महत्वपूर्ण टिप्पणी की है।

विश्वास साहेब लिखते है- *आर्थिक सम्पन्नता के उपरान्त भी मर्यादा (स्टेटस) से वंचित रहने का दृश्य जिन दो देशों में दृष्टिगोचर होता है, उन दोनों ही देशों के समाज एक ही धारा में विकसित हुए हैं। इन दोनों ही समाजों में दो नस्लों का अवस्थान है। एक विजयी दल की दूसरी विजित दल की नस्ल है। विजयी दल के लोग देश के भाग्य विधाता व शासन के कर्ता-धर्ता; दूसरी तरफ विजित लोग सदियों से गुलाम व अनाधिकृत है। विजयी जाति-गोष्ठी कभी भी दोनों देशों के संख्यागुरू मनुष्यों के संग मिलजुलकर एक जाति नहीं बन पाई। ममत्व की भावना से प्रेरित होकर समत्व का अधिकार विजित सम्प्रदाय को नहीं दी। फलस्वरूप एक कृत्रिम समाज की सृष्टि हुई है। तलवार की नोक पर अर्जित राज्य जैसे तलवार की धार मोथरी होते ही हस्तच्युत हो सकता है। वैसे ही श्वेतचर्म या ब्राह्मणत्व की कृत्रिम आधारशिला पर समाज ने जो श्रेष्ठत्व का अधिकार अर्जित किया है, उसे भी अपनी सुरक्षा के लिए, उस स्तर को कायम रखने के लिए हथियार की आवश्यकता पड़ी है। दक्षिण अफ्रीका में वह हथियार बन्दूक की नाल पर पुष्ट कानून शास्त्र और भारत में वह हथियार क्षत्रियों की तलवारों पर पुष्ट धर्म-शास्त्र है। शास्त्र के सिंहासन पर आसीन है दोनों देशों का स्टेटस।*

लेकिन जिन लोगों के मन में मस्तिष्क में इस्लाम और ईसाइयत के विगत सहस्राधिक वर्षों के शासन की बात कुण्डली मारे बैठी है उन लोगों की विश्वास साहेब की युक्ति पर आपत्ति हो सकती है। ऐसे लोगों को यह नहीं भूलना चाहिए कि मुसलमान और अंग्रेजों के शासन काल में मूलतः हिन्दू समाज की प्रभुजातियों के द्वारा ही यहां का शूद्र समाज शासित होता रहा। मुसलमान हुक्मरानों का सेनापति और उपदेष्टा तथा अंग्रेजी राज में सर, सीआईई, राय चौधरी, रायबहादुर की भूमिका में अवतीर्ण हिन्दू प्रभुजातियों के हाथों में ही हिन्दू समाज की लगाम रही। जिस जाति-व्यवस्था के द्वारा वैदिक काल (बौद्ध भारत को छोड़कर) से यहां के बहुसंख्यक विजित लोगों को दास बनाकर शासक जातियां सुख-एश्वर्य का भोग करती

रहीं, उस जाति–व्यवस्था को ध्वस्त करने की मुसलमान व अंग्रेज शासकों द्वारा कभी कोशिश नहीं हुई। उन्हें मालूम था शोषण का राज्य कायम रखने के लिए जाति–व्यवस्था से श्रेयकर कोई व्यवस्था नहीं हो सकती। यह व्यवस्था जब तक कायम रहेगी, समाज सहस्रों टुकड़ों में बंटा रहेगा और परस्पर कलहरत जातियों के लोग संगठित होकर सत्ता को चुनौती नहीं दे पाएंगे। ऐसे में मुसलमानों और अंग्रेजों के शासनकाल में भी ब्राह्मणों द्वारा सृष्ट धर्मशास्त्रों की नंगी तलवार शूद्रों के सिर पर लटकी रही।

लेकिन दक्षिण अफ्रीका और भारत में क्रमशः कानून और धर्मशास्त्र जैसे भयावह हथियारों का विजयी नस्लों द्वारा इस्तेमाल का उद्देश्य महज विजित नस्लों की मानवीय मर्यादा को लघुतर करना ही नहीं रहा। उनका वृहत्तर उद्देश्य देश का अधिपति बनकर राष्ट्र के संसाधनों पर कब्जा करना और विजित नरगोष्ठियों को गुलाम बनाकर उत्पादन कार्यों में इस्तेमाल करना रहा है। दूसरे शब्दों में, इन हथियारों का इस्तेमाल राजनीति से ही प्रेरित माना जाना चाहिए। विजित नरसमूहों के उभय देशों में इस सत्य की सबसे पहले गहन उपलब्धि अफ्रीका के कालों ने की और वे इसके विरुद्ध कठोर राजनैतिक संग्राम चलाकर अपने अधिकारों के पुनरुद्धार की दिशा में बलिष्ठ कदम उठा चुके हैं। नेल्सन मंडेला जैसे प्रखर बुद्धिजीवी और संग्रामी व्यक्ति के नेतृत्व में राजनैतिक अधिकार अर्जन की लड़ाई जीतकर वे अपने समाज में सुखद परिवर्तन की बयार बहा दिए हैं। राजनैतिक सत्ता की मास्टर चाबी हासिल करने बाद वे कितनी जल्दी अपनी समस्याओं का प्रतिकार कर लेते हैं; इस पर अवश्य ही दुनिया की निगाहें टिकी रहेंगी। लेकिन भारत के विजित नस्ल के लोगों की गुलामी से मुक्ति के आसार अभी दूर–दूर तक नहीं दिख रहे हैं। विजयी लोग धर्म नामक हथियार को और धारदार बनाकर, विजित जातियों में मुक्ति की जो थोड़ी बहुत छटपटाहट उभरी है, उसे शान्त करने में और सुपरिकल्पित रूप से जुट गए हैं। ऐसे में भारत में भी निकट भविष्य में उल्लेखनीय पैमाने पर समाज–परिवर्तन की संभावना कम ही है।

समाज–परिवर्तन में भारतीय बुद्धिजीवियों की कारुणिक भूमिका देखकर लोगों को हैरानी होती है। ऐसा नहीं कि यहां श्रेष्ठ बुद्धिजीवियों ने जन्म ग्रहण नहीं किया। हम प्राचीन व मध्ययुग के मनीषियों की बात छोड़कर यदि आधुनिक भारत का ही सिंहावलोकन करें तो बुद्धिजीवियों की लम्बी तालिका सहज ही मानस पटल पर उभर आयेगी। विवेकानंद, दयानंद, सरस्वती, राजाराममोहन राय, विद्यासागर, बंकिम चटर्जी, तिलक, अरविन्द, गांधी वगैरह जैसे अनेकों बुद्धिजीवी भारतभूमि ने पैदा किया। इन्होंने एक आदर्श बुद्धिजीवी की तरह अपने व्यक्तिगत सुखों की तिलांजलि देकर बृहत्तर समाज के हितचिन्तन में अपनी ऊर्जा को लगाया। अपने हिन्दू संस्कारों के कारण ये देवभक्ति में निपुण थे ही, अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से इनमें देशभक्ति और आधुनिक मानवतावाद का गुण भी विकसित हुआ था। किन्तु ये प्रखर चिंतक भी समाज में आमूल परिवर्तन अर्थात् जिस वर्ण–व्यवस्था के कारण यह समाज जड़ता को प्राप्त हो चुका है, उस वर्ण–व्यवस्था के ध्वंस की दिशा में कदम नहीं बढ़ा सके। बेशक ये जिस उच्चवर्ण समाज के प्रतिनिधि थे उस समाज में परिवर्तन घटित करने का उन्होंने यत्न किया। मसलन राजाराममोहन और विद्यासागर ने राजसत्ता का सहयोग पाकर क्रमशः सतीप्रथा

के उन्मूलन और विधवाओं के पुनर्विवाह में अपनी सारी ऊर्जा लगा दी। ये समस्यायें दलित-पिछड़ों की समस्या नहीं, राजाराममोहन और विद्यासागर जैसे उच्चवर्ण के समाज की समस्या थी। उन्हीं की तरह अन्यान्य उच्चवर्ण बुद्धिजीवियों के कार्यों पर दृष्टिपात करने पर पाएंगें कि इन्होंने अपने चिंतन में निज-समाज के हित को प्रमुखता दी। आज तक इनमें से किसी भी बुद्धिजीवी ने अपने जीवन का एकमेव लक्ष्य उन समस्याओं का खात्मा करना नहीं बताया, जिन समस्याओं का सीधा संपर्क बहुजन समाज से है। आज भी गौर करने पर देखा जाएगा कि विभिन्न सवर्ण-बुद्धिजीवी एड्स, कैंसर, पर्यावरण, आतंकवाद वगैरह के विरुद्ध दिन-रात एक किए हुए हैं, पर जो वर्ण व्यवस्था दलित-पिछड़ों की दुर्दशा का मूल कारण है, उस का खात्मा किसी भी सवर्ण बुद्धिजीवी के जीवन का प्रधान लक्ष्य नहीं है। आखिर क्यों अपवाद रूप से कोई एक भी सवर्ण बुद्धिजीवी दलितों की भांति वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध अपनी समग्र ऊर्जा नहीं लगा रहा है?

उपरोक्त प्रश्न का उत्तर बहुत ही स्पष्ट है। भारतीय समाज की प्रयोगशाला में परीक्षित वह सच्चाई यह है कि जाति समाज में व्यक्ति की सोच स्वजाति व स्व-वर्ण की स्वार्थ-सरिता के मध्य ही प्रवाहित होती है। उसमें सर्व वर्ग की चेतना पूरी तरह विलुप्त रहती है। इस जाति समाज में व्यक्ति की सोच ही इस रूप में संस्कारित होती है कि वह सबसे पहले अपनी जाति की हित की बात सोचता है। बहुत आगे बढ़ेगा तो वह वर्ण तक अपनी सोच को प्रसारित कर पाएगा। उदाहरणार्थ कोई दुसाध या चमार यदि निज हित का परित्याग कर औरों के लिए सोचेगा तो सबसे पहले उसकी सोच की परिधि में उसकी जाति आएगी। इससे आगे की सोचेंगे तो वे बहुजन समाज के हित की बात सोचेंगे। यही बात सवर्णों की है। कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय या कायस्थ बुद्धिजीवी दुख तकलीफ भी उठाकर अगर समाज की बात सोचेगा तो पहले अपनी जाति की बात सोचेगा। इससे आगे उसकी सोच की सीमा बढ़ेगी तो वह सवर्ण समाज तक जाएगी। इसके मूल में, किसी विज्ञान की प्रयोगशाला में परीक्षत सत्य की भांति, यही सत्य क्रियाशील रहता है कि जाति समाज में व्यक्ति की सोच स्वजाति की सरिता के मध्य ही प्रवाहित होती है और वह सर्व वर्ग की चेतना से शून्य होता है।

आजकल दलित साहित्य के लेखन को लेकर एक बड़ा भारी वितर्क चल रहा है। वह विर्तक है *क्या सवर्ण साहित्यकार भी दलित साहित्य सृजन कर सकते हैं?* सवर्णों का दावा है कि कर सकते हैं जबकि दलितों की राय इसके विपरीत है। दलित बुद्धिजीवियों का तर्क है कि सवर्णों को दालित्य की पीड़ा का एहसास नहीं है। इसलिए दलित साहित्य का सृजन उनके वश की बात नहीं है। जो दलित ऐसा सोचते हैं, उन पर मुझे करुणा होती है। अगर दलित ही दलित साहित्य लिख सकते हैं तो फिर ज्योतिबा फुले, पेरियार, ललई सिंह यादव, राम स्वरूप वर्मा जैसे गैर दलितों का लेखन व चिन्तन दलित चिन्तन की विराट पूंजी कैसे है? दलितों की इस युक्ति के अनुसार तब तो मानवतावादी साहित्य की श्रृखंला की श्रेष्ठतम रचना 'अंकल टॉम्स केबिन' की रचनाकार हैरियट स्टो को भी नीग्रो ही होना चाहिए था। पर हैरियट स्टो तो उन अमेरिकी गोरों में से ही किसी की संतान थीं, जो नीग्रो लोगों का उसी तरह पशुवत इस्तेमाल करते रहे, जैसे भारत के उच्चवर्ण दलितों के साथ पशुतुल्य व्यवहार

करते रहे हैं। गोरी नस्ल की हैरियट स्टो की *अंकल टॉम्स केबिन* ने न सिर्फ अमर साहित्य के रूप में स्थान बनाया, बल्कि नीग्रो स्लेवरी के खात्मे में अहम् भूमिका अदा की। ऐसे में दलितों का यह दावा कि वे ही दलित साहित्य लिख सकते हैं, ठीक नहीं है। लेकिन दावा करने के बावजूद सवर्ण भी दलित साहित्य लिख सकते हैं, संभव नहीं दिखाई पड़ता। उनके न लिख पाने का एकदम सीधा कारण यही है कि जाति समाज में व्यक्ति की सोच महज स्वजाति/स्ववर्ण की सरिता के मध्य ही प्रवाहित होती है इसलिए भारत के इस जाति-समाज की अप्रिय सच्चाई को अतिक्रम कर सवर्णों के लिए दलित साहित्य लिखा पाना एक दुष्कर काम है। कारण, दलित साहित्य दालित्य की पीड़ा का साहित्य न होकर मूलतः वर्ण-व्यवस्था के ध्वंस का साहित्य है। इसलिए इस साहित्य का सृजन वही कर सकता है जिसके मन में वर्ण-व्यवस्था के ध्वंस अर्थात् भारतीय समाज में आमूल परिवर्तन की तीव्र ललक हो। चूंकि वर्ण-व्यवस्था हिन्दू-धर्म का प्राण और हिन्दू ईश्वर द्वारा स्पष्ट है इसलिए हिन्दू-धर्म के ध्वंस की चाह और हिन्दू भगवानों के विरुद्ध निर्मम प्रहार भी दलित साहित्य सृजन की अनिवार्य शर्तों में गण्य हैं। ऐसे में वर्ण-व्यवस्था विरोधी लेखन सवर्णों के लिए और कठिन है। पर मूल बात यह है कि चूंकि वर्ण-व्यवस्था सवर्णों के हित में विकसित है इसलिए भारत के जाति समाज में स्व-जाति हित चिन्तन से पुष्ट मानसिकता के कारण, सवर्ण कोशिश करके भी दलित साहित्य नहीं लिख सकते। विपरीत उसके, सहस्त्रों वर्षों से वर्ण-व्यवस्था दलितों के विरुद्ध भयावह रूप से क्रियाशील है, इसलिए डॉ. आंबेडकर के अनुसरणकारियों का स्वतः स्फूर्त रूप से वर्ण-व्यवस्था विरोधी चिन्तन में प्रवृत्त होना स्वाभाविक-सी बात है।

पिछली पंक्तियों में मैंने कहा है भारत में निकट भविष्य में उल्लेखनीय पैमाने पर समाज परिवर्तन की संभावना कम ही है। लेकिन समाज परिवर्तन की न्यूनाधिक जो भी संभावना है, वह दलित बुद्धिजीवियों की सक्रियता पर ही निर्भर है। आज दुनिया भर के पिछड़ी जाति के लोग बौद्धिक कर्म में लिप्त हैं। साहित्य सृजन कर रहे हैं, अखबारों में नियमित रूप से कॉलम लिख रहे हैं, पर उनके लेखन में सवर्णों से कोई पार्थक्य प्रतिबिम्बित नहीं होता। अखबारों के सम्पादकीय पृष्ठों पर तो कई यादव, वर्मा, शर्मा वगैरह का लेख छपता रहता है लेकिन इनमें से किसी की भी कलम मे वह आग नहीं झलकती, जो दलितों की ओर से एकमात्र नियमित कॉलम लिखने वाले चन्द्रभान प्रसाद के स्तम्भों में दिखाई पड़ती है। पिछड़े बुद्धिजीवियों की वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध चुप्पी का असर आम पिछड़ों पर भी दिखाई पड़ता है। जिन लोगों को राष्ट्रीय सहारा अखबार के *सहारा सलाह* में चन्द्रभान प्रसाद के जवाबों को पढ़ने का नियमित अवसर मिलता है, उन लोगों ने देखा होगा कि पिछड़ी जातियों के पाठक सवर्णों से भी कहीं ज्यादा उनके विरुद्ध उग्र प्रतिक्रिया जाहिर करते हैं। पिछड़ी जाति के बुद्धिजीवियों की वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध निष्कृयता का असर न सिर्फ आम पिछड़ों पर बल्कि पिछड़ी जाति के नेताओं पर भी पड़ा है। ये नेता सामाजिक न्याय का ढोल तो पीटते हैं लेकिन जिस जाति वर्ण/व्यवस्था के कारण सामाजिक अन्याय की सृष्टि हुई, उसके खात्मे की इनमें कोई ललक नहीं है। उल्टे उन देवी-देवताओं की पूजा करते दिखलाई पड़ते हैं, जिनके सौजन्य से भारत के शूद्र (दलित-पिछड़े) दैविक-दास बने हुए हैं। सामाजिक न्याय

के बड़े प्रवक्ता लालू यादव अगर छठ मइया की भक्ति का सार्वजनिक प्रदर्शन करते हैं तो मुलायम सिंह यादव संसद भवन में उस भगवान कृष्ण का जय घोष करते हैं, जो कृष्ण वर्ण-व्यवस्था के जनक हैं। कोई दलित मायावती ही उस पेरियार के नाम पर मेले लगाने का साहस कर सकती है, जिस पेरियार का हिन्दू देवी-देवताओं पर जूते और झाड़ू बरसाना एक शगल था। इन उग्र शूद्रों को पता नहीं कि जाति व्यवस्था के प्रवर्तक वैदिक ऋषि-मुनियों ने शूद्रों की शिक्षा इसलिए निषिद्ध रखी कि कहीं पढ़-लिखकर ये अपने बौद्धिक बल से समृद्ध होकर उस व्यवस्था का नाश न कर दें, जो भावी उच्चवर्णों के हित में सृष्ट है। वैदिक ऋषियों की दूरदर्शिता का कायल हमें उस समय होना पड़ता है जब हम अंग्रेजों की जनशिक्षा नीति के परिणामों पर दृष्टिपात करते हैं।

अगर हम मुख्यधारा के ही लोगों से सहमत होते हुए यह मान लें कि अंग्रेजों ने किसी मानवीय कारण से नहीं, अपने तुच्छ व्यावसायिक स्वार्थ से ही प्रेरित होकर जनशिक्षा नीति लागू किया था तो भी हमें यह कबूल करने में संकोच नहीं करना चाहिए कि आईपीसी (भारतीय दंड संहिता) के बाद यह नीति ही अत्यन्त ऐतिहासिक महत्व की घटना थी। हजारों सालों से वैदिक ऋषियों की भावी संतानों द्वारा शूद्रों के लिए रुद्ध किये शिक्षालयों के द्वार अंग्रेजों द्वारा मुक्त करने से हम जैसों को जहां आज जैसी संगोष्ठियों में शिरकत करने का मार्ग प्रशस्त हुआ, वहीं इससे भी बढ़कर व्यवस्था के शोषितों की मुक्ति के लिए बहुजन समाज को फुले, पेरियार, डॉ. आंबेडकर जैसे क्रांतिकारियों का समाज परिवर्तनकारी मंत्र मिला। लेकिन क्या इससे सामाजिक परिवर्तन हुआ? जिन लोगों को इस परिवर्तन में भूमिका निभानी थी, उन्होंने निभाई? नहीं निभाई, इसीलिए तो बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर ने इनकी भूमिका से आहत होकर 18 मार्च, 1956 को आगरा में आंसू बहाये थे। लेकिन खुशी की बात है कि जिन्हें समाज परिवर्तन में अपनी अहम् भूमिका अदा करनी है, वे उस स्थिति से काफी हद तक उबर चुके हैं, जिस स्थिति को देखकर कभी बाबा साहेब रोये थे। इसके लिए निश्चय ही यह देश कांशीराम जैसे क्रान्तिकारी दार्शनिक का आभारी रहेगा।

मेरे ख्याल से भारतवर्ष के सहस्त्रों वर्षों के इतिहास में वर्ण-व्यवस्था के शोषितों की दृष्टि से डॉ. आंबेडकर के आविर्भाव के बाद कांशीराम का उदय सबसे महत्वपूर्ण घटना है। जैसा कि हम जानते हैं पांच हजार वर्ष पूर्व के मूल निवासियों के समतामूलक समाज में शस्त्र और शास्त्रों के भंयकर प्रयोग द्वारा एक विराट परिवर्तन घटित कर, लगभग साढ़े तीन हजार वर्ष पूर्व वैदिक मनीषा ने जिस जाति समाज को जन्म दिया, उस जाति समाज में मौलिक परिवर्तन की चाह परवर्तीकाल की उच्चवर्ण मनीषा में कभी पैदा नहीं हुई। वैदिक काल से लेकर मध्य युग होते हुए आधुनिक काल तक, भारत के ज्ञान के एकाधिकारियों की सभ्यता पथ पर यात्रा, महज *यथावतवाद* की यात्रा रही है। ऐसा इसलिए कि सदियों की यह अपरिवर्तित समाज व्यवस्था इनके हित में बराबर क्रियाशील रही। समाज में परिवर्तन की चाह तो उनमें पैदा होती है, जिनके लिए व्यवस्था अहितकर होती है। भारत में यह व्यवस्था जिनके लिए अहितकर रही, वे परिवर्तन के लिए इसलिए सक्रिय नहीं हुए कि उनके लिए शिक्षा निषिद्ध रही। ऐसे लोगों को जब अंग्रेजों के सौजन्य से ज्ञानार्जन का अवसर मिला, इनमें फुले,

पेरियार जैसी ज्वालामुखी प्रतिभाओं का उदय हुआ। किन्तु परिवर्तनकामी सम्पूर्ण विचारों का पूर्ण प्रस्फुरण भारत के सर्वकाल के सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी डॉ. आंबेडकर में ही हुआ। तमाम प्रतिकूलताओं के मध्य रहकर भी बाबा साहेब ने सहस्त्रों वर्षों के जड़ समाज में आमूल परिवर्तन घटित करने के सारे सूत्र रच डाले। आंबेडकर का उदय वास्तव में जाति-समाज में कार्ल मार्क्स का उदय है। अगर दुनिया के सारे समाज, जाति समाज होते तो मार्क्स को आंबेडकर ही बनना पड़ता। लेकिन भारतवर्ष के जड़ समाज में जन्मे फुले, पेरियार, डॉ. आंबेडकर जैसे क्रान्तिकारी विचारकों के समाज परिवर्तनकारी सूत्रों का लाभ उठाने में बहुजन सामज शायद अब तक वंचित ही रहता, यदि देश के सामाजिक व राजनैतिक परिदृश्य पर कांशीराम का उदय न हुआ होता।

ईआरडीएल में सुख-शान्ति की नौकरी के दौरान, राजस्थान के दलित कर्मचारी दीनाभाना के उत्पीड़न के मूल कारणों से अवगत होने के बाद कांशीराम में नाटकीय रूप से जो सांस्कृतिक, भावनात्मक व राजनीतिक संस्कार पड़ा, वह बिल्कुल गौतम बुद्ध जैसा था। राजसिक सुख ऐश्वर्य के अभ्यस्त गौतम बुद्ध ने एक नाटकीय यात्रा के मध्य दुख, दारिद्रय का साक्षात् कर, उसके दूरीकरण के उपायों की खोज के लिए जिस तरह गृह-त्याग किया, कुछ वैसा ही कांशीराम ने किया। आम दलितों की तुलना में बचपन से पर्याप्त सुख-स्वाछन्द का जीवन व्यतीत किए और ईआरडीएल में अफसर की नौकरी करते हुए कांशीराम जिन दिनों 'दूल्हे का सेहरा' पहनने के सपने में विभोर थे, उन्हीं दिनों दीनाभाना के साथ वह घटना हुई जिसने बाद में 31 वर्षीय कांशीराम को सांसारिक सुख से दूर रहने की प्रतिज्ञा करने के लिए मजबूर कर दिया। इस त्याग का निर्णय, किसी हिन्दू साधु की भांति मोक्ष के उद्देश्य से नहीं बल्कि उन कारणों के प्रतिकार के उद्देश्य से लिया गया था, जिन कारणों से दीनाभानों पर उत्पीड़न होता रहा है। उसके बाद का इतिहास दुनिया जानती है।

कांशीराम ने फुले, पेरियार, शाहूजी और डॉ. आंबेडकर के क्रान्तिकारी विचारों का गहन अध्ययन करने के बाद, वर्तमान भारत में सामाजिक परिवर्तन के लिए आवश्यक तत्वों को संग्रहित किया और बाद के चरणों में उन्हें लागू करने की दिशा में अग्रसर हुए। सामाजिक परिवर्तन के अपने लक्ष्य में इन क्रान्तिकारियों के कुछ विचारों को ग्रहण किया तो कुछ का परित्याग। मसलन उन्होंने आर्य-अनार्य सिद्धान्त में डॉ. आंबेडकर के विचारों को छोड़कर फुले और पेरियार का सिद्धांत ग्रहण किया। यही नहीं उन्होंने फुले की बहुजन संकल्पना को बहुजनवाद में परिणत करने का निर्णय लिया। फुले और पेरियार के आर्य सिद्धान्त का जो निर्णय उन्होंने लिया, वही आज ब्राह्मणों द्वारा सृष्ट जाति के अस्त्र के विरुद्ध सबसे कारगर हथियार बनने में सक्षम है। जाति व्यवस्था का विराट उद्देश्य विच्छिन्नता और भ्रातृत्वहीनता का प्रसार है। आर्य विदेशी थे यह प्रचारित कर उन्होंने मूलनिवासियों के पुरखे एक थे, बताकर बहुजनों में भारी एकता घटित करने में सफलता पाई है। मुझे नहीं लगता कि ब्राह्मणों ने वर्ण-व्यवस्था के दासों (बहुजनों) को सहस्त्रों भागों में जिस तरह घृणा और द्वेष के आधार पर विभाजित किया है उसका मुकाबला करने में मूलनिवासीवाद से कोई बेहतर हथियार है। लेकिन समाज-परिवर्तन के लिए बहुजनों की एकता एक आवश्यक शर्त हो सकती है पर शेष नहीं।

उन्होंने अपनी प्रखर मनीषा से यह बात भली भांति जान लिया था कि केवल गरीबी या अभाव ही वंचितों को सामाजिक क्रांन्ति के लिए प्रेरित नहीं कर सकता, प्रेरित करता है अधिकार खोने का एहसास। और बहुजन समाज में अधिकार खोने का एहसास है ही नहीं क्योंकि मनुष्य होने के नाते राष्ट्र के संसाधनों पर उनका भी हक है, बाबू साहेब, बाबाजी की तरह ही उनकी भी मर्यादा है, यह एहसास हिन्दू-धर्म शास्त्रों ने इनमें पनपने ही नहीं दिया है। इन शास्त्रों ने इन्हें दैविक दास (डिवाइन स्लेव) बना दिया है। ये दैविक-दास इतना जानते हैं कि पूर्व जन्मों के कर्मों की परिणति स्वरूप वे वर्तमान दशा में पहुचे हैं और इस दशा से छुटकारा सिर्फ अगला जन्म ही दे सकता है। ऐसे में उन्होंने सिर्फ वह कर्तव्य पालन करना सीखा जो उन्हें अगले जन्म में बेहतर दशा में ला सकता है। ऐसे लोगों में अधिकार बोध और उस अधिकार के खोने का एहसास पैदा करना एक अत्यन्त दुष्कर काम था। पर कांशीराम ने सिन्धु-सभ्यता के गौरव का व्यापक प्रचार चला कर यह चमत्कार काफी हद तक कर डाला है। अगर मूल निवासियों की सिन्धु-सभ्यता के इतिहास का विपुल प्रचार उन्होंने नहीं किया होता तो आज सहस्त्रों वर्षो के दासों में शासक बनने की आकांक्षा पैदा होना असंभव था। भले ही बहुजन समाज निकट भविष्य में रूलर न बन सके पर उसमें रूलर बनने की आंकाक्षा एक बार जब पैदा हो गई तो उसके लिए यह लक्ष्य पाना सिर्फ समय के अन्तराल की बात है।

भारत सहित दुनिया भर के समाजशास्त्री इस बात से परेशान हैं कि दुनिया में सर्वत्र क्रान्ति हुई पर भारत में नहीं। इसका बहुत ही सरल उत्तर है– *इस देश के शोषित, वंचित दैविक दास हैं। इस दासत्व ने न सिर्फ इन्हें अधिकारबोध-शून्य बना दिया है बल्कि उन्नततर जीवन की आकांक्षा का भी लोप कर दिया है।* यहां गरीबी है पर गरीबों में अमीरों जैसे जीवन जीने की आकांक्षा नहीं है। भारत की चरम गरीबी देखकर ही लेनिन ने कहा था कि *मार्क्सवाद भारत होते हुए चीन पहुंचेगा।* यह विश्वास उन्हें अपने देश के पूंजी के दासों का वैकल्पिक कदम देखकर हुआ था पर उन्हें भारत के वैदिक-दासों की मानसिकता का पता ही नहीं था। इसीलिए लेनिन भ्रान्त साबित हुए। क्रांन्ति चीन में हुई। भारत के दैविक दासों ने यहां के लेनिन और माओवादियों को बुद्धू साबित कर दिया। ये बेचारे समझे थे कि गरीबी के जठर से ही क्रांन्ति की ज्वाला पैदा होती है। लेकिन कांशीराम ने समाज परिवर्तन की इस बाधा को समझा और अपनी हिकमत से इन दासों की सोच में आमूल परिवर्तन घटित कर शासक बनने की आकांक्षा (एस्पिरेशन) पैदा कर दिया। भारत में सामाजिक परिवर्तन की यह प्रधान बाधाएं– सामाजिक विच्छिन्नता, भातृत्वहीनता और आकांक्षाहीनता ही हिन्दू शास्त्रों और वर्ण-व्यवस्था की देन है। भारत के ऋषि-मुनियों ने सहस्त्रों वर्षो पूर्व अपनी समग्र ऊर्जा सामाजिक परिवर्तन के इन विघ्नों की सृष्टि में लगाया था। उनका यह षडयंत्र और इस षडयंत्र की काट भारतवर्ष के समग्र इतिहास में केवल कांशीराम ही सबसे बेहतर इसलिए समझ सके, क्योंकि उन्होंने ही बीबी-बच्चों और घर-संसार का सुख त्यागकर सामाजिक परिवर्तन अपने जीवन का एक मात्र लक्ष्य बनाए; क्योंकि उन्होंने ही भारतवर्ष के ज्ञात इतिहास के तीन सर्वश्रेष्ठ क्रान्तिकारियों- फुले, पेरियार और डॉ. आंबेडकर के क्रान्ति-दर्शन के सार-तत्वों को आत्मसात् करने में सफलता पाई है।

भारत में सामाजिक क्रान्ति के मूल मंत्र को समझने के बाद इसे लागू करने की दिशा

में उन्होंने अपनी ऊर्जा का दुरुपयोग होने से रोका। वे दूसरे बुद्धिजीवियों की तरह जाति का ध्वंस अपने जीवन का लक्ष्य नहीं बनाए। वे कुछ दिनों के प्रयास के बाद समझ गए कि सहस्त्रों वर्ष पूर्व एक बर्बर नरगोष्ठी की स्वार्थ चेतना द्वारा जो वर्ण-व्यवस्था का पौधा रोपा गया था वह कालान्तर जाति के जिस अमर वटवृक्ष के रूप में विकसित हो गया है उसे एक जन्म में आमूल खत्म करना प्राय: असम्भव है। ऐसे में उन्होंने जातियों का इस्तेमाल करने की परिकल्पना की। अपनी परिकल्पना के तहत उन्होंने वंचित जातियों को शासक जातियों के विरुद्ध संगठित करने का निर्णय किया। उन्होंने जादुई तरीके से व्यवस्था के वंचितों में जाति चेतना का राजनीतिकरण कर दिया, जिससे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों का जाति के नाम पर सत्ता में पहुंचना दुष्कर हो गया। कांशीराम की जाति चेतना की राजनीतिकरण की परिकल्पना ने शासक जातियों में त्राहि-त्राहि मचा दिया है। उन्हें पूरा यकीन है कि मूलनिवासी बहुजन समाज जाति की विच्छिन्नता की प्राचीर का अतिक्रम कर, भ्रातृभाव से एकबद्ध होकर अपने पुरखों द्वारा हारे गए आदि भारत की मुक्ति और खोए अधिकार को पाने के लिए एक दिन संगठित होकर शासन की बागडोर अपने हाथ में ले लेंगे। तब राजसत्ता की गुरुकिल्ली उनके हाथ में होगी और वे इस किल्ली का इस्तेमाल कर न सिर्फ राष्ट्र के संसाधनों में अपनी-अपनी हिस्सेदारी ले लेंगे बल्कि अपनी सांस्कृतिक और धार्मिक समस्या का समाधान कर लेंगे।

लेकिन कांशीराम सिर्फ सामाजिक परिवर्तन के सूत्रों को इजाद कर ही चुप नहीं बैठे रहे। वैदिक भारत में जिस देवासुर संग्राम में हारकर मूलनिवासियों ने राजसत्ता की चाबी गंवा दी थी, उसके पुनरुद्धार के लिए जो नया सत्ता-संग्राम चलाना था उसके लिए रसद, सैनिक, सिपहसालार भी तो चाहिए था। पिछड़ों में सामाजिक परिवर्तन में भारी अरुचि को देखते हुए, उनकी उम्मीद के एकमात्र केन्द्र दलित (अस्पृश्य व आदिवासी) बने। इस उम्मीद का एक और कारण यह था कि उन्होंने एकान्त चिन्तन के बाद यह सत्य अपनी गांठ में बांध लिया था कि व्यवस्था परिवर्तन की लड़ाई की जरूरत उस व्यवस्था में सर्वाधिक सताए गए लोग ही महसूस करते हैं पर बहुसंख्यक दलित तो गांवो में रहते हैं जो भूमिहीन, शिक्षा व साधनहीन ही नहीं दैविक-दासत्व में पूरी जकड़े हुए हैं। ऐसे लोगों को समाज-परिवर्तन की बात समझाना और आवश्यक त्याग के लिए तैयार करना कठिन काम था। ऐसे में उनकी नजर पढ़े-लिखे नौकरीशुदा दलितों पर गई। पर, यह वर्ग तो समाज-परिवर्तन में अपनी नाकारा भूमिका से डॉ. आंबेडकर को रुला चुका था। लेकिन कांशीराम के सामने इस वर्ग को सामाजिक परिवर्तन के लिए तैयार करने के सिवाय कोई और विकल्प नहीं था। क्योंकि उन्हें पता था कि वे जो लड़ाई लड़ने जा रहे हैं, उसमें अर्थदान के लिए न तो कोई आधुनिक भामाशाह सामने आने वाला है; न तो प्रचार के लिए कोई शत्रुघ्न सिन्हा, अमिताभ, विनोद खन्ना और न ही साहित्य रचने के लिए कोई प्रेमचंद का जाति भाई। ऐसे में पढ़े-लिखे नौकरीशुदा दलितों की ओर मुखातिब हुए। जिन दिनों वे इस वर्ग से संवाद करना शुरू किए थे, अपनी एक सभा में उन्होंने बाबू जगजीवन राम की उपस्थिति में कहा था, *हम पढ़े-लिखे लोगों को लेकर एक ऐसा संगठन खड़ा करना चाहते हैं जिसमें न सिर्फ उसका ही पैसा और मस्तिष्क होगा बल्कि उसी का प्रयास भी होगा।* बाबूजी युवक कांशीराम की बात सुनकर न सिर्फ विस्मित हुए थे बल्कि असंभव करार दे दिए थे। बाबूजी

विश्वास करें तो कैसे करें। उन्होंने तो इस वर्ग की नालायकियत देखी थी कि कैसे इसने डॉ. आंबेडकर जैसी महानतम हस्ती को रुलाया था। पर, मा. कांशीराम ने बाबूजी जैसे तजुर्बेकार व्यक्ति, जिसके लिए राजनीति नख-दर्पण थी और जिन्होंने महात्मा गांधी से लेकर इंदिरा गांधी तक को देखा था, भ्रान्त प्रमाणित कर दिया। उन्होंने पढ़े-लिखे नौकरीशुदा वर्ग में *पे बैक टू दी सोसायटी* (समाज को लौटाने) की भावना भर कर एक और स्पेशल चमत्कार कर डाला है। मेरे ख्याल से उन्होंने सहस्त्रों वर्षों के दासों (दलित-पिछडों) में शासक बनने की अभूतपूर्व आकांक्षा और फुले की बहुजन संकल्पना को व्यापक बहुजनवाद में तब्दील करने के बाद तीसरा महत्वपूर्ण ऐतिहासिक चमत्कार दलितों में पे बैक टू दी सोसाइटी की भावना भरकर किया है। बामसेफ के माध्यम से समाज को लौटाने और मनुवाद द्वारा सताई गई जातियों में भ्रातृभाव मरने का जो प्रयास किया है, वही भविष्य में इस देश में सामाजिक परिवर्तन का प्रधान कारण बनेगा लेकिन आने वाले वर्षों में जिस बहुजनवाद में भारत में आमूल सामजिक परिवर्तन की संभावना उज्ज्वल हुई है, वह फिलहाल दो कारणों से संकट में है। पहला, बहुजन समाज की पिछड़ी जातियों में जिस पैमाने पर शूद्रत्व (गुलामी) का एहसास हो जाना चाहिए था, वह नहीं हुआ। इन जातियों के अग्रसर लोगों में राजनीतिक क्षमता की भूख तो बढ़ी है, पर 6000 जाति/उपजातियों में बंटा समाज, घृणा और शत्रुता की प्राचीर का अतिक्रम कर बहुजन समाज बने, उसकी अपेक्षित चाह नहीं है। उल्टे राजनीतिक क्षमता ने इनमें सामंतवादी मानसिकता विकसित कर दी है। इससे बहुजन समाज की अति पिछड़ी व दलित (अस्पृश्य आदिवासियों) जातियों में इनके खौफ की व्याप्ति हो रही है। फलत: बहुजन समाज बनने की प्रक्रिया बाधित हो रही है। इनकी इस सामंतवादी मानसिकता से आजिज आकर रणनीतिक कारणों से लगातार तीसरी बार बसपा ने अल्पजनों की भाजपा के साथ मिलकर सत्ता में भागीदारी करने का जो निर्णय लिया उससे बहुजन समाज बनने की प्रक्रिया थोड़ी और विघ्नित हुई है। राहत की बात यह रही कि इस बीच वामन मेश्राम उत्तरोत्तर मजबूत होते जा रहे हैं। वे जिस तन्मयता और समर्पण भाव से बामसेफ को चला रहे हैं, उम्मीद करनी चाहिए कि भविष्य में बहुजन समाज बनने की राह में आए अवरोध दूर हो जाएंगे पर बहुजन समाज बनते-बनते इक्कीसवीं सदी में भूमण्डलीकरण की आंधी में दलित समाज पूरी तरह तबाह हो जाएगा, यह मानकर चंद्रभान प्रसाद जैसे दलित बुद्धिजीवी ने एक अलग ही रास्ता अख्तियार किया है।

दलितों की आर्थिक मुक्ति के लिए डॉ. आंबेडकर द्वारा सुलभ कराए गए आरक्षण को पर्याप्त मानकर दूसरे बुद्धिजीवी जहां जाति उन्मूलन और धर्मान्तरण में अपनी सारी ऊर्जा लगाते रहे हैं, वहीं चन्द्रभान प्रसाद दलितों के लिए भूमि, प्रिंट व इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और निजी व स्वायत्त संस्थाओं में प्रतिनिधित्व का मुद्दा खड़ा करने में निरंतर जुटे रहे। संयोग से उन्हें पिछले दिनों अमेरिकन डाइवर्सिटी का फार्मूला हाथ लग गया, जिसे वे अपने कुछ साथियों को लेकर भारत में लागू करवाने की दिशा में प्रयासरत हैं। जिस डाइवर्सिटी ने अमेरिकी दलितों (रेड इंडियन, हिस्पैनिक्स और कालों) के जीवन में आश्चर्यजनक बदलाव ला दिया है, उसका प्रयोग फिलहाल भारत के मध्य प्रदेश राज्य में जारी है। यदि मध्य प्रदेश में डाइवर्सिटी का फार्मूला सफल हो जाता है तो निश्चय ही उसके झंझावाती परिणाम सामने आएंगे।

वास्तव में अमेरिकी डाइवर्सिटी का मध्य प्रदेश में सफल प्रयोग एक नई क्रांति का सूत्रपात कर सकता है। क्योंकि क्रांति की एक प्रमुख शर्त, जिसका नाम 'एस्पिरेशन' है, उसे दलितों में पैदा करने में सक्षम है डायवर्सिटी। वह इसलिए कि दलित जिस वर्णव्यवस्था के शिकार हैं और जिस भूमंडलीकरण के जरिये अल्पजन समाज इन्हें बदहाल करने का चक्रान्त कर रहा है, उससे निजात डाइवर्सिटी ही दिला सकती है।

जिस वर्ण-व्यवस्था को दुनिया के तमाम समाजशास्त्री दलितों की दुर्दशा का मूल कारण मानते हैं, वह मूलत: एक वितरण व्यवस्था रही है जिसमें राष्ट्र के संसाधनों व लाभकारी पेशे विभिन्न जाति/वर्णो को वितरित किए गए हैं। इस वितरण-व्यवस्था में शिक्षा, भूस्वामित्व, शासन-प्रशासन, व्यवसाय-वाणिज्य के अधिकार दलितों को बिल्कुल ही नहीं मिले। दलितों को वितरित हुए निम्नकोटि के घृणित व अलाभकारी पेशे एवं उच्चतर वर्णों की सेवा, वह भी पारिश्रमिक रहित। वैसे तो हजारों साल बाद शिक्षा का अधिकार अंग्रेजों के सौजन्य से दलितों को मिला, पर वर्णवादी वितरण-व्यवस्था के अन्याय से निजात डॉ. आंबेडकर ने दिलाया। अपने बौद्धिक संघर्षों के द्वारा संविधान में डॉ. आंबेडकर ने जो प्रावधान दिया उससे दलितों को डाक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर, आईएएस, पीसीएस, राजनेता इत्यादि बनने का मार्ग सुगम हुआ। आज इस रास्ते को बन्द करने के लिए अल्पजन समाज के चालाक लोग भारत में उदारीकरण के माध्यम से निजीकरण की बाढ़ लाने पर आमादा हैं। वे इसीलिए राष्ट्र की सुरक्षा से जुड़े लाभजनक सरकारी उपक्रमों तक को औने-पौने दामों पर बेचने की जुगत भिड़ा रहे हैं। वे देश में दंगे करा कर सत्ता दखल इसीलिए करना चाहते हैं कि आरक्षित वर्ग का सफाया हो जाए। जिस दिन उनका लक्ष्य पूरा हो जाएगा उस दिन जिन अल्पजनों का भूमि, फिल्म, टी.वी मीडिया, व्यवसाय-उद्योग, संस्थाओं पर एकाधिकार है, उनका सेवा क्षेत्र में भी एकधिकार हो जाएगा। तब भूमिहीन, शिक्षाहीन, व्यवसायहीन दलित समाज का क्या होगा, यह प्रश्न ही चन्द्रभान प्रसाद और उनके साथियों को परेशान कर रहा है और जिसका समाधान उन्हें मात्र डायवर्सिटी में नजर आ रहा है।

अमेरिका में डायवर्सिटी लागू होने के पूर्व वहां के दलितों की स्थिति भारत के दलितों की जैसी ही थी। लेकिन डायवर्सिटी लागू होने के बाद सरकारी व निजी संस्थाओं में नौकरी के साथ-साथ उनके संख्यानुपात में वस्तुओं की सप्लाई और उत्पादों की डीलरशीप में प्रधिनिधित्व मिलने से उनके आर्थिक जीवन में व्यापक बदलाव आया है। आज डायवर्सिटी के सौजन्य से भारी संख्या में उनमें करोड़पति, अरबपति पैदा हो चुके हैं। टी.वी, फिल्म, पत्र-पत्रिकाओं सहित अमेरिका के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिनिधित्व सुलभ हुआ है। इससे न सिर्फ उनकी बेरोजगारी दूर हुई है बल्कि आश्चर्यजनक रूप से उनकी सामाजिक मर्यादा, समृद्धि में वृद्धि हुई है। ऐसी चमत्कारी 'डायवर्सिटी' को मुद्दे के रूप में खड़ा करने की जो कोशिश चन्द्रभान प्रसाद जैसे चिंतक के नेतृत्व मे चल रही है, उससे आकांक्षाहीन दलितों में बेहतर जीवन का 'ऐस्पिरेसन' पैदा होना ही है।

ब्राह्मण आतंकवाद से सावधान

गत वर्ष राष्ट्र गुजरात की भूंकप त्रासदी, तहलका व ताबूत घोटाले एवं इस्लामी आतंकवाद की आग में तो झुलसता ही रहा, वर्ष के अंतिम दिन उसे ब्राह्मण आतंकवाद की धमकी भी सुननी पड़ गई। इस आतंक की धमकी *अखिल भारतीय ब्राह्मण* महासभा की ओर से आई है। 31 दिसंबर, 2001 को महाराजगंज जिले के निचलौल में आयोजित, उक्त महासभा के मंच से, उसके राष्ट्रीय अध्यक्ष ने राष्ट्र को आगाह करते हुए कहा है- *यदि ब्राह्मणों के स्वाभिमान, प्रतिष्ठा व गरिमा पर चोट पहुंचाई गई तो निश्चित ही परशुराम का फरसा उठकर रहेगा।* उन्होंने आरक्षण की जमकर आलोचना करते हुए नारा बुलंद किया है : *आरक्षण हटाओ, देश बचाओ।* महासभा के राष्ट्रीय अध्यक्ष ने भारी क्षोभ के साथ राजनीतिक दलों पर यह आरोप भी लगाया है कि राजनीतिक दल अपने राजनीतिक स्वार्थो के पूर्ति के लिए ब्राह्मणों का उपयोग तो कर लेते हैं, लेकिन ब्राह्मण हित की बात आती है तो सभी पीछे हट जाते हैं। उन्होंने इस बयान को दुर्भाग्यपूर्ण बताया जिसमें कि 19 दिसंबर को प्रधानमंत्री ने कहा है कि आरक्षण हटाने अथवा सवर्णों को आरक्षण देने का कोई औचित्य नहीं है।

इस महासभा में 10 प्रस्ताव भी पारित किए गए। पारित प्रस्तावों में कक्षा 1 से 12 तक संस्कृत अनिवार्य करना, आरक्षण समाप्त करना अथवा गरीब ब्राह्मणों को 10 प्रतिशत आरक्षण दिया जाना। स्नातकोत्तर स्तर पर कर्मकांड विषय की शिक्षा का व्यवस्था करना, पदोन्नति में तत्काल प्रयास से आरक्षण खत्म करना; मेडिकल, इंजिनियरिंग व तकनीकी शिक्षा में धन के अभाव के कारण, विदेश जाकर अध्ययन में वंचित हो रहे सवर्णों को आर्थिक सहायता देना, उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा लागू हरिजन उत्पीड़न धारा को समाप्त करना, विश्वविद्यालयों, डिग्री कॉलेजों में लागू आरक्षण समाप्त करना, नकल अध्यादेश में लगे मुकदमे वापस लेना आदि, शामिल है। शेष में ब्राह्मण महासभा की तरफ से कहा गया है कि यह सोचने का विषय है कि आजादी के 54वें वर्ष बाद, कैसी आवश्यकता आ गई जब ब्राह्मणों को सम्मेलन करना पड़ रहा है।

यह बड़ी हैरानी की बात है फरसा उठाने की धमकी देने के पूर्व ब्राह्मण महासभा को यह ख्याल क्यों आया कि स्वाधीन भारत में ब्राह्मणों का ही राज रहा है। बहुजन समाज के सांसदों/विधायकों की संख्या गरिष्ठता के बावजूद प्रधानमंत्री/मुख्यमंत्री आज भी ब्राह्मण ही हैं। वैदिक काल को छोड़कर ब्राह्मणों का आज जैसा प्रभुत्व कभी नहीं रहा। स्वाधीन भारत में राज्य मुख्यत: इनके ही हित का पोषक रहा है। आलोचना की तमाम बौछार सहकर भी राज्य अगर स्कूलों व विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में संस्कृत, ज्योतिष व कर्मकांड विषय लागू करने जा रहा है तो मात्र ब्राह्मणों के हित में। ब्राह्मणों के गोमांस भक्षण को अगर पुस्तकों से हटाने की कवायद हो रही है तो सिर्फ ब्राह्मणों की महत्ता बनाए रखने के लिए। आप इस

देश के मूल निवासी हैं यह साबित करने के लिए ही यह अभियान चलाया जा रहा है कि आर्य विदेशों से नहीं आए थे। इससे वे अल्पजन से बहुजन में तब्दील हो जाएंगे। फरसा उठाने की हुंकार भरने से पूर्व उन्हें यह भी तो सोचना चाहिए कि उनके पुरखों द्वारा प्रवर्तित वर्ण-व्यवस्था मूलत: एक आरक्षण व्यवस्था के रूप में ही क्रियाशील रही जिसमें सहस्त्रों वर्षों से उच्चमान के तमाम पेशों सहित राजाओं की नकेल तक ब्राह्मणों के हाथ में रखने के अधिकार आरक्षित रहे। और उनकी दिली ख्वाहिश पूरा करने के लिए, सवर्णों के आरक्षण की मांग ठुकराने के बावजूद अटलजी आरक्षण खत्म करने के लिए ही तो अपने गुरुघंटाल ब्राह्मण नरसिंहा राव के बनाए रास्ते पर सरपट भाग रहे हैं। वर्तमान में जबकि शासन-प्रशासन, विश्वविद्यालय- अकादमियों प्रिन्ट व इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, फिल्म, न्यायपालिका इत्यादि में सर्वत्र ही ब्राह्मणों का प्रतिनिधित्व उनकी संख्यानुपात से 15 से 20 गुणा अधिक है, ब्राह्मण महासभा को फरसा उठाने का अल्टीमेटम देने के पूर्व एक बार अवश्य सोच लेना चाहिए था।

दरअसल ब्राह्मण महासभा ने फरसा उठाने की जो धमकी दी है वह समग्र राष्ट्र को लक्ष्य करके नहीं, सिर्फ बहुजन समाज के दलितों को ही लक्ष्य करके दी है। एकमात्र दलित ही हैं जो ब्राह्मणों के स्वाभिमान, प्रतिष्ठा व गरिमा पर वैचारिक चोट कर रहे हैं। बाकी हिंदू समाज के अरण्य के 70 वर्ष के सिंह (क्षत्रिय) आज भी गांवों में दस वर्ष तक के ब्राह्मण बालक को पितातुल्य मानकर आशीर्वाद लेने में संकोच नहीं करते। बनियों और पिछड़ी जातियों की ब्राह्मण-भक्ति का तो कोई सीमा ही नहीं है। अत: कहीं से अगर ब्राह्मण समाज की गरिमा पर चोट लगने की संभावना है तो वह दलित समाज से ही है और इसी समाज के लिए ही उन्होंने फरसा लहराने की सावधानवाणी सुनाई है। ऐसा करके वे चाहते हैं कि दलित अपने साहित्य द्वारा यह न प्रचारित करें कि क्षत्रियों के शस्त्रों के साये में पालित ब्राह्मणों के शास्त्रों के कारण ही भारत सहस्रों वर्षों तक विदेशियों का गुलाम रहा है एवं आज भी उसी कारण अशिक्षा-अज्ञानता, कुसंस्कार, भ्रातृत्वहीनता, अर्थाभाव इत्यादि में विश्व-चैंपियन बना हुआ है। वे यह भी नहीं चाहते कि दलित दुनिया को यह बताएं कि ब्राह्मणों ने वर्ण-व्यवस्था के तहत समाज को कर्म संकरता से बचाए रखने के नाम पर जहां बहुजन समाज को हजारों वर्षों से अध्यापन, राजनीति, सैन्य, व्यवसाय-वाणिज्य इत्यादि पेशों से दूर रखा वहीं वर्ण-संकरता से समाज को मुक्त रखने के लिए विधवा प्रथा, सती प्रथा, बालिका विवाह व अछूत प्रथा इत्यादि को जन्म देकर नारियों और दलितों पर जो जुल्म ढाया है वह बेनजीर है। लेकिन राष्ट्र को कुछ अप्रिय संदेश देने के पूर्व उन्हें यह तो याद रखना ही चाहिए था कि जिन दलितों ने कांशीराम के आमूल सामाजिक परिवर्तन के संदेश से अनुप्राणित होकर देवी-देवताओं की मूर्तियां नदी-तालाबों में डुबोना शुरू कर दिया है वे भू-देवताओं की कितनी परवाह करेंगे। इतना ही नहीं उनकी प्रेरणा से आज दलित परंपरागत शासक जातियों को सत्ता से बेदखल कर बहुजन राज कायम करने का संकल्प ले चुके हैं। कहना नहीं होगा कि दलितों के इस संकल्प से ही, न सिर्फ ब्राह्मणों बल्कि क्षत्रिय व वैश्यों को भी आज अपनी-अपनी जाति की महासभाएं आयोजित करने की आवश्यकता महसूस होने लगी है।

ब्राह्मणवाद के दास : कायस्थ

गत 24 दिसम्बर को गोरखपुर में अनुष्ठित अखिल भारतीय कायस्थ महासभा के 120वें राष्ट्रीय अधिवेशन में उसके राष्ट्रीय अध्यक्ष ने सरकार से मांग की है- *जाति और धर्म के नाम पर आरक्षण समाप्त किया जाय। आरक्षण देश को टुकड़ों और वर्गों में बांटता है और यदि यह इसी तरह चलता रहा तो देश टूट-बिखर जाएगा। अब यह सिद्ध हो गया है कि आरक्षण समस्या का समाधान नहीं है। इस व्यवस्था से समाज को शक्ति नहीं मिलती। शिखर छूने के लिए आरक्षण की बैसाखी की नहीं, बल्कि पैरों में शक्ति की जरूरत होती है....।* आदि-आदि। चूंकि आरक्षण से सम्बंधित उपरोक्त विचार कायस्थ जाति के राष्ट्रीय अध्यक्ष के हैं इसलिए विशेष महत्व के साथ अब इस समस्या पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। वैसे तो जबसे दलितों के बाद पिछड़ों के लिए आरक्षण घोषित हुआ छोटे-मोटे मंचों से अन्यान्य सवर्णों की भांति कायस्थ जाति के लोग भी आरक्षण के विरुद्ध बराबर मुखर रहे हैं। लेकिन पहली बार इस विषय पर उनकी भावना एक बृहत्तर मंच से विस्फोटित हुई है।

वास्तव में उपरोक्त मांग की पृष्ठभूमि में अपने को यमराज के क्लर्क चित्रगुप्त का वंशधर और आधुनिक भारत का नौकरशाह समझने वाली जाति की स्वार्थपरता और अमानवीय सोच का प्रतिबिम्बन हुआ है। अगर ऐसा नहीं होता तो जिस आरक्षण व्यवस्था द्वारा, सदियों से एक विशेष स्वार्थान्ध नरगोष्ठी द्वारा नर-पशु व मानवेतर बनाए गए बहुजन समाज के लाखों लोग, आज राष्ट्र की मुख्यधारा से जुड़ने का अवसर पा रहे हैं, उसे समाप्त करने की मांग कतई नहीं उठाते। आरक्षण के खात्मे की मांग उठाने वालों ने कभी सोचा है कि आखिर आरक्षण की बैसाखी की जरूरत इस देश के बहुजन के लिए राष्ट्र के विवेक ने महसूस ही क्यों की? किसने भारत के बहुसंख्यक मानव समुदाय को इतना पंगु बना दिया कि उसे सहारा देने के लिए बैसाखी थमाने का निर्णय लेना पड़ा?

इस देश के बहुजन समाज को पंगु बनाने के मूल में रही है, हिन्दू शास्त्रों द्वारा थोपी गई आरक्षण व्यवस्था–जिसके अनुसार अंग्रेजी प्रभुत्व पूर्ण रूप से कायम होने के पूर्व तक, यह हिन्दू समाज परिचालित होता रहा है। सहस्त्रों जातियों में बंटे हिन्दू-समाज में वृत्ति व कर्म जन्मानुसार जाति विशेष के लिए आरक्षित रहा है। सिर्फ वृत्ति ही क्यों दण्ड व्यवस्था भी जन्मानुसार जातियों के लिए विशेष-विशेष मात्रा में आरक्षित रही। एक ही अपराध के लिए सभी जातियों के लिए एक समान दण्ड की व्यवस्था तो अंग्रेजों ने आई.पी.सी. के द्वारा निर्धारित की। खैर जो हो, हिन्दू जाति व्यवस्था द्वारा जो भारत, एक समाज न बनकर सहस्त्रों टुकड़ों में पहले ही से बंटा है, उस भारत को आरक्षण से टूट-बिखर जाने की आंशका व्यक्त करने वाला कलमवीर कायस्थ समाज, अगर अपने विवेक का इस्तेमाल कर, हिन्दू समाज की सदियों से चली आ रही आरक्षण व्यवस्था का गहराई से अध्ययन करे तो उसे आधुनिक आरक्षण का

औचित्य समझ में आ जायेगा। हिन्दू आरक्षण व्यवस्था के कारण, बौद्ध काल छोड़कर, साढ़े तीन हजार वर्ष पूर्व के वैदिक युग से लेकर विगत डेढ़ सौ वर्ष पूर्व तक बहुजन समाज को न तो भू स्वामित्व और न ही शिक्षा का अधिकार रहा। राज्य संचालन, सैन्य वृत्ति व व्यवसाय-वाणिज्य तो उसके लिए आकाश कुसुम ही रहा। परिणतिस्वरूप जो होना चाहिए वही हुआ। स्वाधीन भारत ने अपनी 85% बहुजन संतानों को प्राय: भूमिहीन, शिक्षाहीन, कुसंस्कार युक्त आधुनिक सभ्यता के कलंक के रूप में विद्यमान पाया। हिन्दू आरक्षण व्यवस्था ने बहुजन समाज को इतना पंगु बना दिया था कि आधुनिक सभ्यता तो दूर, विश्व के दरिद्रतम देशों में एक भारत के मुख्यधारा के समाज के साथ, ताल से ताल मिलाकर चलने की इसकी कोई क्षमता ही नहीं थी। फलत: आधुनिक भारत के संविधान रचयिता डॉ. आंबेडकर के सामने प्राचीन भारत की आरक्षण व्यवस्था को उलटने से भिन्न कोई उपाय नहीं था। बाबा साहेब द्वारा प्रवर्तित आरक्षण किसी की दान-दक्षिणा नहीं प्रतिनिधित्व से सम्मानित है।

किन्तु जिस लक्ष्य को ध्यान में रखकर राष्ट्र ने बहुजनों को आरक्षण की बैसाखी थमायी क्या वह लक्ष्य पूरा हुआ? कायस्थों के 24वें राष्ट्रीय अधिवेशन में पूर्व केन्द्रीय राज्य मंत्री कायस्थनंदन सुबोधकान्त सहाय ने कहा है– *सरकार किसी की भी हो, चलाने के लिए कायस्थ समाज का सहारा लेना ही पड़ता है।* अर्थात् नौकरशाह लाला ही होंगे। पूरा देश जानता है कि भारत को बरबाद राजनेताओं और नौकरशाहों ने किया है। ऐसे में अगर आरक्षण की बैसाखी पाकर भी बहुजन समाज राष्ट्र की मुख्यधारा से मीलों दूर है तो क्या उसके लिए खुद कायस्थ समाज काफी हद तक जिम्मेवार नहीं है?

समता, स्वाधीनता व भ्रातृत्वहीनता की विशेषताओं से युक्त हिन्दू जाति-समाज की सोच की सरिता स्वजाति के मध्य ही प्रवाहित रहती है और इसके सदस्यों में सर्व वर्ग की चेतना बिल्कुल ही नहीं रहती। इसलिए बड़े-बड़े हिन्दू महापुरुषों की चेतना स्वाजाति परिधि से विमुक्त होकर राष्ट्रीय हित को स्पर्श न कर सकी। कायस्थ जाति भी उसका अपवाद नहीं रही। सुख-समृद्धि के लिहाज से औसत भारतीयों से बहुत बेहतर स्थिति में होकर भी स्वजाति सोच के कारण, कलम की धनी कायस्थ जाति राष्ट्र की चिन्ता न कर आज भी अपने समाज की उपेक्षा का रोना रो रही है। उनके सद्य: अनुष्ठित अधिवेशन में भी यह रुदन सुनाई पड़ा। सुबोधकान्त सहाय जैसे व्यक्ति ने उक्त सम्मेलन में कायस्थ समाज की उपेक्षा के प्रति सहमति जताई है।

लेकिन आर्थिक व शैक्षणिक दृष्टि से पर्याप्त सक्षम कायस्थ जाति की सामाजिक उपेक्षा क्यों, इस पर क्या कायस्थ चिन्तन मनन करते हैं? कायस्थ जाति की यह सामाजिक उपेक्षा हिन्दू समाज की आरक्षण व्यवस्था के कारण ही है। उन्हें यह सत्य याद रखना होगा कि भारत की जाति-व्यवस्था में सामाजिक मर्यादा का आधार उपलब्धि नहीं, जाति विशेष में जन्म है और कायस्थ मूलत: शूद्र होते हैं जिन्हें ब्राह्मण व क्षत्रिय बराबर की मर्यादा नहीं दे सकते। यही कारण है शिकागो विश्व धर्म सम्मेलन से कायस्थ शिरोमणि स्वामी विवेकानंद के विश्व चैम्पियन बनने के उपलक्ष्य में आयोजित एक सभा की अध्यक्षता करने के लिए, जब

कलकत्ता के तत्कालीन मुख्य न्यायधीश ब्राह्मण सन्तान सर गुरुदास बन्दोपाध्याय को आमंत्रित किया गया तो उन्होंने यह कहकर अध्यक्षता करने से इन्कार कर दिया कि वे एक शूद्र का सम्मान नहीं कर सकते। इतना ही नहीं उन्होंने विवेकानंद के मरणोपरान्त कहा था– *भारत में यदि होता कोई हिन्दू राजा विवेकानन्द को फांसी के फंदे पर लटका दिया जाता। क्योंकि एक शूद्र को सन्यासी होने और आध्यात्मानुशीलन का कोई अधिकार नहीं है।* यही नहीं जीवितावस्था में शूद्र होने के कारण विवेकानंद को सन्यासी मठों में ब्राह्मणों की पंक्ति में बैठकर भोजन करने नहीं दिया जाता था। *शूद्र संतान होने के कारण धर्म शास्त्र पढ़ने का उन्हें कोई अधिकार नहीं, अधिकार नहीं दण्डी सन्यासी होने का* – यह विवेकानन्द के विरुद्ध तत्कालीन ब्राह्मणों का अभियोग था। कायस्थ विवेकानन्द हिन्दू आरक्षण व्यवस्था के कारण ब्राह्मणों द्वारा आजीवन चरम अपमानित होने के बावजूद ब्राह्मणों के दास बने रहे। उन्हीं की तरह कायस्थ राजेन्द्र प्रसाद राष्ट्रपति बनकर भी साधु-सन्तों और ब्राह्मणों का पैर छूते रहे मगर उन्होंने कभी हिन्दू आरक्षण व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिवाद नहीं किया।

ऐसा नहीं कि सभी कायस्थ प्रतिभाधर हिन्दू आरक्षण व्यवस्था के प्रति चुप्पी साधे रहे। इसी कायस्थ जाति में माइकल मधुसूदन दत्त भी हुए जिन्हें कविगुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर ने प्रतिभा के मामले में अपने से भी श्रेष्ठ माना था। किन्तु वे मधुसूदन दत्त हिन्दू आरक्षण व्यवस्था को चुपचाप सहन न कर सके। पहले प्रतिवाद और परवर्तीकाल में हिन्दू-धर्म का ही परित्याग कर दिए। मगर उनके बाद दूसरे कायस्थ प्रतिभाधरों में वह साहस न रहा। एक से एक प्रतिभावान कायस्थ भारत में जन्मे और बड़ी-बड़ी उपलब्धियां हासिल किये मगर इनमें मानवीय समता की भूख नहीं रही। प्रेमचन्द, फिराक गोरखपुरी, महादेवी वर्मा, हरिवंश राय बच्चन जैसे कलमवीर, जयप्रकाश नारायण जैसे राजनीतिक, अभिताभ बच्चन, शत्रुघ्न सिन्हा जैसे अभिनेताओं ने अपनी उपलब्धियों से लोगों को विस्मित जरूर किया पर रहे ब्राह्मणवाद के दास ही। कायस्थों की वर्तमान पीढ़ी में अगर मानवीय समता की भूख तीव्रतर हुई है तो बहुजन समाज के आरक्षण के विरुद्ध ऊर्जा न व्यय करके उस ऊर्जा को उन्हें उस कारण के विध्वंस में नियोजित करनी चाहिए जिसने भारत में मानवीय समता का द्वार रुद्ध कर रखा है; जिसके कारण हर तरह से योग्य होते हुए कायस्थ भी सामाजिक मर्यादा में कंगाल ब्राह्मण-क्षत्रिय तक के बराबर नहीं हो सकते।

क्षत्रिय आतंकवाद की शिकार : फूलन

हिन्दू जन-अरण्य के बर्बर सिंहों (क्षत्रियों) के जबड़ों से निकलकर बीहड़ों में शेरनी की भांति विचरण करने के बाद संसद में पहुंची फूलन देवी अंततः एक हिन्दू सिंह की शिकार हो ही गई। इस सिंह ने मक्कारी में गीदड़ों को भी मात देते हुए, देश की राजधानी के अतिविशिष्ट इलाके में गोली मार कर फूलन की हत्या कर दी। 25 जुलाई की दोपहर जिस किसी ने भी फूलन हत्याकांड की खबर सुनी, उसने हत्याकांड का सूत्र 14 फरवरी, 1981 को घटित बेहमई हत्याकांड से जोड़ लिया। और 28 जुलाई के अखबारों में जब शेर सिंह राणा का बयान प्रकाशित हुआ तब देखा गया कि लोगों का कयास सही था। क्या फूलन हत्याकांड के बाद पूरा का पूरा भारतीय समाज शर्लाक होम्स की भूमिका में अवतरित हो गया था ? नहीं। सहस्रों भागों में बंटे भारतीय समाज का एक सदस्य होने के नाते, हिन्दू वर्ण-व्यवस्था की विभिन्न प्रजाति के मनुष्यों के पारंपरिक चरित्र से अवगत होने के कारण ही लोगों ने इस हत्याकांड का सूत्र बेहमई कांड से जोड़ने की कोशिश किया और वे सफल रहे।

वास्तव में फूलन हत्याकांड ने मानसिक रूप से बीमार हिन्दू समाज के क्षत्रियों के भयंकर मनोरोग को नये सिर से उजागर कर दिया है। सभ्यता पथ पर यात्रा करते हुए 21वीं सदी में पहुंचे मानव समाजों के मध्य क्षत्रिय समाज आज भी अपने आपको अतिविशिष्ट प्रजाति का मनुष्य मानने का भ्रम लिये जी रहा है। इसकी यह सोच सदियों से भारत समाज को समता, स्वाधीनता और बन्धुत्व का कंगाल बनाने में अहम भूमिका अदा करती रही है। ऐसे में वर्तमान में भी ऐसी सोच का बने रहना समाज के लिए चिन्ता का विषय है। इस पर राष्ट्र को चिन्तन करना चाहिए था। पर, अफसोस कि फूलन हत्याकांड से उजागर हुई एक समाज की भयंकर मानसिक बीमारी को राष्ट्र नजरअंदाज कर गया। राष्ट्र के कर्णधारों व बुद्धिजीवियों को बस यही लग रहा है कि इस हत्याकांड ने अतिविशिष्ट व्यक्तियों की सुरक्षा व्यवस्था पर ढेर सारे सवाल खड़े कर दिए हैं। अफसोस कि मुलायम सिंह यादव जैसे सामाजिक न्याय के एक बड़े प्रवक्ता भी बुद्धिजीवियों से भिन्न राय न व्यक्त कर सके। उन्होंने भी उनके सुर में सुर मिलाते कह दिया है कि दिल्ली के अतिविशिष्ट क्षेत्र में जिस तरह सांसद फूलन देवी की निर्मम हत्या हुई है उसके बाद इस देश में अब कोई सुरक्षित नहीं रह गया है। हालांकि फूलन हत्याकांड ने अतिविशिष्ट लोगों तक की सुरक्षा पर गहरे सवाल जरूर खड़े कर दिए हैं लेकिन इस हत्याकांड ने क्या राष्ट्र को प्रधानतः यह संदेश दिया है देश में आम नागरिक का जीवन सुरक्षित नहीं है ? या यह कि हिन्दू वर्ण-व्यवस्था में सहस्रों वर्षों से जिन बहुजनों को हिन्दू-शास्त्रों के षड्यन्त्र द्वारा हथियार स्पर्श से दूर रखकर गीदड़ बना दिया गया है, वे यदि गीदड़पना छोड़ कर शेर बनने की कोशिश करेंगे तो उनका जीवन इस समाज के जन्मजात शेर सिंह सुरक्षित नहीं रहने देंगे?

हिन्दू समाज में ब्राह्मण और क्षत्रिय प्रजाति के मनुष्यों की छवि क्रमशः पंडित और सिंह के रूप में स्थापित है। शास्त्रों के विधानों के तहत शिक्षालयों से दूर रखे गए बहुजन समाज के सामने कुछ अक्षर ज्ञान और श्लोकों के उच्चारण में पारंगत ब्राह्मण जहां पंडित के रूप में

भूषित हो गए है वहीं हथियार स्पर्श से निषिद्ध किए गए निहत्थे बहुजनों के बीच तलवार लहराने के शास्त्राधिकारों से सम्पन्न क्षत्रियों को सिंह का दर्प पालने में कभी दिक्कत नहीं हुई। बहुजनों के दिलो-दिमाग में स्थापित अपनी छवि का लाभ उठाने में ब्राह्मण और क्षत्रियों ने कमी कभी नहीं की। शास्त्रधारी पंडित और शस्त्रधारी सिंहों ने सदियों से निरंतर अपने शास्त्रीय अधिकारों का उपयोग कर बहुजन समाज को अन्याय की अतल गहराइयों में गिराए रखा। इनके अन्याय से ही उन्हें उबारने के लिए वर्तमान में सामाजिक न्याय का अभियान चलाया जा रहा है। पंडितों ने अपने से निम्न तीन वर्णों की असंख्य मानव प्रजातियों को लूटने के लिए जहां शास्त्रों को हथियार के रूप में इस्तेमाल किया वही सिंहों ने शस्त्रों का निर्मम इस्तेमाल कर पृथ्वी को वीर भोग्या बना लिया।

हालांकि मानव सभ्यता के इतिहास में ढेरों ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने शस्त्रों के बल पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर पृथ्वी को वीर भोग्या साबित किया। लेकिन पूरे विश्व में सिर्फ भारत में ऐसा हुआ कि मानव की एक विराट प्रजाति में ही यह विश्वास घर कर गया है कि पृथ्वी की तमाम भोग्य वस्तुयें सिर्फ उनके भोग के लिए हैं। ऐसी मानसिकता विकसित होने के कारण ही जंगलों के सबसे हिंस्र पशु की उपाधि लगाकर भारत के क्षत्रिय हिन्दू समाज में विचरण करते रहे हैं। इन्होंने दस वर्ष तक के ब्राह्मणों को भी पिता तुल्य समझकर जरूर सम्मान दिया; पर, बाकी लोगों के साथ इनका सलूक वैसा ही रहा जैसा जंगल के सिंह का शेष पशुओं के साथ रहता है। ब्रिटिश भारत में कानून का राज स्थापित होने के पूर्व जहां सिंह प्रजाति के लोग शूद्र, वैश्यों की उत्पादित संपदा का बर्बरतापूर्वक हरण करते रहे वहीं उनकी बहू-बेटियों की इज्जत सरेआम लूट लेना उनके लिए सामान्य बात रही। आज भी दूर-दराज के ग्रामीण इलाकों में जहां, कानून की पहुंच नहीं है, निम्न जातियों की लड़कियों की इज्जत तार-तार कर देना उनके लिए मामूली-सी बात है। क्षत्रियों की इसी सिंह जैसी वहशी मानसिकता की जबरदस्त शिकार कभी फूलन देवी भी हुई थीं। लेकिन फूलन एक अलग ही धातु की बनी युवती थीं। वे हिन्दू-शास्त्रों द्वारा गीदड़ बनाए समाजों की उन महिलाओं जैसी नहीं थीं जो सिंहों द्वारा बलत्कृत होकर भी खामोश रहती हैं। चूंकि फूलन देवी भिन्न धातु की बनी महिला थीं इसलिए उन्होंने हिन्दू-ईश्वर को भ्रान्त प्रमाणित करते हुए बेहमई के सिंहों के विरुद्ध शेरनी का रूप धारण कर लिया।

14 फरवरी, 1981 को घटित बेहमई काण्ड समाज के 'सिंहों' के दिलों में शूल बन कर धंस गया। उधर फूलन जब बीहड़ों से निकल कर जनता के बीच आईं, हिन्दू वर्ण व्यवस्था में अन्याय का शिकार बने लोगों ने विद्रोही नायिका के रूप में उनका वरण किया। सांसद फूलन *दि रियल रिबेल, बैंडिट क्वीन* जैसी फिल्म और अनेक रचनाओं के माध्यम से ज्यों-ज्यों शोषित जातियों के मसीहा के रूप में विश्वमय प्रचार पाने लगीं, त्यों-त्यों सिंहों के दिलों में फूलन नामक शूल और चुभने लगा। जिन लोगों के लिए इस शूल की चुभन असहनीय हो गई होगी उन लोगों ने फूलन का खात्मा अपने अपने जीवन का मिशन बना लिया। इसे महज संयोग ही मान लेना चाहिए कि असंख्य मिशनरियों की भीड़ में शेर सिंह राणा अपने मिशन में पहले कामयाब हो गया। वह अगर कामयाब नहीं होता तो कल कोई और शेर सिंह कामयाब होता। लेकिन फूलन को तो आज नहीं तो कल मरना ही था। तगड़ी सुरक्षा उनके जीवन को महज कुछ और लंबाई देती लेकिन ऐसे अंत से हमेशा के लिए नहीं बचा पातीं।

दलितों का भावान्तरण

बसपा दलितों की सबसे बड़ी दुश्मन है, ऐसा वही कर सकता है जिसका मानसिक संतुलन गड़बड़ा चुका हो। लेकिन दलित सेनाध्यक्ष पासवान यही कह रहे हैं। अगर उनकी दिमागी सेहत ठीक रहती तो उन्हें पता होता कि आज बसपा, *सिर्फ दलितों की ही नहीं, हिन्दू आरक्षण व्यवस्था में शिक्षा, भू-स्वामित्व, शासन-प्रशासन इत्यादि सहित न्यूनतम मानवीय मर्यादा से भी वंचित की गई, तमाम बहुसंख्यक जातियों की आशा और आकांक्षा की सबसे बड़ी प्रतीक है।* क्योंकि सहस्रों वर्षो से हिन्दू आरक्षण व्यवस्था के माध्यम से उच्च-वर्ण शासक जातियों की गुलामी की जंजीरों में जकड़ी और अत्याचार से विचूर्ण जातियों में बसपा ने एक विराट भावान्तरण घटित कर दिया है। इस भावान्तरण से सहस्रों वर्षो की गुलाम जातियों में न सिर्फ शासक बनने की भावना पैदा हुई है बल्कि सदियों से सिर झुकाकर मार खाने वालों में, मारनेवाले पर पलटकर वार करने का जज्बा भी पैदा हुआ है। पासवान जी को याद होना चाहिए कि इस भावान्तरण से उद्‌भूत परिस्थितियों का मुकाबला करने के लिए ही उन्हें, हिन्दू आरक्षण व्यवस्था में सामाजिक पुलिस की भूमिका अदा करने वाली अग्रसर पिछड़ी जातियों के साथ 1997 के जून में उ.प्र. की राजधानी में, 'हल्ला बोल' रैली में शामिल होना पड़ा था। 'हल्ला बोल रैली' में पासवान के साथ शामिल नेताओं ने हल्ला मचाया था कि दलित बसपा के राज में, सरकारी संरक्षण का लाभ उठाकर, अत्याचार कर रहे हैं। एक भूतपूर्व प्रधानमंत्री ने तो दलितों द्वारा किए जा रहे अत्याचार के विरुद्ध आमरण अनशन की धमकी तक दे डाली थी। बसपा के राज में उन्हीं दिनों देश के एक बहुत मशहूर ब्राह्मण पूर्व मुख्यमंत्री ने उ.प्र. विधानसभा के सामने बाकायदा अनशन भी किया था। उनका भी अभियोग था कि दलित हमारे लोगों को सता रहे हैं। बसपा के राज में सदियों से अत्याचार सहने वाले दलितों में अत्याचार करने का जो जज्बा पैदा हुआ वह भारतवर्ष के राजनैतिक व सामाजिक इतिहास कितनी बड़ी घटना है, इसका आंकलन कोई समाजशास्त्री ही कर सकता है, समसरता का नया राग अलापने वाला पासवान जैसा नेता नहीं।

मगर दलितों में यह ऐतिहासिक भावान्तरण यूं ही रातों-रात नहीं हुआ। यह तो बसपा सुप्रीमों द्वारा लंबे समय तक जारी सामाजिक व सांस्कृतिक आंदोलनों की परिणति है, जिस पर टिप्पणी करते हुए सुप्रसिद्ध दलित बुद्धिजीवी चन्द्रभान प्रसाद ने 4 नवंबर, 1999 को *बसपा एक सामाजिक विद्रोह का दर्पण* नामक अपने आलेख में लिखा था- *बसपा के गठन के बाद दलित समाज में सांस्कृतिक स्तर पर व्यापक परिवर्तन होने लगे। लोगों ने अपने घरों से हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियां, चित्र आदि निकाल कर नदी तालाबों में डुबोना शुरू कर दिया। उनके स्थान पर गौतमबुद्ध, महात्मा फुले, डॉ. आंबेडकर और कांशीराम के चित्र लगाने लगे। इस तरह चुनावों में बसपा जहां एक राजनैतिक पार्टी लगती है। वहीं सामान्य परिस्थितियों में एक सामाजिक व सांस्कृतिक आंदोलन लगती है।*

दरअसल चन्द्रभान जी ने बसपा के जिस सामाजिक व सांस्कृतिक आंदोलन के स्वरूप का खुलासा किया है, वहीं वर्णवादी मानसिकता से पुष्ट राष्ट्रवादियों व धर्म निरपेक्षतावादियों के कुपित होने का प्रधान कारण है। इसलिए आज बसपा सभी वर्णवादियों के निशाने पर है। उसके सांस्कृतिक आंदोलन से प्रेरित दलित साहित्य के विस्तार से भारत के परंपरागत साहित्य पर प्रश्न चिन्ह खड़ा हुआ है, जिससे सवर्ण साहित्यकार बसपा पर कुपित हैं। हिन्दू-देवी देवताओं के तिरस्कार से 'जय श्रीराम' और 'जय श्रीकृष्ण' का नारा बुलंद करने वाले खेमों द्वारा उसकी घेराबन्दी हो रही है। उसके ऐसे आंदोलनों के चलते मार्क्सवादियों को, कई सहस्र भागों में विभाजित भारत के जाति समाज को, विश्व के अन्याय समाजों की तरह गरीब-अमीर की दो श्रेणियों में विभाजन को प्रमाणित करने में मुश्किलें आ रही हैं। लेकिन सब कुछ के बावजूद राष्ट्रवादी, समाजवादी और मार्क्सवादी दल बसपा विरोध में इतना आगे नहीं बढ़े कि पासवान की तरह कहते फिरें, *बसपा दलितों की सबसे बड़ी दुश्मन हैं।*

दलितों के जिस भावान्तरण की पूर्व में चर्चा की गई है, वास्तव में वह इतना कठिन कार्य है कि उस कार्य को संपादित करने का बीड़ा भारतीय इतिहास में किसी ने उठाया ही नहीं। हिन्दू धर्म की वर्ण-व्यवस्था के सौजन्य से भारत के लोग दस सहस्राधिक घृणा व कलहरत मानव समूहों में बंटे हैं। इतना ही नहीं हिन्दू-धर्म के दैवीय सिद्धांत के कारण यहां का शोषित व वंचित नर-समूह दैविक-दास (डिवाइन स्लेव) के रूप में परिणत हो चुका है जिससे उसमें अपनी वर्तमान दुरावस्था से मुक्ति की चाह पैदा नहीं होती। इन दैविक-दासों ने अपने वर्तमान जीवन की वंचना को पूर्व जन्मों का कर्म मानकर, बेहतर जीवन के लिए अगले जन्म पर निर्भर रहना सीख लिया है।

अत: भारत के दैविक-दासों को एकबद्ध कर उनमें विद्रोह की अग्नि प्रज्ज्वलित करना दुनिया का सबसे कठिन काम है और इसी कार्य को करने का बीड़ा बसपा सुप्रीमो ने उठाया है। इस कार्य को संपादित करने के सिलसिले में बसपा सुप्रीमो ने महसूस किया कि सर्वभारतीय स्तर पर एक साथ इस काम को सफलता से अंजाम देना कठिन है। इसलिए उन्होंने उ.प्र. को अपनी प्रयोगशाला बनाया। उनकी सोच है कि उ.प्र. में भावान्तरण अभियान सफल हो जाएगा तो शेष भारत के लोग इससे प्रेरणा लेकर सामाजिक परिवर्तन की दिशा में आगे बढ़ेंगे। ऐसे में अपने प्रयोग के दूरगामी लक्ष्यों को ध्यान में रखकर घोर मनुवादियों के साथ भी हाथ मिलाया। देश की जो परजीवी व अनुत्पादक जातियां शिक्षाहीन, भूमिहीन, दलित व अति पिछड़ी जातियों का शोषण करती रही हैं आज बसपा के अभियान से खौफ में हैं। खौफ में है इसलिए वे हर हाल में बसपा को रोकने पर आमादा हैं। पर सबसे मजेदार बात तो यह है कि बसपा को रोकने के लिए सबसे अगली कतार में दलित सेनाध्यक्ष पासवान ही दिखाई पड़ रहे हैं। ऐसा क्यों ? कहीं ऐसा तो नहीं कि रामभक्तों की सोहबत ने रामविरोधी दलित समाज और उसकी उम्मीद बसपा के विरुद्ध उन्हें विभीषण की भूमिका में अवतीर्ण होने के लिए प्रेरित कर दिया है।

दलित लक्ष्मण की रामभक्ति

हाल के वर्षों में, के.आर. नारायणन की राष्ट्रपति के रूप में ताजपोशी के बाद बंगारु लक्ष्मण का भा.ज.पा. अध्यक्ष के रूप में चयन दलित दृष्टिकोण से एक अन्यतम महत्वपूर्ण घटना है। इसके लिए भा.ज.पा. और बंगारु लक्ष्मण को बहुत-बहुत बधाई। ब्राह्मण, बनियों की पार्टी के रूप में चिह्नित भा.ज.पा. के अध्यक्ष के रूप में एक दलित की ताजपोशी से विस्मित जनसाधारण से लेकर राजनीतिक विश्लेषकों द्वारा आज एक ही आशंका व्यक्त की जा रही है- *क्या बंगारु भा.ज.पा. अध्यक्ष के रूप में अपनी स्वतन्त्र छवि प्रतिष्ठित कर पायेंगे? क्या दलित लक्ष्मण राम के सेवक से भिन्न भूमिका में अवतीर्ण हो पायेंगे या राम-राज्य के निर्माण में मात्र एक यंत्र बनकर रह जाएंगे?*

भा.ज.पा. के नये दलित अध्यक्ष के प्रारम्भिक लक्षण उपरोक्त आशंकाओं का सकारात्मक उत्तर देते नहीं प्रतीत होते। अपनी ताजपोशी के बाद से अध्यक्ष लक्ष्मण ने जो संदेश राष्ट्र को दिए हैं उससे लगता है वह वर्तमान रामराज्य (प्रछन्न) के राम की ही वाणी है। मसलन उन्होंने अध्यक्ष बनते ही यह वक्तव्य जारी कर दिया है कि *दलितों के लिए किसी पार्टी ने अब तक कुछ नहीं किया है।* इस क्रम में विशेषकर कांग्रेस और बसपा का नामोल्लेख करते हुए, उन्होंने प्रछन्न रूप से यह संकेत कर दिया है कि *भाजपा ही दलितों के लिए कुछ कर सकती है लेकिन* केन्द्र और राज्यों में भाजपा सरकारों के दलितों के प्रति शून्य अवदानों को दृष्टिगत रखकर उन्हें ऐसी दायित्वहीन बयानबाजी से बचना चाहिए था। क्या उन्हें यह विदित नहीं है कि कांग्रेस के मंच से ही गांधी जी ने दलितोद्धार की जो ऐतिहासिक भूमिका अदा की है, उससे उनके गुरुजी और पंडितजी का दूर-दूर तक कोई सरोकार नहीं रहा। वैसे तो स्वाधीनोत्तर भारत में मनुवादी सरकारों की, दलितों की दशा में मौलिक परिवर्तन एवं उनके मानवेतरता के कारणों के उच्छेद की आन्तरिकता बिल्कुल ही नहीं रही तथापि दलितों को कुछ राहत दिलाने में इंदिरा गांधी और विशेषकर बाबू जगजीवन राम की एक उल्लेखनीय भूमिका है जिसे नकारा नहीं जा सकता।

कांग्रेस की आलोचना कर जहां उन्होंने दायित्व ज्ञानहीनता का परिचय दिया है, वहीं बसपा के विरुद्ध उनका उद्गार विवेकशून्यता से प्रेरित है। अध्यक्ष बंगारु बसपा की दलितों के हित में क्रान्तिकारी भूमिका को भले ही नज़रअन्दाज कर दें, व्यक्ति बंगारु के लिए वैसा करना कतई मुमकिन नहीं है। यदि आधुनिक भारत के इतिहास के पन्नों पर वे अपनी दृष्टि निक्षेप करने का कष्ट करें तो स्पष्ट विदित होगा कि भारत के प्रथम अनाधिकार प्रवेशकारियों के विरुद्ध जिस उद्देश्य से, अस्पृश्यों ने अंग्रेजों के साथ मिलकर अपने अभियान की 1757 में प्लासी मैदान से शुरुआत और 1818 में कोरेगांव में अन्त किया था, वह उद्देश्य आज तक अधूरा है। प्लासी और कोरेगांव के संग्रामी अतिशूद्रों की भावी पीढ़ी आज भी गुलाम है,

अल्पजनों के शासन और शोषण की चक्की में पूर्ववत पिस रहे हैं। दलितों सह बहुसंख्यक समाज के राहत की जिम्मेवारी शेष राजनीतिक दलों पर छोड़कर, भारत में शासक-शासित की परम्परागत भूमिका में आमूल परिवर्तन घटित करने की दिशा में ही क्रियाशील है बहुजन समाज पार्टी और जहां तक राहत का ही प्रश्न है, सहस्रों वर्षों से सिर्फ मार और मार खाने वाले दलितों के विरुद्ध, मायावती के शासनकाल में हरिजन एक्ट के दुरुपयोग का अभियोग, विधान सभा के समक्ष प्रतिपक्ष का रोदन, विलाप और आमरण अनशन की धमकी किस बात का द्योतक है?

डॉ. आंबेडकर ने कहा था कि *गुलाम को गुलामी का एहसास करा दो, वह गुलामी की जंजीरे तोड़ देगा।* पराधीन भारत में गुलामी का एहसास कराने का जो महती कार्य गांधी जी ने किया था; स्वाधीतोत्तर भारत में समाज के ऋण से मुक्त होने की भावना के उद्बुद्ध दलित साहित्यकारों, कर्मचारियों और विभिन्न आंबेडकरवादी संगठनों को साथ लेकर, वही कार्य कांशीराम कर रहे हैं। सहस्रों वर्षों के शासित गुलामों में अब मानवीय समता और शासक बनने की आकांक्षा पैदा हो रही है। गुलामों को गुलामी का एहसास कराने का कार्य बड़ा ही क्लान्तिकर और धैर्य सापेक्ष अभियान है। इस कार्य में कभी रामविलास पासवान भी निमग्न थे पर वे अब क्लान्त हो कर, गुलामों के ही आकाओं के साथ मिलकर राहत कार्य में जुट गए हैं।

इतिहास में शासक गोष्ठियों के चरित्र का एक वैशिष्ट्य लिपीबद्ध है। वह वैशिष्ट्य है शासित समुदाय की मुक्ति ज्यों-ज्यों सन्निकट आती जाती है त्यों-त्यों शासक गोष्ठियां आत्मरक्षार्थ गुलामी की बेड़ियां ढीली करने के लिए विवश होती हैं। विश्व इतिहास में लिपिबद्ध ढेरों साक्ष्यों के साथ-साथ, अंग्रेज भारत में भी वह चरित्र क्रियाशील रहा है। भारतवासियों में ज्यों-ज्यों अपने दासत्व के एहसास का विस्तार हुआ, अंग्रेजों ने त्यों-त्यों उनके पक्ष में अपने अधिकारों का संकोचन किया है। स्वाधीनोत्तर भारत में शासक मनुवादी पार्टियां इतिहास के इस विवश चरित्र के कारण ही अपने दलों में शूद्रों-अतिशूद्रों की मर्यादा में वृद्धि करती जा रही हैं। मनुवादी दलों में जिन कारणों से कभी दलितों और अल्पसंख्यकों की योग्यताओं की उपेक्षा होती रही, आज वे कारण ही उन्हें जमाई-आदर दिलवाने में सहायक हो रहे हैं।

योग्यता रहते हुए भी जिन्हें दलित होने के कारण (बंगारु के ही कथनानुसार) आज तक यथोचित सम्मान से वंचित रहना पड़ा है, उन्हें इतिहास के वर्तमान सन्धि लग्न ने, जिस किसी भी कारण से सही, जो स्वर्णिम अवसर सुलभ कराया है, उसके सद्व्यवहार के लिए चैतन्य रहना पड़ेगा। बंगारुजी को यह बराबर ध्यान रखना होगा कि गत एक दशक से जाति चेतना के राजनीतिकरण के फलस्वरूप, भारत की अल्पजन शासक जातियों का संसद में कल तक का 50 प्रतिशत से अधिक का प्रतिनिधित्व, भविष्य में प्राय: शून्य पर पहुंचने के पूर्व, वर्तमान में 10-12 प्रतिशत पहुंच गया है। ऐसे में परम्परागत शासक-शासित की भूमिका में, भविष्य में होने जा रहे आमूल परिवर्तनों को दृष्टिगत रख कर, भारत की प्रभु जातियों

ने मानसिक प्रस्तुति लेनी शुरु कर दी है। सहस्रों वर्षों से सिर्फ राजा की भूमिका में रहने के अभ्यस्त भारतीय समाज के 'भू-देवता' और 'सिंह', अब परिवर्तित परिस्थितियों में अपने शोषण को अटूट रखने के लिए, राजा तैयार करने का कौशल सीखने में निमग्न हो गए हैं। आज गांवों में प्रधानी का चुनाव तक जीतने में स्वयं को अक्षम पाकर, प्रभु जातियां अपने संसाधनों को वैसे लोगों को प्रधान बनाने में खर्च करने लगी हैं, जिनका इस्तेमाल वे अपने हित में कर सकें। उच्चतम पर्याय की राजनीति में प्रभु जातियों द्वारा शूद्रों-अतिशूद्रों को इस्तेमाल कर फेंक दिये जाने के ढेरों दृष्टान्त हैं। दीर्घकाल तक अपनी असाधारण योग्यता और अनुभव से कांग्रेस को उपकृत करने वाले बाबू जगजीवन राम क्षमता के उच्चतम शिखर के निकट पहुंच कर भी वंचित कर दिए गए थे। अतीत में प्रभुजातियों के चरित्र और शूद्रों के इस्तेमाल होने की प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर ही, क्षमता के शिखर के निकट पहुंचे दलित लक्ष्मण के प्रति नकारात्मक आशंकाएं व्यक्त की जा रही हैं। जिस हिन्दू ईश्वर ने शूद्रों को शासकीय एवं पांडित्य के गुणों से हीन करार कर सिर्फ दासत्व के गुणों से भूषित किया है, उन्हीं शूद्रों में से अपनी विद्वता, सांगठनिक क्षमता और शासकीय योग्यता द्वारा हिन्दू ईश्वर को भ्रान्त प्रमाणित करने वाले बंगारु लक्ष्मण, अपने प्रति व्यक्त की जा रही नकारात्मक आशंकाओं को भी भ्रान्त प्रमाणित करेंगे ऐसी प्रत्याशा दलितों की रहेगी।

और अन्त में, बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर के महापरिनिर्वाण दिवस 6 दिसम्बर को बाबरी मस्जिद ध्वंस और बुद्ध पूर्णिमा के दिन पोखरण में परमाणु बम परीक्षण की पृष्ठभूमि में अगर भाजपा का कोई निहित उद्देश्य था तो नागपुर में नियमित रूप से घंटों पूजा-पाठ में व्यस्त रहने वाले एक दलित की भाजपा अध्यक्ष के रूप में ताजपोशी भी, उससे मुक्त नहीं है। आज दलितों की सबसे पुण्यभूमि के रूप में परिणत नागपुर की दीक्षाभूमि से ही 14 अक्टूबर 1956 को डॉ. आंबेडकर ने दलितों की मानवेतरता मोचन का महामन्त्र *हिन्दू-धर्म का परित्याग,* विघोषित किया था। कहीं हिन्दू धर्म से विमुक्त होते दलितों को, हिन्दुत्व से वियुक्त करने के संत संकल्प से ही तो दलित बंगारु लक्ष्मण की ताजपोशी के लिए नागपुर का चयन नहीं किया गया है ?

इस्तेमाल होने के बाद, आई समाज की याद

यह मेरे विरुद्ध एक षडयंत्र है। दलित होने के नाते ही मुझे फँसाया जा रहा है। लोगों को यह बर्दाश्त नहीं हो रहा है कि भारतीय जनता पार्टी जैसे बड़े दल का अध्यक्ष पद कोई दलित संभाले। पार्टी अध्यक्ष इतने बड़े संकट में फंस जाए और पार्टी के नेता बचाव करने की बजाय सवाल करने लगे तो मन में संदेह होगा ही। यह वक्तव्य तहलका डॉट कॉम मामले के प्रकाश में आने के बाद, भाजपा के अध्यक्ष पद से बेआबरू होकर हटे, अस्पृश्य नेता बंगारू लक्ष्मण का है। उन्होंने उपरोक्त बयान आर.एस.एस. और भाजपा नेताओं द्वारा अपनाए गए रवैये से मर्माहत होकर जारी किया।

तहलका डॉट कॉम द्वारा कथित रक्षा सौदे में दलाली के विषय में अपना नाम उजागर होने के बाद अनिच्छापूर्वक वाजपेयी के कहने पर बंगारूजी ने अध्यक्ष पद से इस्तीफा तो दे दिया लेकिन संघ या भाजपा के तरफ से उन्हें किसी ने क्लीन चिट नहीं दी। संघ सरसंचालक सुदर्शन ने जहां उन्हें संघ की विचारधारा का एक असफल विद्यार्थी करार दे दिया वहीं पार्टी के कई नेताओं ने राज्य सभा से उनकी सदस्यता से इस्तीफे की मांग उठाकर उन्हें हताशा और अपमान की गहराइयों में डुबो दिया है। उनके अपमान की पराकाष्ठा तो उस समय दिखाई पड़ी जब उन्हें 24 मार्च से शुरू हुई भाजपा राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठक में आने से मना कर दिया गया। यह सचमुच उनके साथ अछूत जैसा व्यवहार करने की बात हुई क्योंकि भाजपा की परंपरा के हिसाब से सभी पूर्व अध्यक्षों को कार्यकारिणी की बैठक में मंच पर बिठाया जाता रहा है।

लक्ष्मण को तमाम उपेक्षाओं के बावजूद कार्यकारिणी की बैठक में घोरतर अपमान की संभावना नहीं थी। कारण कि कार्यकारिणी की बैठक के कुछ दिन पूर्व, उनके प्रति संघ और भाजपा के रवैये से क्षुब्ध दलित नेताओं ने भाजपा अनुसूचित जाति/जनजाति मोर्चे की भोपाल में आयोजित प्रशिक्षण शिविर में भारी रोष प्रकट किया था। उन्होंने वहाँ बौद्धिक ज्ञान देने के लिए केंद्र से भेजे गए नेताओं को यह कहकर सुनने से इंकार कर दिया था कि वाजपेयी सरकार और अन्य कई लोगों को बचाने के लिए पार्टी हाईकमान की तरफ से जो तत्परता दिखाई जा रही है उसकी लेशमात्र भी झलक बंगारू के प्रति नहीं दिखाई गई। अखबारों में छपी खबरों के अनुसार अनुसूचित जाति/जनजाति के भाजपाई सांसद इस मसले पर एकजुट होने जा रहे हैं। उन्होंने अब खुलकर कहना शुरू कर दिया है कि भाजपा का दलित प्रेम एक दिखावा है।

ताज्जुब की बात है कि जिस बात को दुनिया अरसे से दुहरा रही है उस बात का एहसास बंगारू और उनके भाजपाई दलित साथियों को आज हो रहा है। भाजपा उच्च वर्णों की पार्टी है। उसमें दलित-पिछड़े व अल्पसंख्यक समुदाय की लोगों के हैसियत घुसपैठिए जैसी है जो सिर्फ इस्तेमाल होने की चीज हैं। उसमें इनका सम्मान तभी तक है जब तक ये उनके लिए उपयोगी हैं। अगर ऐसा नहीं होता बंगारू का इस्तीफा कबूल करने और कार्यकारिणी की बैठक

में उन्हें अछूत की तरह दूर रखने में भारी तत्परता का प्रदर्शन नहीं किया जाता। परिस्थितियों में विचित्र मोड़ आने से तूफान में घिर गए भाजपा के जहाज और उसमें सवार विशिष्ट कर्मचारियों को बचाने के लिए जो असाधारण प्रयास किए जा रहे हैं वही उस जहाज के कप्तान के लिए किए जाते यदि उस कप्तान की कोई उपयोगिता रहती। भाजपाई जहाज के नए कप्तान जना कृष्णामूर्ति तहलका मामले के प्रकाश में आने के संग-संग टी.वी. पर छह इंच की मुस्कान बिखेरने के बाद अब कह रहे हैं कि *निर्दोष प्रमाणित होने के बाद पार्टी हित में बंगारू की सेवाओं का उपयोग किया जाएगा।* क्या वैसा ही पी.एम.ओ. से जुड़े ब्रजेश मिश्र, एन.के.सिंह, रंजन भट्टाचार्य के साथ नहीं किया जा सकता था? जैसा कि शिवसेना के मुखपत्र *सामना* की संपादकीय में लिखा गया है- *न्यायिक जांच पूरी होने तक इन तीनों को प्रधानमंत्री कार्यालय से हट जाना चाहिए।* किंतु भाजपा हाईकमान हटाए कैसे ? वे तीनों तो बंगारू की तरह अस्पृश्य नहीं हैं।

लेकिन भाजपाई दलित नेताओं और स्वयं बंगारू को अपने हाईकमान के रवैये से विस्मित नहीं होना चाहिए। यह तो भाजपा की पुरानी परंपरा है कि दलित-पिछड़ों और अल्पसंख्यकों को इस्तेमाल करो और फेंक दो। क्योंकि उसकी प्रतिबद्धता उच्च वर्णों के लिए है। इसलिए ही तो कल्याण सिंह को इस्तेमाल कर फेंक दिया गया। इस्तेमाल होकर फेंक दिए जाने के बाद ही कल्याण सिंह को भी बंगारू की तरह अपने समाज की याद आई थी। तब उन्होंने भी कहा था **पिछड़ी जाति का होने के कारण ही मेरे साथ ऐसा सलूक हुआ।** उमा भारती को भी कभी-कभी अपने समाज की याद आती है। पर अभी वे इस्तेमाल होने लायक चीज हैं इसलिए उन्हें निकट भविष्य में भी हिंदुत्व का उच्च उद्घोष करते देखा जा सकता है। नकवी और शाहनवाज जैसे योग्य उत्तराधिकारियों के आने बाद सिकंदर बख्त जैसी चर्चित हस्ती को भी गुमनामी की अंधी गलियों में धकेल दिया गया है। शायद कल्याण सिंह और बंगारू लक्ष्मण की तरह उन्हें भी अपने समाज की याद आ रही होगी।

भाजपा के सवर्णवादी चरित्र को देखते हुए दलित समाज ने इस आशा का पोषण नहीं किया था कि अध्यक्ष बनने के बाद परवर्ती चरण में बंगारू लक्ष्मण प्रधानमंत्री बन जाएंगे। हां, एक क्षीण उम्मीद जरूर थी कि भाजपा जैसे बड़े दल के अध्यक्ष पद का कुछ इस्तेमाल वे अपने समाज के हित में करेंगे। क्योंकि अध्यक्ष बन कर उन्होंने दूसरी पार्टियों द्वारा दलितों के हित में किए गए कार्यों को जोर-शोर से नकार दिया था। लेकिन वे तो इकतरफा इस्तेमाल हो कर रह गए। उन्होंने मनुवादी भाजपा को यह कहने का, **हमने एक दलित को पार्टी के शीर्ष स्थान पर बिठाया है,** मौका तो दे दिया लेकिन उस पद का ठोस इस्तेमाल समाज के लिए न कर सके। वे चाहते तो जैसे बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर ने कांग्रेस का या मा. कांशीराम ने भाजपा का इस्तेमाल अपने समाज के वृहत्तर हित में किया था वैसा कर सकते थे। लेकिन डॉ. आंबेडकर या कांशीराम की भांति दूसरे दलों का इस्तेमाल करने के लिए महज राजनीतिक चातुर्य ही नहीं अपने समाज के प्रति गहरी प्रतिबद्धता भी चाहिए जो बंगारू में शायद नहीं है। और वे राजनीति के खिलाड़ी तक भी नहीं है। वे तो बस अनाड़ी हैं। जिस देश में राष्ट्रपति को छोड़कर (इसलिए कि वे राष्ट्रपति हैं) सभी चोर और भ्रष्ट हैं, उन चोरों और भ्रष्टाचारियों को दूसरे को भ्रष्ट कहने का मौका तो कोई अनाड़ी ही देगा।

बहुजन एकता के ध्वंस का कार्ड

एक लंबे अरसे से सामाजिक न्याय को कुचल कर सामाजिक समरसता कायम करने में जुटी भाजपा के एक मुख्यमंत्री द्वारा बिना किसी पूर्व-प्रस्तुति के, आकस्मिक तौर पर *सामाजिक न्याय समिति* के गठन ने बहुजन समाज के बुद्धिजीवियों को न सिर्फ हतप्रभ बल्कि दिग्भ्रांत भी कर दिया है। अधिकांश दलित बुद्धिजीवियों को आशंका हो रही है कि इससे बहुजन-एकता में दरार आएगी। फलत: हिंदू राज के खात्मे व बहुजन राज की स्थापना के वृहत्तर उद्देश्य से भ्रातृत्वहीन भारतीय समाज के हिंदू-आरक्षण व्यवस्था (वर्ण-व्यवस्था विश्व की प्राचीनतम आरक्षण व्यवस्था ही है) के शोषितों व वंचितों को भ्रातृत्व के बंधन में बांधने का जो अभियान बौद्धोत्तर भारत में पहली बार मा.कांशीराम ने शुरू किया है, वह कुछेक साल पीछे चला जाएगा। उनकी यह चिंता स्वाभाविक है।

किसी विद्वान ने कहा है कि समस्त मानव संबंधों के बंधन दो प्रकार के हैं- प्रेम और घृणा के। भारत का मानव समूह चार वर्णों तथा सहस्रों जातियों में विभक्त है जो विश्व का अपने आपमें एक विरल विभाजन है। विश्व में अन्यत्र जहां श्रेणी समाज हैं वहीं भारत का समाज जाति समाज है। प्रधानत: अमीर-गरीब की दो श्रेणियों में विभाजित, श्रेणी समाजों के मानव समूहों में जहां प्रेम व प्रतिस्पर्धा का भाव विद्यमान रहता है वहीं भारत के हजारों मानव समूहों का संबंध द्वेष व शत्रुता पर टिका है। इसलिए यहां ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रातिशूद्रों के मध्य जो परस्पर भाव क्रियाशील दिखाई पड़ता है, वह घृणा व वैमनस्यता से भिन्न कुछ और नहीं है। यहां घृणा व शत्रुता का भाव इतने तीव्र रूप में क्रियाशील रहता है कि सिर्फ भिन्न जातियां ही परस्पर घृणा व दुश्मनी से लबरेज नहीं रहतीं बल्कि वे निज जाति की विभिन्न उपजातियों के प्रति भी सहज मानवीय प्रेम प्रदर्शित करने में विफल रहती हैं। अत: जिस समाज की बुनियाद ही परस्पर घृणा व दुश्मनी की चट्टान पर टिकी हो, उसमें भ्रातृत्व की दूब कैसे जमेगी? ऐसे भारतीय समाज में बंधुत्व स्थापना को असंभव मान कर, कंगाल भारतवर्ष को भ्रातृत्व से समृद्ध करने की जहमत किसी ने नहीं उठाई। इसलिए हम देखते हैं कि बहुत से संत, महात्मा, महामानव आए और गए पर भारत को भ्रातृत्व के बंधन में बांधने के झमेले में नहीं पड़े। अगर पड़े भी तो इस मिशन में बुरी तरह विफल रहे। यह असंभव कार्य करने का बीड़ा कांशीराम जैसी एक जुनूनी शख्सियत ने ही उठाया। क्योंकि उनका लक्ष्य सामाजिक अन्याय का शिकार बनी जातियों को शासक बना कर आरक्षणदाता की भूमिका में विकसित करना था जिसके लिए इन जातियों में भाईचारा स्थापित करना उन्होंने अपना प्राथमिक कार्य समझा था।

शास्त्र व शस्त्रधारी जिन दो मानव जातियों की सम्मिलित साजिश से भारत में सामाजिक अन्याय का विश्व में बेनजीर इतिहास रचा गया है उन्हीं में से एक शस्त्रधारी

प्रजाति के सुयोग्य उत्तराधिकारी राजनाथ सिंह भारत के जाति समाज के चरित्र और कांशीराम के इरादों से भलीभांति वाकिफ थे। वाकिफ थे इसीलिए उन्होंने पिछड़ों व दलितों के आरक्षण में आरक्षण लागू करने की परिकल्पना की। उन्हें यह मालूम है कि हिंदू-धर्म द्वारा, अन्यान्य हिंदुओं की तरह ही घृणा और दुश्मनी की मानसिकता में ढला पिछड़ों-दलितों का अग्रसर तबका आरक्षण (जो अब लुप्तप्राय है) की सुविधा से थोड़ा वंचित हो कर अपने ही अनग्रसर भाइयों के प्रति शत्रुभावापन्न हो जाएगा। परिणामस्वरूप जिन अल्पजन शोषक-शासक जातियों के प्रति भाजपा की प्रतिबद्धता है, उन्हें बहुजन एकता के खतरे से सहज ही निजात मिल जाएगी।

अपना आरक्षण कार्ड खेलने के बाद राजनाथ सिंह दुगुने जोश में आए गए हैं। कारण कि इन्होंने बहुत ही सुरक्षित कार्ड फेंका है। मंडल-मसीहा वी.पी.सिंह ने मंडल कमीशन लागू कर अल्पजन शासक प्रजातियों को सत्ताइस प्रतिशत मुक्त-भूमि पर विचरण करने की बंदिश लगा दी थी, जिससे उन्हें उनके आक्रोश का शिकार होना पड़ा था। पर, मिनी मंडल के मसीहा ने उनके मुक्त क्षेत्र में कोई हस्तक्षेप नहीं किया है। इससे राजनाथ को अपने सुरक्षित मतदाताओं के तगड़े आशीर्वाद की संभावना अधिक बलवती हो उठी है। इसी से वे दूने जोश में दिख रहे हैं। ऐसे में नया आरक्षण कार्ड फेंक कर उन्होंने बहुजन एकता के समर्पित लोगों को विराट अग्नि परीक्षा के सामने ठेल दिया है और इस एकता को बनाए रखने की जिम्मेवारी कथित अग्रसर दलितों व पिछड़ों पर आन पड़ी है। वर्तमान में यदि बहुजन एकता के लिए समर्पित लोग अगड़े दलित-पिछड़ों को बेहतर ढंग से यह समझाएँ कि आरक्षण के तमाम अवसर सवर्णों द्वारा खिसका कर निजी क्षेत्रों में कर दिए गए हैं तो शायद एकता पर कम आँच आए। पर, लोगों को समझना इतना आसान नहीं है इसलिए बहुजन बुद्धिजीवी चिंतित हैं।

लेकिन राजनाथ के आरक्षण कार्ड से चिंतित लोगों को यह नहीं भूलना चाहिए कि इसके कुछ दूरगामी फायदे भी हैं। निकट भविष्य में सबसे पहला फायदा यह होगा कि बहुजन चेतना व एकता के प्रसार से, संसद व विधानसभाओं में दिन-ब-दिन अपने घटते प्रतिनिधित्व को मेकअप देने के इरादे से, अल्पजन शासक जातियां *महिला आरक्षण बिल* पर जो कवायद कर रही हैं, उस पर विराम लगाने के लिए अब वे बाध्य होंगी। राजनाथ सिंह के आरक्षण कार्ड को स्वीकृति देने के बाद महिला आरक्षण में अलग से आरक्षण देने के मुद्दे पर भाजपा अब और नहीं भाग पाएगी। दूसरी, *सामाजिक न्याय समिति* के गठन की घोषणा के बाद, राष्ट्रीय अखबारों में छपी संपादकीय टिप्पणियाँ और संपादकीय पृष्ठों पर विभिन्न सवर्ण बुद्धिजीवियों के छपे आलेखों और सभा-सेमिनारों से छन कर आई उनकी बातों पर पर जिन्होंने ध्यान दिया होगा उन्हें एक नयी उपलब्धि हुई होगी। प्रभुवर्ग के बुद्धिजीवी जो वर्षों से आरक्षण के खात्मे के लिए कलम चलाते रहे हैं, उन्होंने ही स्वाधीन भारत में पहली बार, अति पिछड़ों और अति दलितों के लिए अलग से आरक्षण की व्यवस्था का समर्थन करके भारतीय समाज में आरक्षण के मानवीय पक्ष को एक स्वर से स्वीकृति प्रदान की है। बहुजन समाज के बुद्धिजीवी आरक्षण को हिंदू-आरक्षण व्यवस्था में अन्याय का शिकार बनी जातियों

के लिए न्याय दिलाने के एक हथियार के रूप में मान्यता दिलाने के लिए निरंतर युक्तियां खड़ी करते रहे हैं। जबकि इक्का-दुक्का सवर्ण बुद्धिजीवियों को छोड़कर बाकी लोग उन युक्तियों को ठुकराते रहे हैं। लेकिन अब सामाजिक न्याय समिति के गठन की घोषणा का एक स्वर से समर्थन कर उन्होंने आरक्षण की उपयोगिता पर मोहर लगा दी है। ऐसे में आज जबकि आरक्षण के अधिकतम अवसर निजी क्षेत्रों में चले जा रहे हैं, कल यदि बहुजन समाज निजी क्षेत्र की नौकरियों में आरक्षण की पुरजोर मांग उठाए तो क्या भाजपा और सवर्ण बुद्धिजीवी उस मांग का समर्थन करने के लिए नैतिक रूप से बाध्य नहीं होंगे?

राजनाथ सिंह की रणनीति के तार

कोई माने या न माने पर यही सत्य प्रतीत होता है कि राजनाथ सिंह ने सामाजिक न्याय की प्रतियोगिता में उतर कर एक भारी जोखिम मोल ले लिया है। सतही तौर पर देखने से उनका आरक्षण कार्ड बहुत सुरक्षित प्रतीत हो रहा है। क्योंकि उत्तर प्रदेश की आगामी विधानसभा चुनाव को ध्यान में रखकर राजनाथ सिंह ने जो पत्ता फेंका है उससे उनके सुरक्षित वोटरों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और बनियों) को जरा भी नुकसान नहीं है। मंडल मसीहा वी.पी.सिंह ने मंडल के जमाने में जो चाल चली थी उससे मेरिट वाली जातियों (सवर्णों) को 27 प्रतिशत अवसरों में अपनी मेरिट का कमाल दिखाने से वंचित हो जाना पड़ा था। पर, मिनी मंडल का मसीहा ने उन्हें रत्ती भर भी कहीं से वंचित नहीं किया है। ऊपर से उन्हें 5 प्रतिशत आरक्षण का स्वप्न भी दिखा दिया है। सर्वोपरि बहुजन समाज की जिस एकता ने सवर्णों की नींद उड़ा दी है। उसमें दरार डाल कर उन्होंने उनको और सुकून पहुंचा दिया है। सचमुच राजनाथ सिंह को इस बात के लिए दाद दी ही जा सकती है कि उनके दल की प्रतिबद्धता जिनके प्रति है उन शासक-शोषक जातियों के लिए उन्होंने ऐसी गोटी बिछाई है कि आगामी विधानसभा चुनाव में उन्हें कुछ भी खोना नहीं पड़ेगा। ऐसे में लगता है कि राजनाथ सिंह ने हर तरह से एक सुरक्षित चाल चली है।

लेकिन ऐसा नहीं है। सामाजिक न्याय दिलाने की उनकी कवायद भाजपा के गले की फांस बन सकती है। ऐसा इसलिए नहीं कि भाजपा का अब तक का इतिहास सामाजिक न्याय विरोधी रहा है। बल्कि इसलिए कि उन्होंने दलित पिछड़ों को सामाजिक अन्याय का इतिहास उजागर करने का मौका दे दिया है। और जब सामाजिक अन्याय के पन्ने उलटे जाएंगे तो पता चलेगा कि भाजपा आज तक न्याय को नहीं सामाजिक अन्याय को ही पुष्टता प्रदान करने में लगी रही है।

सामाजिक न्याय की संस्तुतियां प्रकाशित होने के तत्काल बाद ही राजनाथ सिंह ने वक्तव्य दे डाला कि इसकी संस्तुतियां सामाजिक न्याय और विकास के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन ला देंगी। ऐसा कह कर उन्होंने संकेत देना चाहा था कि पूर्व से चली आ रही आरक्षण व्यवस्था ने ही अति पिछड़ों-अति दलितों के सामाजिक न्याय और विकास को रोक रखा था। यहीं पर भाजपा के बुरी तरह फंसने के खतरे हैं। माना कि दलितों का आरक्षण पचास वर्ष पूर्व से है पर पिछड़ों का तो अभी ठीक से एक दशक भी पूरा नहीं हुआ है। तो क्या आंबेडकर प्रवर्तित आरक्षण ने ही अति दलितों व अति पिछड़ों को सामाजिक अन्याय व पिछड़ेपन की गहरी खाई में ढकेला है? नहीं। साढ़े तीन हजार साल से चली आ रही हिंदू आरक्षण व्यवस्था (वर्ण-व्यवस्था) ही सारे सामाजिक अन्याय का मूल कारण है और इससे निजात दिलाने के लिए ही सामाजिक न्याय का अभियान चलाना पड़ रहा है।

वर्षों से भाजपा जिस हिंदू धर्म और संस्कृति का गौरवोन्नयन करने में जुटी है उसका आधार वर्ण-व्यवस्था रही है। हिंदू-धर्म के पालन का तात्पर्य किसी चीज से है तो वह वर्ण-धर्म है। अर्थात वर्ण-धर्म का पालन ही हिंदू-धर्म का पालन रहा है। इस वर्ण-धर्म का पालन हिंदुओं की कर्म-संकरता और वर्ण-संकरता से बचने पर निर्भर रहा है। वर्ण-व्यवस्था में प्रत्येक कर्म (पेशे) ही विभिन्न वर्णों के लिए निर्दिष्ट रहे हैं, इसके साथ ही कठोरतापूर्वक पेशों की विचलनशीलता (प्रोफेसनल मोबिलीटी) निषिद्ध रही। अर्थात कोई भी अपने जन्मसूत्र से निर्दिष्ट पेशों को छोड़कर दूसरों का पेशा नहीं अपना सकता। पेशों के निर्दिष्ट चरित्र के कारण ही वर्ण-व्यवस्था ने एक आरक्षण व्यवस्था, जिसे हिंदू-आरक्षण व्यवस्था कहना ही ठीक होगा का रूप अख्तियार किए रखा। इस आरक्षण व्यवस्था में शूद्रों (दलितों-पिछड़ों) को, अपनी सेवा वृत्तियों, वह भी प्राय: नि:शुल्क, को छोड़कर सवर्णों के लिए आरक्षित भू-स्वामित्व, अध्ययन-अध्यापन, शासन-प्रशासन, सैन्य, व्यवसाय-वाणिज्य, पशुपालन इत्यादि पेशों में विचरण करना, ब्रिटिश राज के भारत में मजबूती के साथ जमने के पूर्व तक, असंभव रहा। इसी हिंदू-आरक्षण को दृढ़तर करने में भारत के प्राचीन ऋषि-मुनियों से लेकर मध्ययुग के तुलसीदास, शंकराचार्य इत्यादि सहित आधुनिक भारत के हेडगेवार, गोलवलकर, अटल बिहारी, आडवाणी वगैरह जुटे रहे हैं। इसी हिंदू आरक्षण व्यवस्था (वर्ण-व्यवस्था) की सवर्णों के लिए समस्त जातिगत सुलभ कराने की उपयोगिता को दृष्टिगत रखकर, हिंदू धर्म के ध्वंस का बहाना बनाकर, वर्ण-व्यवस्था के खात्मे से गांधीजी हेडगेवार, गोलवलकर, डी.डी. उपाध्याय इत्यादि सदा दूर भागते रहे। दूसरी तरफ हिंदू आरक्षण को ही भारत में सारे सामाजिक अन्याय का जड़ मानने के कारण आंबेडकर ने हिंदू-धर्म के परित्याग का आह्वान किया था।

अत: यह तय है कि जब भाजपा सामाजिक न्याय की प्रतियोगिता में उतर गई है तब बहुजन समाज उस हिंदू-धर्म और संस्कृति को ही, जिसकी उत्तोलक भाजपा है, सामाजिक अन्याय की जड़ प्रमाणित करेगा। इतना ही नहीं बहुजनों को अब और खुल कर ब्राह्मण-क्षत्रियों को सामाजिक अन्यायी प्रमाणित करने का मौका मिलेगा। क्योंकि जिस तरह दक्षिण-अफ्रीका में स्टेनगन की नोंक पर अपने कानूनों को लागू कर गोरों ने कालों पर जुल्म ढाया है उसी तरह भारत में ब्राह्मणों के शास्त्रों और क्षत्रियों के शस्त्रों की जुगलबंदी से ही, हिंदू आरक्षण व्यवस्था के तहत संपूर्ण सामाजिक अन्याय का अध्याय सृष्ट हुआ है।

ऐसे में प्रश्न उदित होता है कि जब बहुजनों द्वारा हिंदू-धर्म-संस्कृति व कथित महान ऋषि-मुनियों के छीछालेदर की संभावना थी तब क्यों भाजपा ने सामाजिक न्याय की प्रतियोगिता में उतरने का जोखिम लिया ? क्या हिंदू-धर्म के नाम आंदोलन चलाने से भाजपा ने खुद को दूर कर लिया है? नहीं। डॉ.हेडगेवार, गोलवलकर, उपाध्यायजी वगैरह के दर्शन से पुष्ट 'संघ' और उसके आनुषंगिक संगठनों को यही भली-भांति मालूम है जब आंदोलन हिंदू-धर्म के नाम पर संगठित होगा तो नेतृत्व स्वत: ब्राह्मणों के हाथ में रहेगा। जैसे कि बहुजन समाज के सांसदों की संख्या गरिष्ठता के बावजूद ब्राह्मण अटल जी के हाथ में नेतृत्व है। वहीं यदि दलित, पिछड़े इत्यादि समाजों के नाम पर आंदोलन होगा तो नेतृत्व से ब्राह्मण दूर

रहेंगे। अतः न तो वर्तमान में और न ही भविष्य में भाजपाई धार्मिक आंदोलनों से दूर रहेंगे। यही कारण है कि एक तरफ जहां राजनाथ सिंह सामाजिक न्याय का अलख जगा रहे हैं, वहीं दूसरी ओर उनके बंधु-संगठन मार्च तक मंदिर आंदोलन को तुंग पर ले जाने की कवायद में जुटे हैं। स्वयं अटल जी भी मार्च तक मंदिर के विषय में कुछ कर गुजरने का अटल इरादा जाहिर कर चुके हैं। जाहिर है कि अटल जी मंदिर निर्माण रोकने का निर्णय तो लेंगे नहीं ? और तो और राजनाथ सिंह खुद भी अपने चिरपरिचित धर्म के हथियार को नहीं भूले हैं। नहीं भूले हैं इसीलिए तो उन्होंने सामाजिक अन्याय के प्रतीक कंठी-माला, रुद्राक्ष, हवन सामग्री, खड़ाऊ पर से व्यापार कर हटा दिया है।

ऐसे में फिर सवाल खड़ा होता है आखिर क्यों भाजपा ने धर्म के सुरक्षित कार्ड के ऊपर जाति को प्रधानता दी है? क्या मात्र उ.प्र. के रास्ते दिल्ली की गद्दी सुरक्षित रखने के लिए? यह निश्चित ही एक अन्यतम कारण है पर, प्रधान नहीं। दरअसल भाजपाई सामाजिक न्याय के तार निजीकरण के परवर्ती चरणों के परिणामों से ठीक उसी तरह जुड़े हुए हैं जैसे उसके वर्तमान शिक्षा प्रणाली और पाठ्यक्रमों में फेरबदल के फैसले के सूत्र भूमंडलीकरण से जुड़े हुए हैं।

एक दशक पूर्व नरसिंह राव और मनमोहन सिंह के जमाने में उदारीकरण का जो दौर शुरू हुआ उसका भाजपा ने जिस आक्रामक अंदाज में विरोध किया था उससे यह उम्मीद बंधी थी कि स्वदेशी की हिमायती भाजपा यदि सत्ता में आएगी तो अवश्य कुछ नये विकल्प ढूंढ़ेगी। व्यवसाय-वाणिज्य में अपारंगत दलित-पिछड़ों को लगा था कि ब्राह्मण नरसिंह राव उदारीकरण के रास्ते आरक्षण पर लात मारने का ही उपक्रम कर रहे हैं। इसलिए भाजपा के आरक्षण विरोधी इतिहास के बावजूद उसके स्वदेशी प्रेम के कारण, अतिरिक्त प्रत्याशा बहुजन समाज को हो चली थी। लोगों ने यह सोच लिया था कि वाजपेयी सरकार, सरकारी उपक्रमों व अन्यान्य उद्योगों को मुक्त व्यापार प्रतियोगिता में टिकाए रखने की दिशा में कुछ बलिष्ठ कदम उठाएगी। पर, वैसा कुछ नहीं हुआ। लोगों ने विस्मय से देखा कि सरकार आंख मूंदकर कई गुने वेग से उदारीकरण के मार्ग पर सरपट भाग रही है। हद तब हो गई जब वाजपेयी सरकार ने विश्व व्यापार संगठन की शर्तों को मानते हुए पिछले वर्ष 714 उत्पादों पर से मात्रात्मक प्रतिबंध हटाने के बाद इस वर्ष के 31 मार्च को शेष बचे 715 उत्पादों पर से आयात संबंधी प्रतिबंध हटा लिए। अब तो उदारीकरण के नाम पर निजीकरण की प्रक्रिया जोरों पर है। विनिवेश के माध्यम से बाल्को सहित दूसरे सरकारी उपक्रम, आम जनता और जनप्रतिनिधियों के विरोध के बावजूद निजी हाथों में बेचे जा रहे हैं। गत् 24 अगस्त को तो विनिवेश राज्यमंत्री अरुण शौरी ने सरकारी उपक्रमों की तीखी आलोचना करते हुए यहां तक कह दिया कि सरकारी उपक्रमों को पुनर्जीवित करने में खर्च करने से बेहतर है कि लोगों को पेयजल मुहैय्या कराया जाए।

आज राजनाथ सिंह जिस सामाजिक न्याय का ढोल पीट रहे हैं उसे दिलाने के सबसे बड़े क्षेत्र ये सरकारी उपक्रम ही रहे हैं। ऐसे उपक्रमों के प्रति विनिवेश मंत्री की विरक्ति और

उनकी विरक्ति के प्रति प्रधानमंत्री की सहमति क्यों? यही नहीं पिछले 31 मार्च को जो 715 उत्पादों पर से मात्रात्मक प्रतिबंध हटाकर निजीकरण को बढ़ावा दिया गया है उसे दो साल तक और टाले रखने का मौके थे पर, सरकार ने वैसा क्यों नहीं किया? इन सारे क्यों का जवाब अंततः दलित बुद्धिजीवियों ने वाजपेयी सरकार के शुरुआती लक्षणों में ही ढूंढ़ लिया था। उन्हें इस बात में कोई शक नहीं रहा कि भाजपा उदारीकरण के रास्ते जल्द से जल्द निजीकरण की बाढ़ ला देना चाहती है ताकि आरक्षित वर्ग का आरक्षण खत्म हो जाए और निजी क्षेत्रों में हिंदू-ईश्वर द्वारा मेरिट से समृद्ध की गई प्रभुजातियां छा जाएं। इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी अनुमान लगा किया था कि न तो निजीकरण की बाढ़ थमने वाली है न ही सरकारी क्षेत्र में पहले की तरह आरक्षण रहने वाला है। ऐसे में उन्होंने मार्क्सवादियों व समाजवादियों की तरह विश्व व्यापार संगठन के पुतले फूंकने में खुद को व्यस्त न रखकर कुछ विकल्प ढूंढना शुरू किया। ऐसे ही बुद्धिजीवियों में एक चंद्रभान प्रसाद ने विचरण किया उस अमेरिका की दुनिया में, जो वर्तमान में आधुनिक सभ्यता-संस्कृति और ज्ञान-विज्ञान का उद्‌गम स्थल है। इस उपक्रम में उन्होंने एक नए अमेरिका की ही खोज कर डाली।

वास्तव में अब तक हम लोग अमेरिका को हॉलीवुड, वर्ल्ड ट्रेड सेंटर की गगनचुंबी इमारतों, सुपर कंप्यूटर इत्यादि बहुचर्चित चीजों के देश के रूप में ही जानते रहे हैं। पर अमेरिका आरक्षण का देश भी हो सकता है, यह चंद्रभान जी के लेखों से पता चला। आरक्षण खत्म करने के इरादे से भाजपा की तरफ से निजीकरण का जो ब्रह्मास्त्र फेंका गया था उसके मुकाबले के लिए भारत के आरक्षित वर्ग की जातियां जिस विकल्प की तलाश कर रही थीं वह अमेरिका में जोर-शोर से लागू है, यह जानकर वे सुखद आश्चर्य में डूबे बिना न रह सकीं। गत् दिसंबर से *पायोनियर* के अपने स्थाई कालम के साथ-साथ *दैनिक भास्कर, राष्ट्रीय सहारा* और विभिन्न सेमिनारों के माध्यम से उन्होंने पूरे राष्ट्र को इस बात से अवगत करा दिया है कि अमेरिकी दलितों (नीग्रो, रेड इंडियन्स, हिस्पैनिक्स इत्यादि) को विविधता कार्यक्रम (डाइवर्सिटी प्रोग्राम) के तहत राष्ट्र के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिनिधित्व मिला हुआ है। राष्ट्र की शांति व समृद्धि को ध्यान में रखकर लोकतंत्र विश्वासी अमेरिकी समाज के प्रभुवर्ग ने रेडियो, टी.वी., फिल्म, पत्रकारिता, शिक्षण संस्थानों इत्यादि सहित सभी निजी क्षेत्र के कल-कारखानों, व्यवसाय-वाणिज्य में उन्हें प्रतिनिधित्व दे रखा है। सरकारी क्षेत्र का तो यह आलम है कि 'नासा' जैसी संवेदनशील व गोपनीय संस्था तक में उन्हें प्रतिनिधित्व दिया गया है। यही नहीं, अमेरिकी दलितों को व्यवसायी बनाने के लिए वहां की निजी व सरकारी संस्थाएं प्रायः एक निश्चित प्रतिशत सामग्रियां उनसे ही खरीदती हैं।

चंद्रभान प्रसाद द्वारा ढूंढ़े गए इन तथ्यों ने हिंदू आरक्षण-व्यवस्था में अन्याय की अतल गहराइयों में धकेली गई जातियों के लिए निजीकरण की मार से बचने की नई-नई दिशाएं खोल दी हैं, इस तथ्य से दूरदर्शी भाजपा नेतृत्व अनजान न रहा। अतः इससे पहले कि निकट भविष्य में संगठित होकर, राष्ट्र के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिनिधित्व हासिल करने के लिए वंचित जातियां आगे बढ़े, कुछ प्रतिरोधात्मक उपाय भाजपा की मजबूरी बन गई है। इसी मजबूरी

के तहत भाजपा के ब्राह्मण मंत्री जोशीजी ने संभवत: 715 वस्तुओं पर से मात्रात्मक प्रतिबंध हटने के एक दिन पहले अर्थात, 30 मार्च को स्कूलों व विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में संस्कृत, ज्योतिर्विज्ञान और पौरोहित्य को शामिल करने के लिए प्रेरित किया। ये विषय हिंदू-धर्म-संस्कृति के वे उपकरण हैं जो सदियों से दलित-पिछड़ों को दैविक-दास (डिवाइन-स्लैव) बना कर, वर्तमान जीवन की दुर्दशा के प्रति विद्रोह न करने में, बहुत कारगर भूमिका अदा करते रहे। इन विषयों को लागू करने के पीछे भाजपा की मंशा लाखों ब्राह्मणों को रोजगार का अवसर सुलभ कराना और प्रशिक्षित स्मार्ट ज्योतिषियों और पुरोहितों को, दलितों-पिछड़ों को दैविक-दास व पुनर्जन्मवादी बनाने के मोर्चे पर तैनात करना था। लेकिन भाजपा नेतृत्व इस मुहिम की सफलता के प्रति पूरी तरह आश्वस्त नहीं था। क्योंकि उसे पता है कि दलित-पिछड़ों में विशेषकर दलितों ने ईश्वर को ही नकारना शुरू कर दिया है। उन्होंने ऐसे पेरियार को नायक मानना शुरू कर दिया है जिनकी शगल में राह चलते-चलते राम की तस्वीरों को पैरों से कुचलना शामिल था। अत: कुछ और उपाय करने की दिशा में भाजपा को अग्रसर होना पड़ा और 28 जून को वह उपाय सामाजिक न्याय समिति के गठन की घोषणा के रूप में सामने आया।

निजीकरण का अध्याय पूरा होने के बाद बहुजन समाज के बचे रहने की एक मात्र पूर्व शर्त होगी भारत में अमेरिका जैसा आरक्षण जिसके लिए आवश्यक होगी केंद्र में आरक्षित जातियों की सत्ता। आरक्षित वर्ग अपना लक्ष्य न पा सके इसके लिए भाजपा नेतृत्व ने उस उ.प्र. में जहां से राष्ट्र की राजनीति की दिशा निर्धारित होती है, आगामी विधानसभा चुनाव का स्वर्णिम अवसर देखकर, आरक्षित वर्ग की एकता को ध्वस्त करने की मुहिम शुरू की है। इसके लिए पिछड़ी व दलित जातियों का विभाजन, बिना किसी न्यायोचित मापदंड का विचार किए, इस निर्लज्जता से किया गया है कि भविष्य में और राजनाथों के अवतरित होने की संभावना बनी रहेगी। राजनाथ सिंह ने कर्नाटक, तमिलनाडु इत्यादि राज्यों की तरह आरक्षण का कोटा न बढ़ाकर, मात्र पुराने कोटे को ही पुनर्विन्यस्त किया है। लेकिन सामाजिक न्याय का शोर इस तरह मचा रहे हैं कि मानो कोई क्रांतिकारी काम कर डाला हो।

पर, क्या उ.प्र. के दलित-पिछड़े राजनाथ सिंह के सामाजिक न्याय के शोर के पीछे भागेंगे या मायावती के निजी क्षेत्रों, सेना, न्यायपालिका, विधानपरिषद, राज्य सभा इत्यादि में आरक्षण के नारों का अनुसरण करेंगे? क्या उ.प्र. में आरक्षण के तुच्छ लाभ-नुकसान पर आरक्षित जातियां अपनी एकता ध्वस्त कर लेगीं या अमेरिका जैसा आरक्षण हासिल करने के लिए और संगठित होंगी? इसका जवाब आने वाला कल ही देगा।

सामाजिक अन्याय का मूल

आरक्षण में आरक्षण की सिफारिश करने वाली बहुचर्चित *सामाजिक न्याय समिति* की बहुवितर्कित रिपोर्ट प्रकाशित हो चुकी है। बहुवितर्कित इसलिए कि 28 जून, 2001 को इस समिति के गठन से लेकर 31 अगस्त, 2001 तक इसकी रिपोर्ट प्रकाशित होने तक इसके उद्देश्यों को लेकर सदा भिन्न मत प्रकट होते रहे। शुरू से लेकर आजतक सपा, बसपा, कांग्रेस, भाकपा, अपना दल इत्यादि पार्टियां इसे वोट की राजनीति से प्रेरित एक ऐसी समिति के रूप में चिन्हित करती रहीं हैं जो राजनाथ सिंह के द्वारा बहुजन समाज को विच्छिन्न करने के उद्देश्य से बनाई गई थी। कुछ बुद्धिजीवी तो इस समिति की तुलना 1991 में हरियाणा के तत्कालीन मुख्यमंत्री हुकुम सिंह के हुकुम से गठित उस गुरुनाम सिंह आयोग से कर रहे हैं जिसने तीन महीने की अल्पावधि में अपनी रिपोर्ट जमा का दिया था एवं जिसकी कार्यवाही को फर्जी और मनगढ़ंत मानकर हाईकोर्ट ने अस्वीकार कर दिया था।

सामाजिक न्याय समिति के गठन से लेकर इसकी सिफारिशों की घोषणा तक में कोई कितना भी मीन-मेख निकाले, इस बात से भाजपा के विरोधी तक भी सहमत हैं कि आरक्षण में आरक्षण लागू होने से अतिपिछड़ों-अतिदलितों को कुछ लाभ जरूर मिलेगा। राजनाथ सिंह सहित पूरे भाजपा परिवार को तो पूरा विश्वास है कि आरक्षण में आरक्षण लागू होने से ही सामाजिक न्याय का सपना पूरा हो सकेगा। इसलिए ही सामाजिक न्याय समिति द्वारा अतिपिछड़े-अतिदलितों के लिए अलग से आरक्षण की सिफारिश (उनके निर्देश पर ही) को एक क्रांतिकारी कदम घोषित करने में राजनाथ सिंह को कोई कुंठा नहीं हुई। रिपोर्ट प्रकाशित होने के कुछेक दिन बाद ही उन्होंने सदर्प घोषणा किया था कि सामाजिक न्याय की संस्तुतियां, सामाजिक न्याय और विकास के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन ला देगी। पर, सामाजिक न्याय और विकास के क्षेत्र में अतिपिछड़ों-अतिदलितों के लिए क्रांतिकारी परिवर्तन सामाजिक न्याय की संस्तुतियां ला देगी, यह घोषणा कर राजनाथ सिंह कहना क्या चाहते हैं ?

क्या वे ऐसा कहकर अबतक चली आ रही आरक्षण व्यवस्था को ही, अतिदलितों-अतिपिछड़ों के सामाजिक न्याय और विकास के क्षेत्र में बाधक नहीं साबित करना चाहते हैं ? अगर उनकी नयी आरक्षण नीति से ही वंचितों को अब सही न्याय मिलने जा रहा है तो अब तक जो दलित-पिछड़े सामाजिक अन्याय का शिकार बने रहे उसके लिए आंबेडकर प्रवर्तित आरक्षण व्यवस्था ही जिम्मेवार है, ऐसा वे इंगित नहीं कर रहे हैं ? वास्तव में राजनाथ सिंह और उनका दल अतिदलितों-अतिपिछड़ों के सामाजिक अन्याय के मूल में आरक्षण की विसंगतियों को ही जिम्मेवार ठहराना चाहते हैं। इसलिए तो जो सवर्ण बुद्धिजीवी अबतक आरक्षण के खात्मे के लिए कलम चलाते रहे हैं उन्होंने भी लिखना शुरू किया है कि *सामाजिक न्याय समिति की संस्तुतियों से आरक्षण की विसंगतियां दूर होंगी और अतिपिछड़ों-दलितों को सामाजिक न्याय मिल सकेगा।*

दरअसल राजनाथ सिंह ने सामाजिक न्याय के क्षेत्र में नया-नया प्रवेश लिया है। पर, उन्हें सामाजिक न्याय का नया मसीहा बनने के पहले सामाजिक अन्याय के स्रोतों का अध्ययन कर लेना चाहिए था। लेकिन लगता है उन्होंने अतिदलितों-अतिपिछड़ों के सामाजिक अन्याय और विकास अवरोधी कारणों का अध्ययन सचमुच ही नहीं किया है। लगता है अचानक कहीं से सामाजिक न्याय का सुहाना ख्याल आ गया और संग-संग उन्होंने सीधे उसका मसीहा बनने की परिकल्पना कर डाली। अगर उन्होंने सामाजिक अन्याय के उद्‌गम को जान लिया होता तो सामाजिक न्याय की मशाल जलाकर जन-जन तक पहुंचने के साथ-ही-साथ रुद्राक्ष, कंठी-माला, हवन सामग्री पर व्यापार कर हटाने की घोषणा नहीं करते। क्योंकि ये सब वस्तुएं सामाजिक अन्याय के अग्निकुंड में ईंधन का काम करती हैं। वे सामाजिक अन्याय के कारणों से भली-भांति अवगत होते तो सामाजिक न्याय के साथ-साथ सामाजिक समरसता का कभी उच्चारण नहीं करते। क्योंकि तब उन्हें पता होता कि सामाजिक न्याय और सामाजिक समरसता दो विपरीत ध्रुव की अवधारणाएं हैं। अगर राजनाथ सिंह सामाजिक अन्याय के स्रोतों को जान गए होते तो अतिदलितों-अतिपिछड़ों के लिए सामाजिक न्याय समिति गठित करने के पूर्व 'हिन्दुइज्म' से जुड़े रहने के लिए खेद प्रकट किए होते।

राजनाथ सिंह को सामाजिक अन्याय के मूलभूत कारणों की जानकारी नहीं है इसलिए वे समझते हैं कि मात्र एक दशक पूर्व शुरू हुए पिछड़ों के लिए आरक्षण की विसंगतियां ही अतिपिछड़ों के अतिपिछड़ेपन का कारण हैं। अन्याय के कारणों की जानकारी अभाव में ही शायद उन्हें लगता होगा कि पिछले पचास वर्षों से जारी आंबेडकरी आरक्षण की त्रुटियों के कारण ही अतिदलित भूमिहीन, शिक्षाहीन और अछूत बनकर म्लान मुख, नतमस्तक होकर भारतीय समाज से दूर पड़े हुए हैं। चमारों को छोड़ ही देते हैं (क्योंकि शायद राजनाथ सिंह जी को लगता है चमार-अहीर, बाबू साहेब-बाबाजी लोगों के बराबर आ गए हैं) अतिदलितों का प्रिन्ट व इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, सिनेमा, उच्च शिक्षण संस्थानों इत्यादि में प्रतिनिधित्व शून्य जैसा है, उसके मूल में भी शायद आरक्षण की विसंगतियां ही हैं, ऐसा उन्हें लगता होगा। आज भी उनके और अटल जी के भाई-बन्धु दलित-अतिदलितों को मंदिर में प्रवेश करने के जुर्म में गोलियों से उड़ा देते हैं; उनकी बहू-बेटियों को बे-आबरू कर देते हैं। दलितों की परछाई से भी दूर भागते हैं। इसकी पृष्ठभूमि में भी सिंहजी को आरक्षण की विसंगतियां ही नजर आती होंगी ?

किसी शायर ने कहा है - *तुमने अच्छा ही किया कर दिया शिकवा मुझसे, मुझको मौका मिला दर्द के इजहार का आज।* पता नहीं मानवीय संवेदना या कुछ भौतिक लाभ से प्रेरित होकर राजनाथ सिंह ने सामाजिक न्याय का वह तान छेड़ दिया है जिससे उनका दल कतराता रहा है। लेकिन ऐसा करके उन्होंने बहुजन समाज को सामाजिक अन्याय का जिक्र करने का अवसर सुलभ करा दिया है। ऐसे में जहां राजनाथ सिंह सामाजिक न्याय का आलाप लेंगे, वहीं बहुजन उनसे सामाजिक अन्याय के मूल कारणों के बारे में पूछेगा। अतः सिंहजी को चाहिए कि भारत में सामाजिक अन्याय के कारणों का खुद अध्ययन करें और अपने सिपहसालारों को भी इसके लिए प्रेरित करें। जब वे भली भांति कारणों का अध्ययन कर लेंगे तो उन्हें विदित हो जाएगा

कि अतिपिछड़ों-अतिदलितों के सामाजिक न्याय और विकास में बाधक उस आरक्षण व्यवस्था की विसंगतियां ही रही हैं जिसका नाम हिन्दू आरक्षण व्यवस्था है।

जी हां, अग्रसर-अनग्रसर सभी दलित-पिछड़े यदि किसी सामाजिक अन्याय का शिकार हैं; यदि राष्ट्र की मुख्यधारा से मीलों दूर है तो उसके मूल में है विश्व की प्राचीनतम आरक्षण व्यवस्था जिसे हिन्दू-वर्ण व्यवस्था उर्फ हिन्दू-आरक्षण व्यवस्था कहते हैं। वास्तव में जो वर्ण-व्यवस्था हिन्दू धर्म का आधार व प्राण है और जिस धर्म के प्रचार-प्रसार में डॉ. हेडगेवार, गोलवलकर, डी.डी. उपाध्याय से लेकर आज के भारत के अटलजी, आडवाणीजी, राजनाथ सिंहजी, उमा भारतीजी, बंगारुजी इत्यादि जैसी बेशुमार हस्तियां समर्पित रहीं हैं, वह प्राचीन आरक्षण व्यवस्था के सिवाय और कुछ है ही नहीं। इस वर्ण-व्यवस्था को हिन्दू धर्म का प्राण मानने के कारण जहां गांधीजी इसके ध्वंस के विरुद्ध रहे वही डॉ. आंबेडकर ने इसे विसंगतिपूर्ण आरक्षण व्यवस्था मानकर हिन्दू-धर्म के परित्याग का निर्देश दिया था। इसलिए सामाजिक न्याय में सच्ची आस्था रखने वाला व्यक्ति हिन्दू धर्म से दूरी बनाये रखना चाहता है।

हिन्दू धर्म का क, ख, ग जानने वालों को भी पता होगा कि वर्ण-धर्म का पालन ही हिन्दू-धर्म का पालन है। वर्ण धर्म में दो शर्तों का पालन निहायत ही जरूरी रहा है। प्रत्येक हिन्दू को कर्म व वर्ण-शुद्ध रहना होगा अर्थात कर्म संकरता और वर्ण संकरता से बच कर रहना होगा। आज कायिक वैशिष्ट्य के आधार पर जाति को नस्ल से भिन्न प्रमाणित करने में सवर्ण बुद्धिजीवी युक्तियां खड़ी कर रहे हैं। पर वर्ण-संकरता अर्थात जाति सम्मिश्रण से बचने के लिए हिन्दू जो अमानवीय कांड घटित करते रहे हैं उसकी मिसाल दुनिया में दुर्लभ है। वर्ण संकरता से निजात पाने के लिए ही शुरू की गई थीं सती, विधवा, बालिका विवाह और अछूत प्रथा जैसी कई प्रथाएं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन के अनुसार सती प्रथा में सवा करोड़ उच्च-वर्ण रमणियों को चिताग्नि में भून कर मार डाला गया है। विधवा प्रथा के तहत कितनों का जिन्दा लाश बना दिया गया होगा; कितनी बच्चियों को बालिका विवाह प्रथा के अंतर्गत बाल्यावस्था से सीधे युवावस्था में उछाल दिया गया होगा। इसका आकलन भिन्न हो सकता है। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि वर्ण शुद्धता की रक्षा के लिए ही हिन्दुओं ने देश की एक चौथाई आबादी को अछूत प्रथा में कैद कर दिया। अगर दलितों को अछूत बना कर कोई अन्याय हिन्दू समाज में अंजाम दिया गया तो क्या उसके लिए आंबेडकरी आरक्षण की विसंगतियां जिम्मेवार हैं ?

लेकिन असली सामाजिक अन्याय तो हिन्दू-धर्म को कर्म-संकरता से बचाने के माध्यम से अंजाम दिया गया जिसके निवारण के लिए वर्षों से कई हस्तियां सामाजिक न्याय का अभियान चला रही हैं। जैसा कि पिछली पंक्तियों में बताया गया है कि वर्ण-धर्म के पालन में वर्ण-शुद्धता के अतिरिक्त कर्म-शुद्धता भी एक आवश्यक शर्त रही है। कर्म-शुद्धता के अंतर्गत विभिन्न जाति/वर्णों के लिए जो पेशे जन्मसूत्र से निर्दिष्ट रहे हैं उसमें किसी भी परिवर्तन की कठोरतापूर्वक मनाही रही। यह सभी को पता है कि वर्ण-व्यवस्था में अध्यापन, पूजा-पाठ, झाड़-फूक, राज्य संचालन में मंत्रणादान इत्यादि कार्य ब्राह्मणों के लिए और राज्य

संचालन, जमींदारी, सैन्य इत्यादि के कार्य क्षत्रियों के लिए जन्म-सूत्र से तय रहे हैं। वहीं वैश्यों के लिए व्यवसाय-वाणिज्य, पशुपालन इत्यादि निर्दिष्ट रहे। उपरोक्त तीन वर्णों के पेशों के अतिरिक्त शेष निम्नमान के कार्यों के साथ, उच्चवर्णों की सेवा, वह भी नि:शुल्क शूद्रों के लिए फिक्स रहा। चूंकि कर्म-संकरता बिल्कुल निषिद्ध रही इसलिए सारे पेशे अपरिवर्तनीय हो गए। ऐसे में शूद्रातिशूद्रों को पुरोहित, अध्यापक, राजा, मन्त्री, व्यवसायी, सैनिक बनने का कोई भी रास्ता हिन्दू आरक्षण व्यवस्था में नहीं रहा। आज दलितों को मात्र, उनकी जनसंख्या के अनुपात में और पिछड़ों को उनकी संख्या के आधे अनुपात में ही आरक्षण प्राप्त है, फिर भी सवर्णों में रोष है। वे इस बात का रोना रोते हैं कि आरक्षण देश की प्रतिभाओं को अवसर से वंचित कर रहा है। इस देश में विगत साढ़े तीन हजार वर्षों से दलितों-पिछड़ों (शूद्रों) को अध्यापक, प्रशासक, व्यवसायी इत्यादि बनने से रोके रखा गया हिन्दू आरक्षण व्यवस्था में। इस बात की भी क्या उन्हें ग्लानि है? हिन्दू आरक्षण व्यवस्था के तहत, ब्रिटिश राज कायम होने के पूर्व तक, कितने फुले, पेरियार, आंबेडकर, कांशीराम, मायावती, मुलायम सिंह यादव, लालू यादव, डॉ. यू.एन. विश्वास, कांचा इलैया, एस. कृष्ण, चन्द्रभान प्रसाद, राजेन्द्र यादव जैसों के पनपने की संभावना को निर्मूल करके रखा गया इसका इल्म भी राजनाथ सिंह के भाइयों को होना चाहिए।

कुल मिला कर निष्कर्ष यही है कि भारत में आज जहां कहीं भी सामाजिक अन्याय है उसका स्रोत हिन्दू-आरक्षण व्यवस्था है। सामाजिक और शैक्षणिक रूप से दलितों-पिछड़ों के पिछड़ेपन का कारण है यह हिन्दू आरक्षण व्यवस्था ही है शूद्रों की भूमिहीनता, शिक्षाहीनता, मानवेतरता का कारण हिन्दू-आरक्षण व्यवस्था ही है। वहीं 15% ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की अपार संपदा, उच्च शिक्षा और गगन स्पर्शी सामाजिक मर्यादा का कारण यही आरक्षण व्यव्स्था है।

डॉ. आंबेडकर हिन्दू आरक्षण व्यवस्था के चरम अन्यायी रूप से औरों से बेहतर वाकिफ रहे इसलिए जब उनके हाथ में भारत का संविधान तैयार करने का इतिहास ने मौका सुलभ कराया, उन्होंने वैदिक मनीषियों द्वारा निर्मित हिन्दू-आरक्षण पर कठोर प्रहार किया। वैसे तो अंग्रेजों ने आई. पी. सी. (भारतीय दंड संहिता) के द्वारा हिन्दू-आरक्षण पर क्रांतिकारी हमला किया था। लेकिन इस आरक्षण द्वारा सामाजिक अन्याय का शिकार बनाए गए लोगों को न्याय सुलभ करवाने के लिए संविधान में बाबा साहेब ने ही आधुनिक आरक्षण का प्रावधान किया। उन्होंने जहां संविधान की धारा 334 के तहत संसद एवं प्रत्येक राज्य की विधानसभाओं में अनुसूचित जाति/जनजातियों के लिए प्रतिनिधित्व सुलभ कराया वहीं धारा 335 के तहत सरकारी नौकरियों में आरक्षण सुनिश्चित किया। उस समय पिछड़ी जाति के नेताओं का अपेक्षित सहयोग न मिल पाने के कारण वे उनके लिए आरक्षण तो सुलभ नहीं करा पाए पर उन्होंने धारा 340 का प्रावधान जरूर रच दिया जिसके सहारे अन्तत: कुछ विलंब से ही सही पिछड़ों को भी आरक्षण मिला।

वास्तव में हिन्दू-आरक्षण व्यवस्था दलित-पिछड़ों के विकास में चरम अवरोधकारी होने

के साथ-साथ उन्हें सामाजिक अन्याय की गहराइयों में डुबोने वाली एक व्यवस्था रही है। इस अन्यायकारी आरक्षण व्यवस्था का विकल्प कोई आरक्षण व्यवस्था ही हो सकती थी। यह विकल्प व्यवस्था दलित-पिछड़ों को आंबेडकर प्रवर्तित आरक्षण में मिला। लेकिन हिन्दू-आरक्षण व्यवस्था से लाभान्वित लोगों को यह कभी रास नहीं आई। इस व्यवस्था के जन्म से लेकर आज तक वैसे लोग इसके खात्मे की कामना करते रहे हैं। आधुनिक आरक्षण के प्रति हिन्दू-आरक्षणवादियों के विद्वेष का चरम दृष्टान्त मंडल के दिनों में हुआ जिसमें अग्रिम पंक्ति में राजनाथ सिंह के ही लोग रहे। और जून 2001 के शेष सप्ताह के पूर्व तो राजनाथ सिंह का दल सबसे बड़े आरक्षण विरोधी के रूप में चिन्हित रहा। पर आकस्मिक तौर पर उनका भावान्तरण हुआ और उन्होंने 28 जून को सामाजिक न्याय समिति गठित कर दिया। लेकिन पुराने सामाजिक न्यायविरोधी राजनाथ सिंह अचानक एक महान सामाजिक न्यायवादी के रूप में अवतरित होकर यदि सामाजिक न्याय समिति की संस्तुतियों में विकास और सामाजिक न्याय के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन का भविष्य देख रहे हैं तो यह उनकी अदूरदर्शिता का द्योतक ही माना जाएगा। क्योंकि उसकी संस्तुतियों में अतिपिछड़ों-अतिदलितों के लिए लाभ पहुंचाने वाले तत्व कम, अधिकता बहुजन एकता ध्वस्त करने वाले तत्वों की हैं।

अगर राजनाथ सिंह की नीयत सचमुच सामाजिक न्याय और विकास के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने की है तो उन्हें हुकुम सिंह समिति की संस्तुतियों से आगे बढ़कर कुछ सोचना होगा। वे सबसे पहले डॉ. आंबेडकर की रचना *राज्य और अल्पसंख्यक* पढ़ें जिसमें हिन्दू आरक्षण द्वारा अन्याय का शिकार बनाए गए लोगो को न्याय दिलाने के मुक्कमल सपने कैद हैं। अगर वह रचना पढ़ेंगे तो जैसे आरक्षण की विसंगतियों से निपटने के लिए उन्होंने जिस तरह सामाजिक न्याय समिति गठित की है वैसे ही भूमि के पुनर्वितरण की दिशा में कुछ करने के लिए प्रेरित होंगे।

राजनाथ सिंह अतिपिछड़ों-अतिदलितों के सामाजिक न्याय और विकास के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन चाहते हैं तो उन्हें उन मुद्दों को लागू करने की दिशा में आगे बढ़ना चाहिए जो उनकी प्रतिपक्षी मायावती उठा रही हैं। उन्हें मालूम होगा ही कि मायावती राज्यसभा, विधान परिषद्, सेना और निजी क्षेत्रों में लगातार आरक्षण की मांग उठा रही हैं। लेकिन सामाजिक न्याय और विकास के क्षेत्र में असली काम तो वे भारत में अमेरिका की डाइवर्सिटी नीति लागू करके ही कर सकते हैं। उन्हें मालूम होगा ही कि डाइवर्सिटी ने अमेरिकी दलितों को नौकरी, फिल्म, टी.वी. पत्रकारिता, व्यापार उद्योग के क्षेत्र में न्याय दिलाने में कितना चमत्कारिक काम किया।

मायावती के वर्तमान में उठाये जा रहे मुद्दों और अमेरिका की डाइवर्सिटी नीति को लागू करने की दिशा में राजनाथ सिंह और भाजपा का अग्रसर होना इसलिए और भी जरूरी है कि एक और अशान्तिकारक मांग, हिन्दू आरक्षण में पिष्ट लोगों द्वारा उठाये जाने की संभावना दिख रही है। राजनाथ सिंह ने डरबन में *गुलामी के हर्जाने* के मुद्दे को गरमाने की खबर जरूर पढ़ा होगा। अखबारों में छपी खबरों के अनुसार नस्लभेद व्यवस्था के तहत जिनके पुरखों को

सोलहवीं से उन्नीसवीं सदी के मध्य गुलाम बनाया गया, वे उन देशों से हर्जाना मांगेंगे, जिन्होंने गुलाम बनाया था। राजनाथ सिंह ने सामाजिक न्याय का मुद्दा नये सिरे से उठाकर बहुजन समाज को सामाजिक अन्याय के पन्ने उलटने के लिए मजबूर कर दिया है। और जब सामाजिक अन्याय के पन्ने उलटेंगे तो पता चलेगा अतिपिछड़ों-अतिदलितों को अफ्रीकी लोगों की तुलना में कई गुना हर्जाने की जरूरत है। इससे पहले कि सामाजिक अन्याय के हर्जान की मांग अतिदलित-अतिपिछड़े, भारत के प्रभुवर्ग के समक्ष रखे, प्रभुजातियों की पार्टी भाजपा दलित-पिछड़ों के आरक्षण को व्यापकतर आयाम देते हुए डाइवर्सिटी लागू करने की दिशा में पहल कदमी करे।

सामाजिक-न्याय से भाजपा का पलायन

सामाजिक न्याय समिति के गठन की घोषणा और उस समिति की संस्तुतियां प्रकाशित होने के बाद, राजनाथ सिंह सहित कई राष्ट्रीय व प्रांतीय भाजपा नेताओं द्वारा, सामाजिक न्याय को ही उत्तर प्रदेश के आसन्न विधानसभा चुनाव में प्रमुख मुद्दा बनाए जाने की घोषणा पर जिन लोगों ने विश्वास कर लिया था वे अब भाजपा के आगरा-चिंतन के बाद विस्मित हैं। आगरा में आयोजित दो दिवसीय चिंतन शिविर में भाग लेने आए देश भर के भाजपा कार्यकर्ताओं की उपस्थिति में शीर्ष नेतृत्व ने घोषणा कर दिया कि आगामी विधानसभा चुनाव में *इस्लामी आतंकवाद* ही प्रमुख मुद्दा होगा। ऐसा करके भाजपा ने यह खुला संकेत दे दिया है कि वह हिंदू राष्ट्रवाद के अपने लक्ष्य से भागी नहीं है।

वैसे तो जिन दिनों राजनाथ सिंह सामाजिक न्याय के मुद्दे पर केन्द्रित होने की कवायद कर रहे थे उन दिनों भी पैनी नजर रखने वालों ने देख लिया था कि भाजपा उस धर्म से दूर नहीं है जिसके आधार पर उसने हिंदू राष्ट्रवाद का तोरण विकसित करने की योजना बनाई है। उन दिनों भी सामाजिक समरसता का प्रचार और साधु-संतों से मेल-मिलाप जारी रखते हुए कंठी-माला, रुद्राक्ष व हवन सामग्रियों पर से व्यापार कर हटाकर राजनाथ सिंह ने सामाजिक न्याय के प्रति कमजोर निष्ठा का परिचय तो दिया ही था। किंतु जिस शोर-शराबे के साथ उन्होंने मंदिर मुद्दा पृष्ठ में धकेलने का नाटक किया था उससे लगा था कि शायद भाजपा सामाजिक न्याय को सर्वोपरि गुरुत्व देगी। गुरुत्व देती यदि बहुजन समाज की एकता तोड़ने के मोर्चे पर उसे प्रत्याशित सफलता की संभावना दिखती। इसी बीच ग्यारह सितंबर को अमेरिका के पेंटागन और वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर हमले के बाद उपजे हालात ने धर्म के नाम पर हिंदुओं के ध्रुवीकरण की एक क्षीण संभावना उजागर कर दिया और इस संभावना से आकर्षित होकर राजनाथ सिंह ने सिमी पर प्रतिबंध लगाकर जो नया तेवर अपनाया, उससे सामाजिक न्याय के मुद्दे की छुट्टी होने की संभावना और प्रबल हो गई। पर, भाजपा की तरफ से इसे पृष्ठ में धकेलने की अब तक कोई घोषणा नहीं हुई थी। लेकिन आगरा-चिंतन के मध्य ही जब *राष्ट्रीय सहारा* में लोकमत-आर.डी.आई. जनमत सर्वेक्षण की रिपोर्ट प्रकाशित हुई तो सामाजिक न्याय से भाजपा का मोहभंग हुए बिना न रह सका। रिपोर्ट में जहां सपा की बढ़त और बसपा की स्थिति पूर्ववत बने रहने का संकेत था वहीं 'केसरिया वाहिनी' के लिए आगामी विधानसभा चुनाव में हताशाजनक परिणाम झेलने के लिए तैयार रहने की सावधानवाणी थी। यह संकेत था कि चुनावों में मुकाबला दलित-पिछड़ों के जाति चेतना के राजनीतिकरण से होगा। चूंकि जाति चेतना के राजनीतिकरण का मुकाबला एकमात्र हिन्दुओं की धार्मिक चेतना का राजनीतिकरण करके ही किया जा सकता है इसलिए सामाजिक न्याय के मुद्दे से हताश भाजपा शीर्ष नेतृत्व के समक्ष *हिंदुओं का ध्रुवीकरण* करने लायक कोई मुद्दा पकड़ने से भिन्न विकल्प नहीं था।

इस्लामी आतंकवाद का हौव्वा खड़ा करके हिंदुओं का मुकम्मल ध्रुवीकरण के लिए भाजपा का राम मंदिर मुद्दे को भी पुन: जिंदा करना जरूरी था। इसलिए ही *इस्लामी आतंकवाद* मुद्दे की घोषणा के अगले ही दिन विश्व हिंदू परिषद के लगभग 250 कार्यकर्ताओं व चर्चित नेताओं ने विवादित रामजन्म भूमि के गर्भगृह में जबरन घुस कर मंदिर मुद्दे को गरमाने का नाटकीय काम कर डाला। जिस दिन गर्भगृह में जबरन घुसने की खबर छपी उसी दिन कुछ अखबारों में यह भी खबर छपी थी कि सरकार अब युवाओं के जरिये धार्मिक एजेंडा लागू करेगी। इनके जरिये धार्मिक एजेंडा लागू करवाने के अभियान के तहत खेल मंत्री उमा भारती नेहरू युवा केंद्र के कार्यकर्ताओं को लेकर यात्राएं निकालेगीं। नवंबर के प्रथम सप्ताह से रामेश्वरम्, जगन्नाथ पुरी, बद्रिकाश्रम, द्वारिका व कालडी से शुरू होने वाली इन यात्राओं की समाप्ति जब 11 जनवरी को दिल्ली में होगी, तब अडवाणी की रामरथ यात्रा के बाद दूसरी सबसे बड़ी यात्रा का रिकार्ड स्थापित होगा। इस प्रक्रिया में जब अडवाणी की रथयात्रा के दिनों की धर्मोन्माद की पुन: सृष्टि होगी तभी भाजपा को 'इस्लामी आतंकवाद' के हौव्वे का इच्छित लाभ मिलेगा; तभी भाजपा के पुन: सत्ता में आने की संभावना उपजेगी एवं तभी अटलजी की सरकार के केंद्र में बने रहने की संभावना भी जीवित रहेगी। क्योंकि इन धार्मिक गतिविधियों से हिन्दुओं की धार्मिक चेतना का अच्छा-खासा राजनीतिकरण हो जायेगा।

दरअसल भापजा विरोधियों को यह बात गांठ बांध लेनी चाहिए कि जब तक संघ और भाजपा की डॉ. हेडगेवार, गोलवलकर, डी.डी. उपाध्याय, श्यामा प्रसाद मुखर्जी वगैरह के प्रति रत्ती भर भी श्रद्धा विद्यमान रहेगी वे धर्म के मुद्दे को छोड़ नहीं सकते। हिंदू राष्ट्र के सपने के पीछे उपरोक्त ब्राह्मण महामानवों का एकमेव लक्ष्य ब्राह्मणों के हाथ में ही सत्ता का बागडोर देना था। 1925 के जमाने में जब दूसरे ब्राह्मण 'आर्य समाज' बनाने की परिकल्पना में जुटे हेडगेवार विशाल हिन्दू समाज बनाने में खुद को निमग्न किये। क्योंकि फूले के बाद पेरियार, आंबेडकर, द्वारा चलाए जा रहे आंदोलनों के बाद के वर्तमान बहुजन समाज के जाति चेतना के राजनीतिकरण का चित्र उन्होंने उन दिनों की देख लिया था। उन्होंने अपनी प्रखर मनीषा से यह भली भांति समझ लिया था जब भविष्य में जाति समाजों के नाम पर आंदोलन से बहुजन समाजा बनेगा नेतृत्व दलित, पिछड़े, अल्पसंख्यकों के हाथ में जाएगा। वहीं जब हिंदू-धर्म के नाम पर आंदोलन खड़ा करके वृहत्तर हिंदू-समाज बनेगा सत्ता स्वत: ही ब्राह्मणों के हाथ में रहेगी। अत: हिंदू-धर्म के नाम पर *हिंदू राष्ट्र* खड़ा करने का हेडगेवार, गोलवलकर, उपाध्याय के मूल अभीष्ट यही था कि ब्राह्मणों का शासन अटूट रहे। ऐसे में जिस दिन ब्राह्मणों को सत्ता से विरक्ति हो जाएगी उस दिन ही संघ और उसकी शिशु संगठनों के भाजपा के धर्म के मूल मुद्दे से हटने की कल्पना की जा सकती है। नाटकीय रूप से कुछ माह के लिए भाजपा का सामाजिक न्याय के शिखर पर आरोहण अगर एक नाटक था तो उस शिखर से धर्म-पथ पर अवरोहण उसका चिर यथार्थ है।

मुलायम की रणनीति

उत्तर प्रदेश में हर हाल में अपनी पार्टी की सरकार बनाने की आवश्यक रणनीति की घोषणा के साथ समाजवादी पार्टी का पाँचवाँ राष्ट्रीय सम्मेलन कानपुर के लोहियानगर में संपन्न हो गया। मुलायम सिंह यादव के यह कहने–*मुख्यमंत्री कई बार बन चुका हूं अब और बनने की ख्वाहिश नहीं हैं* – के बावजूद पार्टी ने उन्हें ही एक बार फिर राष्ट्रीय अध्यक्ष और उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनाव के दौरान मुख्यमंत्री के रूप में प्रस्तुत करने का निर्णय लिया है। उन्होंने सम्मेलन के मंच से आवश्यक चुनावी संदेश देते हुए अपने कार्यकर्ताओं को निर्देश दिए हैं कि वे जनता के बीच जाकर इन संदेशों का प्रचार करें, *भाजपा सरकारें आतंकवाद से लड़ने का महज नाटक कर रही हैं और उनका मकसद इसकी आड़ में केवल मुसलमानों को निशाना बनाना है। यदि हमारी सरकार बनी तो दवाई, शिक्षा मुफ्त और रोटी, कपड़ा और मकान सस्ते होंगे। सभी झुग्गी-झोपड़ियाँ पक्के मकानों में परिवर्तित कर दी जाएंगी। हिन्दू कार्यकर्ताओं को भाजपा के मंसूबों को विफल करने के लिए अल्प संख्यकों की रक्षा करनी होगी।*

यदि यादव के उपरोक्त चुनावी संदेश का विश्लेषण किया जाए तो यही तथ्य उभर कर सामने आएगा कि आसन्न विधानसभा चुनाव में उनका मुख्य एजेण्डा मुसलमानों को भाजपा के निशाने से बचाना है। रही बात दवा, शिक्षा, रोटी, कपड़ा, झोंपड़ी इत्यादि की तो ऐसी लोक लुभावन घोषणाएं हर पार्टी की मैनीफेस्टो में होती हैं, जिन्हें सुनते-सुनते जनता के कान पक चुके हैं।

श्री यादव ने चुनावी संदेश में अपने कार्यकर्त्ताओं को यह भी बताया है कि भाजपा सरकारें आतंकवाद से लड़ने का महज नाटक कर रही हैं। यह कथन एकदम दुरूस्त और उनकी राजनीतिक दूरदर्शिता का परिचायक है। लेकिन उनके जैसा दूरदृष्टि सम्पन्न नेता यह कैसे कह रहा है कि भाजपा सरकारों का मकसद आतंकवाद की आड़ में केवल मुसलमानों को निशाना बनाना है। यह बात प्रोपर्टी डीलर टाइप का कोई राजपूत या गली-मुहल्लों का नेता कहे तो कुछ हजम हो सकती है। पर, उनके जैसा धुरंधर नेता तो यह भली-भांति जानता है कि पिछले एक दशक की भांति ही आज भी भाजपा के प्रत्यक्ष निशाने पर तो मुसलमान, ईसाई आदि अल्पसंख्यक हैं किन्तु उनके पीछे असल निशाने पर दलित-पिछड़ों का बहुजन समाज है। और भाजपा का मुख्य मकसद इस्लामी आतंकवाद का हौवा खड़ा करके हिन्दुओं का ध्रुवीकरण करना है ताकि बहुजन समाज को सत्ता से दूर धकेलकर ब्राह्मणों के हाथों में उसकी बागडोर थमायी जा सके। लेकिन हिन्दुओं के ध्रुवीकरण के माध्यम से बहुजनों को सत्ता से दूर धकेलने और ब्राह्मणों के हाथों में सत्ता सौंपने के संघ व उसके शिशु संगठनों

के खतरनाक मकसद से जनता को अवगत कराने से जिस तरह यादव वर्षों से भागते रहे हैं वैसे ही आज भी भाग रहे हैं। आखिर क्यों?

लंबे समय से राजनीति में रहकर, संघविरोधी नेता के रूप में छवि बनाने वाले यादव यह भली-भांति जानते होंगे कि जिन दिनों अधिकांश विद्वान ब्राह्मण 'आर्य समाज' बनाने और अंग्रेजों की कृपा जय करने के लिए आर्यों को विदेशी प्रमाणित करने में जुटे थे, क्यों 1925 में, ब्राह्मण डॉ. हेडगेवार ने हिन्दू-धर्म-संस्कृति के आधार पर वृहत्तर हिन्दू समाज बनाने की परिकल्पना की? इसीलिए न, कि उन दिनों इंग्लैंड में जारी एडल्ट फ्रेंचाइज (वयस्क मताधिकार) आंदोलनों के परिणामों का आकलन करते हुए उन्होंने यह जान लिया था कि अंग्रेजों की जनशिक्षा नीति के सहारे जागरूक बने, बहुजन को स्वाधीन भारत में शासक चुनने का जब अवसर मिलेगा, विदेशी के रूप में चिन्हित आर्यों (ब्राह्मणों) को सत्ता के करीब फटकने का अवसर नहीं देंगे। अत: डॉ. हेडगेवार ने आर्य समाज की जगह हिन्दू समाज बनाने और अल्पजन ब्राह्मणों को भविष्य का शासक बनाने की परिकल्पना की। डॉ. हेडगेवार ने 77 वर्ष पूर्व यह चुनावी गणित समझ लिया था कि वर्ण व्यवस्था में शोषित जातियां जब अपने शोषण से निजात पाने के लिए संगठित होंगी तो बहुजन समाज बनेगा और चुनावों के बाद सत्ता दलित-पिछड़े व अल्पसंख्यकों की होगी। वहीं जब हिन्दू-धर्म या संस्कृति के नाम पर आंदोलन चलाकर हिन्दुओं का ध्रुवीकरण किया जाएगा, सत्ता की लगाम स्वत: ब्राह्मणों के हाथ में जायेगी। संघ, वर्षों पहले तैयार डॉ. हेडगेवार की योजना को जानता है इसलिए धीरे-धीरे हिन्दू-धर्म-संस्कृति के नाम पर आंदोलन चलाते हुए, बहुजन समाज के सांसदों की अधिकता और सवर्ण सांसदों की अति न्यूनता के बावजूद, ब्राह्मण अटलजी के हाथ में सत्ता की बागडोर थमाने में सफल हुआ है। और ऐसा इसलिए ही हुआ है कि अटलजी कथित मुस्लिम आतंकवाद के विरुद्ध तैयार धार्मिक आंदोलनों से उभर कर संसद में पहुंचे हैं। मुलायम सिंह यादव निश्चय ही संघ की यह परिकल्पना जानते हैं, बावजूद इसके कह रहे हैं कि भाजपा का असल मकसद मुसलमानों को निशाना बनाना है। क्यों नहीं वे अपने कार्यकर्त्ताओं को यह कहते हैं कि जाकर जनता को बताओ कि भाजपा का असल मकसद इस्लामी आतंकवाद के बहाने हिन्दुओं का ध्रुवीकरण करके ब्राह्मणों को सत्ता सौंपना व बहुजन समाज को सत्ता से दूर रखना है ?

भाजपा के इरादे से वे जनता को तो आगाह करा नहीं रहे हैं, उल्टे वर्षों से ऐसा कदम उठा रहे हैं जो भाजपा को अपने मकसद अर्थात् हिन्दुओं के एकीकरण में और सहायक होता है। वह कदम है मुसलमानों की अतिरिक्त पक्षधरता। जैसे इस बार के चुनाव में उनका मुख्य एजेण्डा ही मुसलमानों की रक्षा पर केन्द्रित है। इस मामले में यदि मुलायम सिंह यादव सबसे आगे हैं तो उनके मोर्चे के साथी भी उनसे पीछे नहीं है। इनकी जरूरत से ज्यादा जुबानी हिमायत ने भारतीय मुसलमानों को मनोवैज्ञानिक रूप से सचमुच इतना असुरक्षित कर दिया है कि वे सिर्फ हिन्दू-आतंकवाद से सुरक्षा पाने की जरूरतवश किसी न किसी दल के मोहताज बनकर रह गए हैं। भारत नामक लोकतांत्रिक देश का नागरिक होने के नाते शासन-प्रशासन

व्यवसाय-वाणिज्य, सेना, न्यायपालिका इत्यादि विभिन्न क्षेत्रों में उनकी भी संख्या के अनुपात में भागीदारी होनी चाहिए, यह बात भारत का मुस्लिम समाज भूल ही गया है। इस भूलने के पीछे यदि कारणों को तलाश किया जाये तो निश्चित रूप से यादव और उनके मोर्चे के साथी ही जिम्मेदार नजर आएंगे। इन लोगों के सौजन्य से मुसलमानों के सामने शायद एकमात्र मुद्दा सुरक्षा ही रह गया है। इसलिए ही यादव ने अपनी पार्टी के राष्ट्रीय सम्मेलन से हिन्दू कार्यकर्ताओं को निर्देश दिया है कि वे भाजपा के मंसूबों को विफल करने के लिए अल्पसंख्यकों की रक्षा करें।

यादव और उनके साथियों की जुबानी हिमायत और जज़्बाती राहत से जहां मुस्लिम समाज का कबाड़ा हुआ है वहीं भाजपाइयों को चांदी हुई है। इस अवसर का लाभ उठाते हुए भाजपा वर्षों से विशाल हिन्दू समुदाय के मध्य यह बात प्रचारित करने में जुटी हुई है कि सभी दल मुसलमानों का तुष्टिकरण कर रहे हैं। और हिन्दू जनता जब नजर उठाकर देखती है तो मुलायम सिंह यादव जैसे कई चेहरे वैसा करते हुए उसे नजर आते हैं। फलतः गजनी, गोरी, बाबर द्वारा दिए गए जख्मों को भाजपा नये सिरे से कुरेदकर हिन्दुओं में मुस्लिम विद्वेष की भावना भरने में सफल हो जाती है। समाज विज्ञानियों और राजनीतिक विश्लेषकों ने इस हकीकत को कबूल कर लिया है कि जब कोई नेता मुस्लिम वोट के लिए नग्न प्रयास करता है तो एक मुस्लिम वोट की बजाय कई हिन्दू वोट हिन्दूवादी दलों के पक्ष में जाते हैं। मुलायम सिंह यादव ऐसा प्रयास करके शायद कुछ मुस्लिम वोट तो हासिल कर लेते हैं मगर दूसरी तरफ भाजपा के पक्ष में कई वोटों का ध्रुवीकरण होता है, यह वह भली-भांति जानते हैं। पर, जानते हुए भी मुस्लिम वोट हासिल करने में संतुलन नहीं बरतते। क्या वे ऐसा किसी विशेष चुनावी रणनीति के तहत करते हैं?

आज भाजपा के हाथ में, बहुजन समाज के दुर्भाग्य से इस्लामी आतंकवाद का वह बेहतरीन हथियार मिल गया है जिसकी उसे तहलका, ताबूत सहित अन्य घोटालों और सर्वोपरि निजीकरण के विरुद्ध उभरने वाले बहुजन समाज के आक्रोश को दबाने के लिए शिद्दत से जरूरत थी। और जब वह हथियार मिल गया है तो वह उस पर आने वाले कुछ वर्षों तक सान चढ़ाते रहने की कोशिश करेगी, यही स्वाभाविक है। जिन्होंने भारतीय समाज का मनोयोग से अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि इस्लामी आतंकवाद से बढ़कर हिन्दुओं के ध्रुवीकरण का कोई अस्त्र नहीं हो सकता। इस संबंध में डॉ. आंबेडकर की यह टिप्पणी सर्वाधिक ध्यान देने योग्य है। उन्होंने लिखा है- *हिन्दुओं में कोई भी जाति यह अनुभव नहीं करती कि दूसरी जातियों से उसका कोई संबंध है। केवल हिन्दू-मुस्लिम तनाव के समय ही सभी जातियाँ एक हो जाती हैं। और बाकी समय हर बात में प्रत्येक जाति अपने को अलग और भिन्न प्रदर्शित करती हैं।* हालांकि हिन्दुओं का यह विचित्र विच्छिन्न चरित्र ही शोषक जातियों के लिए सर्वाधिक फायदेमंद है। पर, चुनावों के समय यह भारत की शासक जातियों, विशेषकर ब्राह्मणों की गले का फांस बन जाती है। उस समय उन्हें बहुसंख्यक बनने के सिवाय कोई चारा नहीं रहता। खासतौर से प्रधान शासक जाति ब्राह्मण अपने जाति के नाम पर यदि चुनाव लड़े तो अटलजी जैसे व्यक्ति के लिए भी चुनाव जीतना कठिन हो जाये। ये सिर्फ हिन्दू के नाम पर ही चुनाव जीत सकते हैं।

जब विपक्ष स्वाधीन भारत की बलिष्ठतम प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी और सांसदों की संख्या बल के हिसाब से महाबली राजीव गांधी की सरकारों को सत्ता से दूर फेंकने में कामयाब हो गया तो लुंज-पुंज व्यक्तित्व के स्वामी अटल बिहारी वाजपेयी की देखरेख में चल रही केन्द्र की सरकार को उखाड़ फेंकने से आसान काम उसके लिए कुछ और हो ही नहीं सकता। क्योंकि परंपरागत शोषक-शासक जातियों के हितों का पोषण और बहुजन समाज के हितों की अनदेखी का अभूतपूर्व मिसाल कायम करते हुए भाजपा सरकारें सबसे बड़े बहुजन विरोधी के रूप में अपनी छवि स्थापित कर चुकी हैं। इमरजेन्सी में लोकतंत्र की जितनी भी हत्या हुई हो तुलनामूलक रूप से मनुवादी सरकारों के इतिहास में वह पिछड़ों व दलितों के लिए स्वर्णकाल था। उसी तरह राजीव गांधी के विरुद्ध खड़ा किया गया बोफोर्स घोटाला, तहलका और ताबूत सहित भाजपाई राज्य के अन्य घोटालों के समक्ष कोई खास महत्व नहीं रखता था। लेकिन मुलायम सिंह यादव और उनके वरिष्ठ साथियों ने बहुत आसानी से इंदिरा व राजीव गांधी की सरकारों को तो उखाड़ फेंका था। पर, आज अपनी तमाम खामियों के बावजूद भाजपा सत्ता में बने रहने के प्रति आश्वस्त दिख रही है तो सिर्फ इसलिए कि उसके बहुजन विरोधी कार्यों को न तो विपक्ष उजागर कर रहा है और न ही उसके लिए उसे बहुजन समाज के प्रति जवाबदेह होने के लिए मजबूर कर रहा है।

भाजपा के राज्य में तहलका और ताबूत इत्यादि कई घोटालों ने बोफोर्स घोटाले को बौना करते हुए यादव और उनके मोर्चे के सामने इतना बड़ा मुद्दा मुहैय्या करा दिया है कि सिर्फ इसे ही हथियार बनाकर भाजपा सरकारों को खदेड़ा जा सकता है। लेकिन भाजपा राज के ये घोटाले भी अगर छोटे मुद्दे हैं तो क्या भूमंडलीकरण की नीति से बहुजन समाज के अस्तित्व के समक्ष संकट खड़ा करने में जो तत्परता भाजपा ने दिखाई है उससे भी बड़ा कोई मुद्दा आज तक के चुनावी इतिहास में उभरा है? यह आइने की तरह साफ है कि भूमंडलीकरण की गाज बहुजन समाज पर ही गिरेगी। इससे निकट भविष्य में वहीं स्थितियाँ और परिस्थितियां पैदा होने जा रही है जो फ्रांस की राज्यक्रांति के पूर्व पैदा हुई थीं। तब हालात से लाचार रोटी के लिए तरसती अबला मानी जानी वाली नारियां बास्तीला स्थित राजा लुई के राजनिवास पर धावा बोलने के लिए मजबूर हो गयी थी। बहुजन समाज के सामने भी वही स्थितियां और परिस्थितियां पैदा होने जा रही हैं। फर्क इतना ही होगा कि बहुजन समाज तो रोटी के लिए बिलबिलाएगा, पर क्रांति नहीं करेगा क्योंकि वह हिन्दू शास्त्रों द्वारा दैविक-दास बनाया हुआ समाज है और दैविक-दास क्रांति नहीं करते। भूमंडलीकरण के रास्ते निजीकरण की प्रक्रिया तेज करने की भाजपा सरकार की रुचि का अंदाज इसी से लगाया जा सकता है कि वाजपेयी सरकार के शासन में पिछले वर्ष जिन 715 वस्तुओं पर से मात्रात्मक प्रतिबंध हटाकर कुल 1429 वस्तुओं को मात्रात्मक प्रतिबंध से मुक्त किया गया उसे आगामी दो साल तक टाला जा सकता था। पर, वैसा इसलिए नहीं किया गया कि इससे आरक्षण के खात्मे में विलम्ब हो सकता था। इसी तरह विनिवेश मंत्री अरुण शौरी की तत्परता भी जगजाहिर है। अटल सरकार ने भूमंडलीकरण की जो नीति अपनाई है उससे निकट भविष्य में भारत विदेशी कंपनियों का गुलाम बनने जा रहा है, इसमें अर्थशास्त्रियों को कोई संशय नहीं रह गया है।

भारत के उद्योग-धंधे तो विदेशी कंपनियों के हाथ में जा रहे हैं, कृषि पर भी उनके अधिकार होने के आसार कम नहीं हैं।

यादव जी यह शायद सोचकर ही अपने पार्टी के राष्ट्रीय सम्मेलन में निजीकरण की भयावहता को तरजीह नहीं दिया कि उनके जो सुरक्षित मतदाता हैं, वे निजीकरण के कुपरिणामों से काफी हद अप्रभावित रहेंगे। यह सत्य है कि इन जातियों के पास जमीन, व्यवसाय पर्याप्त होने के साथ-साथ नौकरियों में भी भारी प्रतिनिधित्व है। पर, उनके सुरक्षित मतदाताओं में मुसलमान भी हैं। इनमें यदि अशरफ (अगड़े) मुसलमानों को छोड़ दिया जाए तो पशमांदा (पिछड़े) मुसलमानों की वही गति होगी, जो दलितों और अतिपिछड़ों की भूमंडलीकरण के रास्ते होने जा रही है। पिछड़े मुसलमानों में बहुत से लोग मांस के व्यवसाय से जुड़े है। अमेरिका-यूरोप से जब कुछ दिनों में 18 रु. किलो के हिसाब से मुर्गे की टांगों के गोश्त आने लगेंगे तो इन्हें अपनी चिकेन और मटन की दुकानों पर ताले लटकाने पड़ जाएंगे। यहां के मुसलमान कालीन 5,000/- रुपये में बेच रहे हैं उनके विकल्प के तौर पर विदेशों से मात्र 1,500 रुपये में बिकने वाली कालीन आने वाली है। विदेशों से आने वाले कम दाम के सेंटों ने तो मुसलमानों के इत्र का कारोबार बंद कर देने का एलार्म बजा ही दिया है। एक अनुमान के मुताबिक भाजपा सरकारों के थोड़े से कार्यकाल में देश में लगभग साढ़े चार लाख छोटे-मझोले उद्योग बंद हो चुके हैं। इनमें भारी संख्या में वे उद्योग है जो मुसलमानों के हुनर पर निर्भर रहे हैं। हिन्दू आतंकवाद से मुसलमानों को कुछ जन-धन व माल की हानि शायद हो भी जाये किन्तु भाजपा सरकारों की भूमंडलीकरण की नीति तो आने वाले दिनों में पिछड़े मुसलमानों की पूरी नस्ल को भूख और बेरोजगारी से उसी तरह बिलबिलाने के लिए मजबूर करने वाली है जैसे अति-पिछड़ों-दलितों की भावी पीढ़ी। ऐसे में बहुसंख्यक जनता के अस्तित्व रक्षा के लिए मुलायम सिंह यादव ने यदि अपनी पार्टी के राष्ट्रीय सम्मेलन से तहलका, ताबूत और सर्वोपरि निजीकरण को प्रमुख चुनावी मुद्दा बनाने का संदेश दिया होता तो भाजपा का हारना तय था। लेकिन लगता है उन्होंने ऐसे मुद्दों को ही प्रमुखता देने का मन बना लिया है जो हिन्दुओं के ध्रुवीकरण में सहायक होते हैं।

आखिर क्यों मुलायम सिंह यादव ऐसा कदम उठाते हुए नजर आ रहे हैं जो भाजपा के लिए सहायक है? कुछ लोग इसे उनकी भाजपाइयों के साथ पुरानी मित्रता से जोड़कर देखते हैं। ऐसे लोगों का तर्क है कि चूंकि 1977 में इंदिरा गांधी की तानाशाही और 1989 में राजीव गांधी के भ्रष्टाचार के विरुद्ध कंधे से कंधा मिलाकर लड़ते हुए मुलायम सिंह यादव और भाजपा ने अपना-अपना कद बढ़ाया है इसलिए न सिर्फ आज बल्कि वर्षों से वे ऐसी ही चुनावी रणनीति अख्तियार करते रहे हैं जो भाजपा के लिए सहायक होती है। उनका मानना है कि ऐसा करके वे भाजपा के ऋण से मुक्त होने की भी कहीं न कहीं से कोशिश करते हैं। यह सही है कि यादव और भाजपा ने इंदिरा व राजीव गांधी के विरुद्ध एक साथ मिलकर लड़ाई लड़के अपना-अपना राजनीतिक कद बढ़ाया है। यह भी सही है कि यादव और उनके साथियों ने पहली बार राजनीतिक रूप से अछूत राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ को 1977 में बड़े पैमाने पर राजनीति के फलक पर प्रवेश दिलाया और 1984 में कांग्रेस द्वारा मृतप्राय कर दी

गई भाजपा को 1989 में जीवनदान दिया और बदले में भाजपा ने उन्हें पहली बार उत्तर प्रदेश का मुख्यमंत्री बनाने में सहयोग किया। पर, मैं यह नहीं मानता कि भाजपा के सहयोग से पहली बार मुख्यमंत्री बनने के कारण ही यादव प्रतिदानस्वरूप उसके अनुकूल रणनीति अख्तियार करते रहे हैं। मैं समझता हूं हिन्दू-धर्म-संस्कृति के प्रति अपनी दुर्बलता के कारण ही हिन्दुत्व की उत्तोलक भाजपा के प्रति कुछ दुर्बलता का पोषण करते हैं। अगर ऐसा नहीं होता तो सामाजिक न्याय के बड़े प्रवक्ता होकर भी कैसे जय श्रीकृष्ण के नारे लगाते और वर्ण व्यवस्था के ध्वंस के प्रति खामोश रहते ? अगर उन में यह दुर्बलता नहीं रहती तो कैसे भाजपा को अपना सबसे बड़ा दुश्मन घोषित करने के बावजूद उस आधार को खत्म करने की कोशिश नहीं करते जिस पर उनका विकास हुआ हैं ?

एक दशक से ऊपर होने जा रहा है, जब से भारत में सामाजिक न्याय का काफी बोलबोला है। इसके चलते सामाजिक न्याय के नाम पर नाक-भौं सिकोड़ने वाले भाजपा और वामपंथी दलों और कांग्रेस तक को सामाजिक न्याय की प्रतियोगिता में उतरना पड़ा है। इस तरह आज सामाजिक न्याय के अखाड़े में ढेरों योद्धा पेशियां दिखाते नजर आते हैं। लेकिन इनमें मुलायम सिंह यादव की छवि सामाजिक न्याय के बड़े योद्धा और प्रखर प्रवक्ता के रूप में स्थापित है। पर, सामाजिक न्याय के बड़े योद्धा यादव ने सामाजिक अन्याय के खात्मे में कभी दिलचस्पी नहीं दिखलाई। और यदि सामाजिक अन्याय के खात्मे का उनमें जज्बा नहीं है तो सामाजिक न्याय का योद्धा कहलाने के कैसे हकदार हैं? क्योंकि सामाजिक अन्याय के खात्मे के लिए ही सामाजिक न्याय का अभियान चलाया जा रहा है। यदि भारत में सामाजिक अन्याय के स्रोतों से अवगत हुआ जाये तो स्पष्ट हो जाएगा कि यादव में उसके खात्मे की कोई चाह ही नहीं है।

जिसे हिन्दू-धर्म कहते हैं वह बहुत से समाजशास्त्रियों के अनुसार कोई धर्म न होकर मात्र वर्ण-धर्म है। इस वर्ण-धर्म का पालन हिन्दू-धर्म का पालन है, इसलिए हिन्दू महात्मा गांधी वर्ण-व्यवस्था के ध्वंस की कल्पना करके कांप उठते थे। उनका मानना था यदि वर्ण-व्यवस्था खत्म हुई तो वह हिन्दू-धर्म का खात्मा करेगा। जिस वर्ण-धर्म में हिन्दू-धर्म का प्राण स्पन्दित होता रहा है उस वर्ण-धर्म के पालन में मुख्य चीज वर्ण शुद्धता और कर्म-शुद्धता रही है। अर्थात् किसी भी सूरत में एक हिन्दू को वर्ण-संकर या कर्म-संकर नहीं होना है। यही हिन्दू शास्त्र कहते हैं और सहस्त्रों वर्षों से क्षत्रिय शस्त्रों द्वारा सज्जित होकर शास्त्रों के कहे अनुसार समाज को वर्ण व कर्म शुद्ध रखने में अपने क्षत्रित्व का उपयोग करते रहे हैं।

दरअसल सामाजिक न्याय के विराट प्रवक्ता की सामाजिक अन्याय के सृष्टिकारी तत्वों के प्रति श्रद्धा और भाजपा के अनुकूल रणनीति अख्तियार करने की विवशता के पीछे घूम-फिर कर एक ही दुर्बलता नजर आती है। वह है हिन्दू-धर्म व संस्कृति के प्रति यादव की दुर्बलता जिससे उबरने में वे कही से सक्षम नहीं दिख रहे हैं। भाजपा विरोधी के रूप में अपनी छवि बनाये रखने के लिए वे अधिक से अधिक खुद को जय श्रीराम कहने से रोक सकते

हैं, पर, जय श्रीकृष्ण कहने से रोक नहीं सकते। यहां तक कि अपनी प्रबल राजनीतिक प्रतिद्वन्दी मायावती के साथ तू डाल-डाल मैं पात-पात की राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता चलाने के बावजूद मायावती द्वारा हिन्दू-धर्म-संस्कृति के विरुद्ध वर्षो से चलाये जा रहे अभियान के मुकाबले में उतरने की हिम्मत न जुटा सके।

यदि हिन्दू-धर्म-संस्कृति से मोहभंग हुआ होता तो यादव को अपनी पार्टी के राष्ट्रीय सम्मेलन से अपने कार्यकर्त्ताओं को अल्पसंख्यकों की रक्षा करने का संदेश देने की नौबत नहीं आती। क्योंकि अल्पसंख्यकों के सामने संकट उनका पिछड़ा वर्ग ही पैदा करता है। ब्राह्मण न तो दलितो को लाठी लेकर मारने जाता है न तलवार लेकर मुसलमानों को काटने। यह पिछड़े ही हैं जिन्हें ब्राह्मण हिन्दू-धर्म-संस्कृति के नाम पर उकसाकर, दलितों व अल्पसंख्यकों को मारने के लिए प्रेरित करते हैं। और वे ब्राह्मणों को निराश नहीं करते।

लेकिन राजनीतिक रूप से अछूत व मृतप्राय जिस भाजपा को, 1977 और 1989 में अपना संगी बनाकर, समाजवादियों और वामपंथियों ने अप्रतिरोध्य राजनीतिक शक्ति बनाया है, उससे अगर मुलायम सिंह यादव, ज्योति बसु या सोनिया गांधी पार पाना चाहते हैं तो हिन्दू-धर्म-संस्कृति को ध्वस्त कराने की मानसिकता विकसित करनी होगी। क्योंकि यही उसका प्राण है। जब तक इस हिन्दू-धर्म-संस्कृति के प्रति लोगों का आकर्षण है, संघ की उम्मीदें बनी रहेंगी। चूंकि भाजपा ने ब्राह्मणों को सत्ता सुलभ कराने के लिए हिन्दू-धर्म-संस्कृति से खुद को एकाकार कर लिया है, इसलिए हिन्दू-धर्म-संस्कृति को खत्म किए बिना खतरनाक भाजपा का अस्तित्व विलीन करना असंभव है। यह कठिन कार्य अकेले कांशी-माया की सीमित साधनों वाली बसपा के लिए कठिन है अंततः बहुजन समाज के पुरुखों की दुर्दशा और इसकी भावी पीढ़ी के भूख, बेरोजगारी से बिलबिलाने की संभावना को देखते हुए मुलायम सिंह यादव को तो भाजपा के आधार और प्राण पर हमला बोलने में विलम्ब नहीं करना चाहिए। लेकिन जब तक उनमें यह मानसिकता विकसित नहीं होती है तब तक वे उन रणनीतियों से खुद को दूर रखकर, जिनसे हिन्दुओं का ध्रुवीकरण होता है, बहुजन समाज की भारी सेवा कर सकते हैं।

जाति बनी सवर्णों की समस्या

पिछले दिनों चार राज्यों की विधानसभाओं के चुनाव संपन्न हुए। इन चुनावों के परिणामों पर टिप्पणी करते हुए एक मशहूर राष्ट्रवादी स्तंभकार ने लिखा था– *यह जनादेश नहीं, अलग-अलग जातियों के छोटे-छोटे टुकड़ों और मजहबी जुनून का निर्णय है। पंजाब, उत्तरांचल और उत्तर प्रदेश आदि के चुनाव परिणाम बताते हैं कि भविष्य के आसार ठीक नहीं हैं... हमारे लिए जनतंत्र हारा हुआ लगता है...इसका कारण है मतदाताओं की खंडित और पृथकतावादी सोच।* यह हताशा भरी टिप्पणी उस राष्ट्रवादी विद्वान ने भाजपा की करारी हार से आहत होकर की थी। इस बार के चुनाव में जाति तत्व की प्रभावकारिता से राष्ट्रवादियों में उपजी हताशा का अच्छा प्रतिबिम्ब भाजपा के वरिष्ठ नेता कुशाभाऊ ठाकरे के बयान में भी मिलता है। अपनी पार्टी की हार के कारणों पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा है– *हमारी हार की मुख्य वजह जातिवादी राजनीति का हावी होना है। प्रदेश की राजनीति में चुनावी मुद्‌दे गौण हो गए हैं और जातिवाद हावी हो गया है। जो एक गंभीर चुनौती है। समाज बिखर रहा है। यह चुनौती न सिर्फ भाजपा के लिए है बल्कि पूरे देश के लिए है।* लेकिन जाति के विरुद्ध सबसे गंभीर टिप्पणी तो उ.प्र. के पूर्व मुख्यमंत्री राजनाथ सिंह के तरफ से आयी है। सपा-बसपा के हाथों गहरी पराजय का दंश झेलने के बाद उन्होंने कहा है – *मानवता को यदि खत्म करना हो तो जाति से बढ़कर कोई मीठा जहर हो ही नहीं सकता।*

आज जबकि जाति चेतना के राजनीतिकरण के कारण प्रभुवर्ग को जनतंत्र हारता हुआ दिखाई पड़ने लगा है या जाति मानवता के लिए जहर महसूस होने लगी है तो मानना ही पड़ेगा कि जाति अब समस्या बनकर उनके पाले में जा चुकी है। यही तो भारतीय समाज के चिकित्सक कांशीराम और दूसरे आंबेडकरवादी चाहते थे। क्योंकि जाति से उपजी समस्याओं के हल की कुंजी किसी के हाथ में है, तो वह प्रभुवर्ग ही है। स्वाधीन भारत में देश का कर्णधार रहा यह वर्ग अगर सचमुच राष्ट्रवादी है तो उसे जाति चेतना के राजनीतिकरण से राष्ट्र को निजात दिलाने की दिशा में अग्रसर होना ही होगा। क्योंकि यह चेतना राष्ट्र के विकास के लिए सचमुच बहुत बाधक है। यह लोकतंत्र में व्यक्ति को अपना मत, देश को नहीं, जाति को केन्द्र में रखकर देने के लिए प्रेरित करती है। ऐसी चेतना से जुड़ा व्यक्ति या दल मजबूत नहीं, मजबूर सरकार की कामना करने के लिए विवश रहता है। ऐसी चेतना की विलुप्ति देशभक्ति का उपदेश देकर नहीं, उन कारणों के दूरीकरण से ही संभव है जिनसे इसके विकास को बल मिला है।

जिस तरह भारत की हर प्रकार की समस्या के तार वर्ण-व्यवस्था से जुड़े हैं वैसे ही लोकतंत्र को अपंग बनाने वाली इस चेतना का उत्स वर्ण/जाति व्यवस्था है। यूं तो भारत के

वर्ण-समाज में ऐसी अनेकों बुराइयां हैं जिनकी कल्पना विश्व के दूसरे समाजों में नहीं की जा सकती लेकिन इनमें सबसे बड़ी बुराई देश की संपदा व संसाधनों का असमान वितरण है। सिर्फ असमान वितरण ही नहीं, यह समाज वितरणहीनता तक से ग्रसित रहा है। भारत की वर्ण-व्यवस्था, जिसे हिंदू आरक्षण व्यवस्था कहना ज्यादा सही होगा, में शिक्षा, भूमि, संपदा, व्यवसाय-वाणिज्य का अधिकार मात्र ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में ही वितरित रहा। लेकिन इस मामले में शूद्रातिशूद्र पूरी तरह वितरणहीनता के शिकार रहे। यह स्थिति कई हजार सालों से कायम रही। आधुनिक भारत में, सदियों से वितरणहीनता का शिकार रहे शूद्रों में से, सछूत शूद्र कुछ हद तक इससे निजात पाने में सफल रहे। कारण कि जिन जातियों के मध्य राष्ट्र के संसाधनों का वितरण किया गया था, उनकी पुलिस के रूप में कार्य करने के कारण, इन्हें भी कुछ वितरित कर दिया गया। फलत:, असमान ही सही, वितरण में भागीदार आज की पिछड़ी जातियां भी बन गईं। किंतु दलित (अस्पृश्य-आदिवासी) भारतीय समाज में बहिष्कृत रहने के कारण वितरणहीनता की स्थिति से कभी उबर नहीं पाए।

राष्ट्र के समस्त संसाधनों से बहिष्कृत रहने के कारण दलित कभी सोच नहीं पाए कि यह राष्ट्र उनका भी है। इस राष्ट्र के भले-बुरे व समृद्धि की कोई जिम्मेवारी उनकी भी है। जिस राष्ट्र ने उन्हें कुछ दिया ही नहीं, उस राष्ट्र के प्रति दलितों की उदासीनता क्या अपराध है? इस उदासीनता का विस्फोटक रूप उस समय आया था जब 600 दुसाधों ने लॉर्ड क्लाइव के दो-ढाई सौ सैनिकों का साथ देकर, प्लासी युद्ध में भारतीय सेना को पराजित करते हुए, ब्रिटिश राज की बुनियाद खड़ी कर दी। उस दिन लाखों की तादाद में मुर्शिदाबाद की सड़कों की दोनों ओर भूखे-अधनंगे लोग तमाशबीन के रूप में खड़े थे। वे अगर चाहते तो उस दिन लाठी-डंडों, ढेलों से मारकर अंग्रेजी फौज को खत्म कर देते, ऐसा खुद लार्ड क्लाइव ने लिखा है। पर, वे वैसा नहीं कर सके क्योंकि वे वितरणहीनता का शिकार होने के कारण राष्ट्र की जय-पराजय से उदासीन थे। वितरणहीनता से ही दलित समाज को निजात दिलाने के लिए दुसाधों ने अंग्रेजों का साथ दिया था और उन्होंने कुछ हद तक दिलाया भी।

अंग्रेजों ने दलितों को वितरणहीनता से राहत दिलाने की जो शुरुआत की उसमें डॉ. आंबेडकर के रचे सूत्र और संविधान ने और इजाफा किया। पर, लोकतंत्र को मजबूत करने के लिए, दलितों को वितरणहीनता से मुक्ति दिलाने का जो सूत्र डॉ. आंबेडकर ने दिया उस पर राष्ट्र पूरी तरह अमल न कर सका। कारण कि इस देश के कर्णधारों में वर्ण-व्यवस्था ने लोकतांत्रिक चरित्र व सामाजिक विवेक विकसित ही नहीं होने दिया था। लोकतंत्र का प्राण तो प्रतिनिधित्व है और विभिन्न क्षेत्रों में सबके लिए इस प्रतिनिधित्व का सम्मान तो वही कर सकता है जिसमें लोकतांत्रिक चरित्र के कीटाणु मौजूद हों। पर वर्ण-व्यवस्था के दैवीय-कृत प्रचारित होने के कारण ऐसे किटाणु भारत की प्रभुजातियों में पैदा न हो सके। मानव सृष्टि में हिंदुओं के दैवीय सिद्धांत ने इनमें यह विश्वास पैदा कर दिया कि हिंदू ईश्वर के उत्तम अंगों से पैदा होने के कारण शिक्षा, शासन-प्रणाली, भूमि, व्यवसाय-वाणिज्य व सांस्कृतिक स्रोतों पर इनका ईश्वर प्रदत्त अधिकार है। वहीं इस सिद्धांत ने इनमें यह भावना कूट-कूट कर भर रखी कि हिंदू ईश्वर के घृणित अंग से जन्म लेने के कारण शूद्रातिशूद्र इन स्रोतों से ईश्वर द्वारा ही बहिष्कृत

हैं। इनके अधिकार क्षेत्र में महज जीर्ण-शीर्ण वस्त्र, मिट्टी व लोहे के बर्तन व गहने एवं जूठन हैं। ऐसी सोच ने इनके मन में अर्थतंत्र, शिक्षा, स्वास्थ्य, संस्कृति, उद्योग-व्यवसाय इत्यादि के क्षेत्र में शूद्रातिशूद्र के प्रतिनिधित्व की कल्पना ही नहीं उभरने दी। अगर वे ऐसी सोच का शिकार न होते तो डॉ. आंबेडकर द्वारा भारतीय संविधान में दलितों के प्रतिनिधित्व के लिए रचे गए सूत्र का अनुसरण करते हुए पूंजी, मीडिया, संस्थाओं इत्यादि में उनकी हिस्सेदारी स्वीकार कर अपने पुरखों द्वारा किए पापों का प्रायश्चित् करने के लिए मिले अवसर का सद्व्यवहार करते। पर, हुआ उल्टा। सामाजिक विवेक के अभाव में प्रभुजातियां संविधान प्रदत्त अवसरों से भी दलितों को वंचित करने में जुटी रहीं। इनकी अलोकतांत्रिक व वर्णवादी सोच के कारण दलित किस पैमाने पर वितरणहीनता के आज भी शिकार हैं, इसकी तस्वीर चंद्रभान प्रसाद द्वारा तैयार *भोपाल दस्तावेज* में देखी जा सकती है।

स्वाधीन भारत में वितरणहीनता की समस्या ने सबसे गइराई से मा.कांशीराम को स्पर्श किया। और जब वे इस समस्या के कारणों की खोज में डूबे तो उसके मूल में उन्हें प्रभुजातियों की अलोकतांत्रिक वर्णवादी सोच दिखाई पड़ी। यही नहीं तीन दशक पूर्व उन्होंने यह भलीभांति जान लिया था कि उनकी सोच में निकट भविष्य में कोई परिवर्तन नहीं होने जा रहा है। इस निष्कर्ष ने उन्हें यह सोचने के लिए मजबूर कर दिया कि यदि सरकार के सूत्र हाथ में आ जाए तो दलितों की समस्याएं सुलझ सकती हैं। ऐसे में उन्होंने वर्णवादी व्यवस्था में वितरण से वंचित की गई जातियों को संगठित करने का निर्णय लिया और भीषण प्रयास के बाद कुछ ही वर्षों में उनकी जाति चेतना का राजनीतिकरण कर दिया जिसका विस्तार दलितों से शुरू होकर पिछड़े व अल्पसंख्यकों तक हो गया। कांशीराम स्पष्ट शब्दों में कहते हैं- *मेरा मुख्य मकसद सामाजिक रूपांतरण और आर्थिक मुक्ति है। इसमें हमें शुरुआती दौर पर राजनीतिक प्रभाव और अंतिम दौर पर राजनीतिक सत्ता चाहिए।* इसका मतलब जबतक भूमि, शिक्षा, संस्थानों, संपदा इत्यादि में पर्याप्त हिस्सेदारी दलितों के मध्य नहीं वितरीत की जाती तब तक अंततः बहुजनों की जाति चेतना के राजनीतिकरण का क्रम थमने को नहीं है।

आज अगर जाति चेतना के राजनीतिकरण के कुप्रभावों से भारतीय प्रभुवर्ग राष्ट्र को बचाना चाहता है तो उसे दलितों को वितरणहीनता की समस्या से निजात देने के लिए सकारात्मक कदम उठाना पड़ेगा। इस काम में *भोपाल घोषणापत्र* सहायक हो सकता है। कई हजार वर्ष पूर्व वैदिक मनीषियों ने वर्ण-व्यवस्था के सूत्रों द्वारा दलितों को वितरणहीनता की गहरी खाई में धकेलने का जो जघन्य कार्य किया था उसी का प्रतिकार है *भोपाल घोषणापत्र।* इसमें 21वीं सदी के दलित मनीषियों द्वारा तैयार ऐसे 21 सूत्र लिपिबद्ध हैं जिनका अनुसरण करके दलितों को राष्ट्र के संसाधनों में वितरणहीनता से पूरी तरह निजात दिलाया जा सकता है। इसे असली रूप देने पर न सिर्फ देश की समृद्धि के लिए आवश्यक शांति को बढ़ावा मिल सकता है बल्कि जाति चेतना के राजनीतिकरण का भी प्रसार थम सकता है। विपरीत इसके यदि राष्ट्र इसके प्रति उदासीनता बरतता है तो निश्चय ही इससे हमारे लोकतंत्र को और गंभीर चुनौती से रूबरू होना पड़ सकता है।

बाबा साहेब का अधूरा सपना पूरा करने के लिए : कांशीराम की रणनीति

बौद्ध भारत में मृत्यावस्था में पहुंची और बौद्धोत्तर भारत में पुनः यौवन लाभकर अप्रतिरोध्य बनी जाति/वर्ण व्यवस्था के खिलाफ हिंदू समाज द्वारा कोई सबल आंदोलन ही नहीं हुआ। वैसे फादर विलियम केरी और उनके भ्राताओं की प्रेरणा से कुछ महामानवों ने इस व्यवस्था के सहायक उपायों-सती प्रथा, विधवा प्रथा और अछूत प्रथा इत्यादि के उन्मूलन में अच्छी-खासी जरूर उर्जा व्यय की। मगर अपनी जातिवादी मानसिकता और हिंदू-धर्म के ध्वंस के भय के कारण वे इसके मूलाधार पर आघात न कर सकें। लेकिन हिंदुओं के विपरीत दलित समाज पिछले सहस्राधिक वर्षों से निरंतर इसके विरुद्ध आंदोलित रहा है। पर, इसमें तीव्रता कांशीराम के उदय के बाद ही आई। उनके पे बैक टू दी सोसायटी (समाज को लौटाने) के आह्वान से उत्प्रेरित होकर, बहुत भारी संख्या में पढ़े-लिखे, आर्थिक रूप से सक्षम दलित इसमें शिरकत कर रहे हैं।

आज जिस जाति व्यवस्था को राजनाथ सिंह जैसे सवर्ण नेता मानवता के लिए मीठा जहर करार दे रहे हैं और जिससे समाज को मुक्त कराने के लिए असंख्य दलित मुस्तैद दिख रहे हैं उसकी सबसे बड़ी बुराई यह है कि इसने समाज में असमान वितरण की स्थिति को जन्म दिया है। इसके कारण देश की संपदा व संसाधनों का असमान वितरण हजारों साल से कायम रहा है। यह असमान वितरण भी मात्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के मध्य ही हुआ है। कर्म-संकरता अर्थात पेशों की विचलनशीलता की निषेधाज्ञा के कारण हिंदू-वर्ण-व्यवस्था को एक आरक्षण व्यवस्था का रूप दे दिया गया जिसमें शिक्षा, भूस्वामित्व, शासन-प्रशासन, व्यवसाय-वाणिज्य के अधिकार मात्र तीन वर्णों के मध्य ही वितरित हुए। पर, जो वर्ण-व्यवस्था अर्थात हिंदू आरक्षण व्यवस्था ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों के लिए असमान वितरण की व्यवस्था रही, वह शूद्रातिशूद्रों के लिए पूरी तरह वितरणहीनता की व्यस्था रही। इनके लिए हिंदू आरक्षण-व्यवस्था में मात्र कर्तव्य वितरित हुए। संपदा व सम्मानजनक लाभकारी पेशों की अधिकार बिल्कुल नहीं। पर कालांतर में सछूत शूद्र (पिछड़े) भी इस वितरणहीनता से कुछ हद तक निजात पा गए। जिन जाति/वर्णों के मध्य देश की समस्त संपदा व उच्चमान के पेशों का वितरण हुआ था, उनकी सोसल पुलिस का कार्य करने के कारण इन्हें भी कुछ वितरित कर दिया गया। किंतु दलित (अछूत-आदिवासी) भारतीय समाज में बहिष्कृत व दूरवर्ती रहने के कारण, सदियों से वितरणहीनता की खाई में फंसे रहे।

दलितों को वितरणहीनता से निजात दिलाने की पहल अंग्रेजों ने की पर उल्लेखनीय राहत डॉ. आंबेडकर ने कानून बना कर दिलाई। लेकिन संविधान निर्माण के समय बाबा साहेब भारत

के सबसे असहाय स्टेट्समैन थे। वे चाहकर भी सर्वत्र प्रतिनिधित्व का प्रावधान न कर सके। यदि उनके पीछे, सिर्फ उनकी विद्वता न होकर संगठित राजनीतिक शक्ति होती, वे सेना, न्यायपालिका, मीडिया, निजी संस्थानों इत्यादि में भी दलितों की भागीदारी सुनिश्चित कर देते। यही नहीं, *स्टेट्स एण्ड मायनॉरिटीज* में उन्होंने भूमि वितरण का जो सपना देखा था उसे भी पूरा कर देते। लेकिन राजनीतिक शक्ति केअभाव में अपने लोगों को वितरणहीनता से पूरी तरह मुक्ति दिलाने का उनका सपना अधूरा रहा। उनके इसी अधूरे सपने को पूरा करने का लक्ष्य बनाया है बसपाध्यक्ष ने। लेकिन अफसोस, अधिकतर दलित बुद्धिजीवियों ने जाति तोड़ो और धर्मान्तरण को ही डॉ. आंबेडकर का अधूरा सपना समझ लिया और इसे पूरा करने में जुट गए हैं। पर, खुशी की बात है कि संपदा व संसाधनों के नन-डिस्ट्रीब्यूसन से निजात दिलाने का 21 मुक्कमल सूत्र हाल ही में चंद्रभान प्रसाद और उनके साथियों ने तैयार कर दिया है।

भारतीय समाज के स्वरूप और उसकी समस्याओं के गहन अध्ययन के आधार पर कांशीराम ने बहुत पहले यह सत्योपलब्धि कर ली थी कि वर्ण-व्यवस्था के कारण हिंदुओं में लोकतांत्रिक चरित्र इतना विकसित नहीं हो पाया है कि वे लोकतांत्रिक नियमों का पालन करते हुए दलितों को सर्वत्र प्रतिनिधित्व देकर वितरणहीनता से निजात दिला दें। उन्होंने यह भी पाया था कि सती प्रथा, विधवा विवाह, गंगा प्रवाह इत्यादि अनेकों अमानवीय प्रथाओं से चिपके हिंदुओं से भारतीय समाज को निजात सिर्फ कानून बनाकर दिलाया गया है। ऐसे में वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे बिना न रह सके कि सिर्फ राज्यादेश के सहारे ही हिंदुओं के कब्जे से दलितों का अधिकार छीना जा सकता है। इसके लिए दलितों की जाति चेतना का राजनीतिकरण करने के लिए आर्य-अनार्य सिद्धांत, पे बैक टू दी सोसायटी के दर्शन के साथ ही डॉ. आंबेडकर, फुले, पेरियार, शाहूजी के विचारों के व्यापक प्रचार का अभियान वे आज भी चला रहे हैं। इसका लाभ उन्हें उनकी प्रयोगशाला उ.प्र. में मिल रहा है जहां की जनता आंबेडकर के अधूरे सपने को पूरा करने की उम्मीद में उत्तरोत्तर बसपा को मजबूत किए जा रही है।

दलितों को भागीदारी दिलाने के लिए किसी भी दल के साथ मिलकर सरकार बनाने में मायावती की बसपा को कोई गुरेज नहीं है। बसपा सभी दलों को मनुवादी मानती है। मनुवादी का मतलब बसपा के लिए यह है कि जो भी व्यक्ति या दल हिंदू-धर्म-संस्कृति के प्रति श्रद्धाशील है, मनुवादी है। इस लिहाज से आडवाणी और मुलायम सिंह यादव में उसे इतना ही फर्क नजर आता है जितना फर्क जय श्रीराम और जय श्रीकृष्ण में है। भाजपा अगर काला नाग है तो दूसरे दल हरे सांप हैं, ऐसा बसपा का मानना है। चूंकि बसपा के लिए सभी दल मनुवादी हैं इसलिए मनुवादियों की भीड़ में समयानुसार उसे वही दल पसंद है जिसके साथ मिलकर वह सत्ता में भागीदारी कर बेहतर इस्तेमाल कर सके। इसी योजना के तहत मायावती दो बार भाजपा के साथ सत्ता की भागीदारी कर दलितों के लिए ऐतिहासिक काम कर चुकी हैं। अब तीसरी बार उसकी पुनरावृत्ति की संभावना उज्ज्वल हो गई है जिसे देखकर डॉ. तुलसीराम सहित कई दलित व गैरदलित बुद्धिजीवियों में बौखलाहट पैदा हो गई है। इस

बौखलाहट में दलितों को वितरणहीनता से मुक्ति दिलाने के बसपा के सत्ता-गणित में उन्हें वैदिक-गणित नजर आने लगा है। इस बौखलाहट में उन्हें यह भी याद नहीं आ रहा है क्यों डॉ. आंबेडकर ने एक जमाने में भारतीयों के सबसे बड़े दुश्मन अंग्रेजों और अपनी चरम विरोधी कांग्रेस के साथ मिलकर सत्ता में साझेदारी किया था? सारा कुछ अवसर के उपयोग से प्रेरित था। अवसर का उपयोग करने के लिए ही 1977 में इंदिरा गांधी की तानाशाही और 1989 में राजीव गांधी के कथित भ्रष्टाचार के नाम पर जयप्रकाश नारायण, राजनारायण, ज्योति बसु, वी.पी. सिंह, चरण सिंह, गुजराल, दैवगौड़ा, मुलायम सिंह यादव, लालू यादव, देवी लाल वगैरह ने 1996 के पूर्व ही संघ परिवार का राजनैतिक अछूतपन दूर कर दिया था। इस बौखलाहट में वे इस बात का भी ध्यान नहीं दे रहे हैं कि क्यों संघ परिवार मायावती के साथ सत्ता की भागीदारी करने से घबरा रहा है और भाजपाई क्यों कह रहे हैं कि दो बार साथ मिलकर सरकार बनाने में उन्हें नुकसान उठाना पड़ा है और तीसरी बार मेलजोल करने पर रहा-सहा जनाधार भी खत्म हो जाएगा?

वास्तव में मायावती फोबिया से इन बुद्धिजीवियों का मानसिक संतुलन इस कदर गड़बड़ा गया है कि उन्हें उपरोक्त बातों के अतिरिक्त मायाराज में दलितों में आए ऐतिहासिक भावांतरण का महत्व भी याद नहीं है। अन्यथा वे दलित हितैषी होने के नाते, उनके गद्दीनशीन होने की बेसब्री से इंतजार करते। लेकिन उन्हें भले ही याद न हो पर, उ.प्र. के दलितों को तो उस भावांतरण का एहसास था, तभी तो उन्होंने बसपा को अभूतपूर्व समर्थन देकर पुन: हुक्मरान बनने का अवसर मुहैय्या कराया है। मायाराज में हुए भावांतरण से सहस्त्रों वर्षों की गुलाम जातियों में न सिर्फ शासक बनने की भावना पैदा हुई थी बल्कि सदियों से नतमस्तक रह कर मार खाने वालों में पलट कर वार करने का जज्बा पैदा हुआ था। इस भावांतरण से उद्भूत हुई परिस्थितियों का मुकाबला करने के लिए ही तो 1997 के जून में मुलायम सिंह यादव के नेतृत्व में रामविलास पासवान, देवेगौड़ा इत्यादि तीसरे मोर्चे के नेताओं को मायावती के खिलाफ 'हल्लाबोल रैली' निकालनी पड़ी थी। रैली में शामिल नेताओं ने तब हल्ला मचाया था कि दलित सरकारी संरक्षण का लाभ उठाकर अत्याचार कर रहे हैं। एक भूतपूर्व प्रधानमंत्री ने दलितों द्वारा किए जा अत्याचार के विरुद्ध आमरण अनशन की धमकी दे डाली थी। उन्हीं दिनों उ.प्र. के एक भूतपूर्व ब्राह्मण मुख्यमंत्री ने विधानसभा के सामने बाकायदा अनशन भी किया था। उनका भी अभियोग था दलित हमारे लोगों को सता रहे हैं। मायावती के राज में सदियों से अत्याचार सहने वालों दलितों में प्रतिरोध करने का जो जज्बा पैदा हुआ था वह भारतवर्ष के राजनैतिक व सामाजिक इतिहास की कितनी बड़ी घटना है, इसका आकलन करने के लिए मायावती विरोधियों को किसी समाजशास्त्री के शरणापन्न होना चाहिए।

दलितों में यह ऐतिहासिक भावांतरण यूं ही नहीं हुआ। इसमें तो कांशी-माया द्वारा लंबे समय से जारी सामाजिक व सांस्कृतिक आंदोलनों की बहुत बड़ी भूमिका रही है जिसका प्रतिबिम्बन प्रसिद्ध दलित बुद्धिजीवी चंद्रभान प्रसाद के 4 नवंबर 1999 को *राष्ट्रीय सहारा* में छपे आलेख में इन शब्दों में हुआ था-*बसपा के गठन के बाद दलित समाज में व्यापक*

परिवर्तन होने लगे। लोगों ने हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियां घरों से निकाल कर नदी-तालाबों में डुबोना शुरू कर दिया। उनके स्थान पर गौतमबुद्ध, फुले, पेरियार, आंबेडकर, कांशीराम के चित्र लगाने लगे। इस तरह चुनावों में बसपा जहां एक राजनैतिक पार्टी लगती है, वही सामान्य परिस्थितियों में सामाजिक सांस्कृतिक आंदोलन का दर्पण लगती है।

वास्तव में बामसेफ के जमाने से कांशी-माया ने फुले, पेरियार, शाहूजी और डॉ. आंबेडकर इत्यादि के दर्शन का प्रचार कर हिंदू-धर्म-संस्कृति के विरुद्ध जो अभियान चलाया वह बेनजीर है। मायाराज में यह अभियान और ऊंचाई पर पहुंचा था जिससे भारी संख्या में लोग हिंदुइज्म से मुक्त हुए थे। हिंदुइज्म से मुक्त हुए ऐसे ही लोगों को बौद्ध-धर्म में दीक्षित कराकर कुछ दलित अधिकारी खुद को तीसमारखां समझते हैं। सचमुच में इनमें कूवत है तो पासी, खटिक, दुसाध, गोड़ इत्यादि अनुसूचित जातियों सहित पिछड़ों में, कुछ लाख के बजाय मात्र कुछ हजार को धर्मान्तरित करा कर दिखा दें। मेरा दावा है कि वे बुरी तरह विफल रहेंगे क्योंकि इन जातियों को बसपा हिंदुइज्म से मुक्त करने में सफल नहीं हुई है। आज संघ परिवार मायावती के साथ मिलकर सरकार बनाने में इसलिए भी कतरा रहा है क्योंकि उसे डर है कि मायावती हिंदू-धर्म-संस्कृति की जड़े काटने का काम वहां से फिर शुरू कर सकती हैं, जहां से छोड़ गई थीं। इसके बावजूद जिन्हें बसपा के वर्ण-विरोधी सत्ता-गणित में वैदिक गणित नजर आ रहा है उन्हें कांशीराम द्वारा शुरू किए गए जाति चेतना के राजनीतिकरण के परिणामों पर नजर दौड़ानी चाहिए। यह स्वाधीनोत्तर भारत की एकमात्र राजनीतिक हस्ती कांशीराम ही हैं जिन्होंने संघ संस्थापक डॉ. हेडगेवार की चाल को समझ कर सही काट पैदा किया था।

डॉ. हेडगेवार ने 1925 में संघ की स्थापना यह सोचकर ही की थी कि यदि हिंदू-धर्म-संस्कृति के नाम पर आंदोलन खड़ा कर हिंदुओं का ध्रुवीकरण कराया जाएगा तो नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथ में जाएगा ही। उनकी इस साजिश को समझकर ही कांशीराम विगत दो दशकों से वर्ण-व्यवस्था में वंचित जातियों के ध्रुवीकरण के फार्मूले पर काम कर रहे हैं। उनकी योजना है जब वंचित जातियों का ध्रुवीकरण किया जायेगा तो बहुजन समाज बनेगा और नेतृत्व दलित-पिछड़े-अल्पसंख्यकों के हाथ में आएगा ही आएगा। इसके लिए उन्होंने पहले दलितों की जाति चेतना का राजनीतिकरण किया जो धीरे-धीरे पिछड़े अल्पसंख्यकों तक प्रसारित हो गई है। जाति चेतना के राजनीतिकरण का ही नतीजा है कि पिछले दिनों चार राज्यों की विधानसभा चुनावों के कुल 650 सीटों में से भाजपा मात्र 114 सीट ही जीत सकी जिसमें ब्राह्मणों की संख्या नाममात्र है। यह बसपा के जाति चेतना के राजनीतिकरण का ही चमत्कार है कि 1952 के 5.45 प्रतिशत की जगह 1998 में पिछड़े सांसदों का प्रतिशत 34.67 तक पहुंच गया। जाहिर है यह सवर्णों की घटती संख्या का सूचक है। जिस संघ परिवार से डॉ. तुलसीराम जैसे लोग सहमें हुए हैं, ब्राह्मणों द्वारा ब्राह्मणों के हित में स्थापित उस परिवार में ब्राह्मण लुप्तप्राय हो गए हैं। अटल जी, के.एस.सुदर्शन को छोड़कर नरेंद्र मोदी, बंगारू लक्ष्मण, उमा भारती, ऋतंभरा, गिरिराज किशोर इत्यादि रामभक्त गैर ब्राह्मण हैं। यह सब कांशीराम की जाति चेतना के राजनीतिकरण का चमत्कार है। इस चमत्कार के कारण यह साफ दिखाई पड़ रहा है कि आगामी एक दशक में सवर्णों के हाथ से सत्ता बहुजन

के हाथ में निश्चित रूप से पूरी तरह जा रही है। ऐसे में सवर्णों को अपना वजूद बचाए रखने के लिए या तो दलित-पिछड़ों के नेतृत्व में चलना होगा या गुजरात जैसे दंगों को अंजाम देकर विशाल हिंदू समाज बनाने के लिए राष्ट्र को शर्मसार करना होगा। उ.प्र. के चालाक सवर्ण इसलिए किसी भी कीमत पर मायावती के नेतृत्व में चलने की प्रतियोगिता कर रहे हैं। बसपा के सत्ता में आने से सवर्ण वर्चस्व और कमजोर होगा, इसलिए कुछ विशिष्ट बुद्धिजीवियों को छोड़कर पूरे देश का दलित मायावती को मुख्यमंत्री की कुर्सी पर फिर बैठने की राह देख रहा है।

दरअसल जिन्हें मायावती की सत्ता के गणित में वैदिक गणित नजर आ रहा है, वे पढ़े-लिखे, खाते-पीते ऐसे दलितों की जमात से आते हैं जो वर्ण-व्यवस्था जनित सामाजिक बुराई को दूर करने में समाजिक चेतना के प्रसार को प्रधानता देते हैं। उन्हें लगता है सत्ता के लिए संघर्ष सामाजिक चेतना में प्रसार में बाधक है। चूंकि मायावती न सिर्फ सत्ता संघर्ष की प्रतीक हैं बल्कि 25 करोड़ दलित जनशक्ति को ही विराट राजनीतिक शक्ति में तब्दील करने पर आमादा हैं। इसलिए वे बराबर उनकी आलोचना में मुखर रहते हैं। इन्हें यह नहीं मालूम कि वर्ण-व्यवस्था की बुराइयों के खिलाफ रैदास, कबीर जैसे संतों से लेकर राजा राममोहन राय, विद्यासागर, महात्मा गांधी जैसे महापुरुष सामाजिक चेतना का प्रसार करते-करते मर खप गए पर दलितों की स्थिति अपरिवर्तित रही। आज इन्हीं महापुरुषों का अनुसरण करते हुए दलितों का सक्षम तबका सामाजिक चेतना के प्रसार में जुट गया है। इन्हें यह नहीं मालूम वे जिन सामाजिक बुराइयों के खिलाफ लड़ रहे हैं वे वर्ण-व्यवस्था की महज उप-उत्पाद हैं जिनका निर्माण हिंदू आरक्षण व्यवस्था में असमान वितरण व वितरणशून्यता की स्थिति को अटूट रखने के लिए ही किया गया था। सदियों से दलित दरिद्रता की करुण मूर्ति इसलिए बन कर रह गए कि डॉ. आंबेडकर के पूर्व किसी ने भी वितरणशून्यता के खिलाफ कर्मसूची नहीं बनाया।

आज सामाजिक चेतना के प्रसार को प्रधानता देने वाले बुद्धिजीवियों से यह पूछे जाने का समय आ गया है कि *दलितों की वर्ण-व्यवस्था से उपजी प्रधान समस्या सामाजिक मर्यादाहीनता है या भूमि, व्यवसाय-वाणिज्य, मीडिया इत्यादि में वितरणहीनता?* अगर वितरणहीनता कोई समस्या है तो उससे मुक्ति के लिए बसपा से बेहतर उनके पास क्या विकल्प है? अगर मुलायम सिंह यादव संघ के सबसे बड़े विरोधी हैं तो संघ को रोकने के लिए 1999 में सोनिया को समर्थन देकर क्यों नहीं कुर्बानी दी और आज भी संघ को रोकने के लिए क्यों नहीं मायावती को मुख्यमंत्री बनाने के लिए सामने आ रहे हैं? यह भी उनसे पूछा जाना चाहिए कि दलित मुक्ति का *तीसरा चार्टर ऑफ मैग्नाकार्टा* अर्थात *भोपाल घोषणा* मध्य प्रदेश सरकार की भांति दूसरी सरकारें अगर लागू नहीं करती हैं तो वैसे में दलितों को क्या करना होगा?

बीएसपी के जाति कार्ड का खौफ़

वैसे तो जबसे भाजपा के सहयोग से सुश्री मायावती के तीसरी बार उत्तर प्रदेश का मुख्यमंत्री बनने की संभावना उज्ज्वल हुई तब से ही तथाकथित धर्मनिरपेक्षतावादी उनकी आलोचना में मुखर हो उठे थे। लेकिन जब से उनकी मुख्यमंत्री के रूप में ताजपोशी का दिन मुकर्रर हुआ है आलोचना चरम पर पहुंच गई है और मुख्यमंत्री के रूप में उनके शपथ ग्रहण के बाद आज यह स्थिति यह है कि धर्मनिरपेक्षतावादी दलों के नेता व बुद्धिजीवी सभा संगोष्ठियां आयोजित करके बसपा के विरुद्ध धिक्कार ध्वनि गुंजित करने में एक दूसरे से होड़ लगा रहे हैं। इस क्रम में वे शालीनता की तमाम सीमाएं भी लांघते जा रहे हैं। बसपा को अवसरवादी तो एक स्वर में कहा ही जा रहा है। कुछ लोग तो मायावती को भ्रष्टाचार की जननी तक कह रहे हैं, कुछ ऐसे भी धर्मनिरपेक्षतावादी नेता हैं जिन्हें लगता है मायावती ने जनता के साथ विश्वासघात किया है और उनके इस आचरण के फलस्वरूप राजनीतिज्ञों पर से जनता का विश्वास ही उठ जाएगा। कुल मिलाकर राष्ट्र के समक्ष धर्मनिरपेक्षतावादियों द्वारा बसपा की एक बहुत ही नकारात्मक छवि स्थापित करने की मुहिम शुरू हो चुकी है जिसके पीछे एकाधिक कारण पुंजीभूत हुए हैं।

इनमें पहला कारण यह है कि गुजरात जनसंहार के विरुद्ध जहां प्रमुख धर्मनिरपेक्षतावादी दल संगठित होकर एक स्वर से भाजपा की भर्त्सना कर रहे थे, वहीं बसपा दूर खड़ी चुपचाप तमाशा देख रही थी। यही नहीं गुजरात के मुख्यमंत्री नरेन्द्र मोदी के इस्तीफे के विरुद्ध इनके द्वारा जो अभियान चलाया गया उससे भी बसपा दूर रही। लेकिन सबसे बड़ा कारण यही है कि गुजरात दंगों के बाद जिस भाजपा को धर्मनिरपेक्षतावादी दल अलग-थलग व कमजोर करने की रणनीति पर काम कर रहे थे उसी भाजपा से गठजोड़ करके बसपा ने उस प्रदेश में अपनी सरकार बना ली है जिस उत्तर प्रदेश की राजनीति राष्ट्र की भावी राजनीति की दिशा निर्धारित करती है। इस क्रम में बसपा ने भाजपा को वर्तमान संकट से जूझने में कुछ बल भी प्रदान कर दिया है। ऐसे में उ.प्र. के ताजे राजनीतिक गठजोड़ से क्षुब्ध होकर धर्मनिरपेक्षतावादी दलों के नेता बसपा के विरुद्ध मुहिम छेड़ चुके हैं। काबिले गौर बात यह है कि इस मुहिम में वे ही लोग शामिल हैं, जिन्होंने 1977 में इंदिरा गांधी की तानाशाही के नाम पर संघ परिवार को जहां भारतीय राजनीति के विशाल दायरे में प्रवेश कराया, वहीं 1989 में राजीव गांधी के कथित भ्रष्टाचार के नाम पर, 1984 में मृत्यावस्था में पहुंच चुकी भाजपा को एक ऐसी शक्ति के रूप में उभरने का अवसर मुहैया कराया जो परवर्ती काल में राष्ट्र के लिए अप्रतिरोध्य बन गई। ऐसा संभवत: उन्होंने इसलिए किया क्योंकि उन्हें उस समय तक संघ के शिशु संगठन भाजपा का असल रूप ही नहीं मालूम था जैसा कि हाल ही में पूर्व प्रधानमंत्री वी. पी. सिंह ने कबूल किया है।

लेकिन गुजरात दंगों के बाद अगर भाजपा का क्रूर चेहरा देखकर धर्मनिरपेक्षतावादी नेता उसे कमजोर होते देखना चाहते हैं तो बसपा के विरुद्ध मुहिम चलाने का कोई औचित्य है ? भाजपाई हों या गैर-भाजपाई, आज हर खेमे के नेता व बुद्धिजीवी इस सत्य को कबूल कर चुके हैं कि अतीत में बसपा के साथ गठजोड़ से भाजपा क्रमश: कमजोर हुई है। इस सत्य की रोशनी में अधिकांश भाजपाइयों के मन में यह भय है कि बसपा के साथ तीसरी बार का गठबंधन उनका रहा-सहा जनधार भी खत्म कर देगा। इसलिए भाजपा हाईकमान द्वारा थोपे गए ताजे गठबंधन के विरुद्ध उ.प्र. के अधिकांश भाजपा कार्यकर्त्ताओं में खासा आक्रोश है। यही कारण है कि कइयों ने भाजपा के फैसले को आत्मघाती बताया है। अत: जो भाजपा का दिल से अनिष्ट चाहते हैं उन्हें तो बसपा को बढ़ावा देना चाहिए। यही नहीं साम्प्रदायिक दंगों के विरोध में रैलियां व संगोष्ठियां आयोजित करने वाले धर्मनिरपेक्षतावादी नेताओं व बुद्धिजीवियों को भली-भांति मालूम है कि भाजपा को अछूत बनाकर अलग-थलग करने के परिणाम सामयिक तौर पर लाभकारी तो हो सकते हैं पर इससे भाजपा खत्म नहीं हो सकती है। उल्टे वह कुछ दिनों बाद हीन मानसिकता के शिकार हिन्दुओं की आशा और आकांक्षा का प्रतीक बनकर नये सिरे से उभरकर समाने आएगी। इसका कारण यही है कि भाजपा ने डॉ. हेडगेवार के बताए रास्ते का अनुसरण करते हुए खुद को हिन्दू धर्म संस्कृति के ठेकेदार के रूप में परिणित कर लिया है। जब तक इस हिन्दू-धर्म-संस्कृति के प्रति लोगों में रत्तीभर भी आकर्षण है उनकी आशा व आकांक्षा का प्रतीक बनकर वह बची रहेगी। अत: भाजपा को खत्म करने का दीर्घकालिक उपाय यही हो सकता है कि हिन्दू-धर्म-संस्कृति के खिलाफ सुपरिकल्पित अभियान चलाया जाए और यह काम 'जय श्री राम' के बदले 'जय श्रीकृष्ण' का नारा बुलंद करने वाला कोई धर्मनिरपेक्षतावादी दल नहीं कर सकता। कर सकता है तो पेरियार, डॉ. आंबेडकर और फुले को जन-जन तक पहुंचाने वाला दल ही कर सकता है। ऐसे दल के रूप में आज भी बसपा बेजोड़ है।

दरअसल अतीत में बसपा के साथ दो-दो गठबंधन करके भाजपा जो लगातार कमजोर हुई उसका एक अन्यतम कारण यही रहा कि बसपा ने हिन्दू देवी-देवता विरोधी पेरियार, डॉ. आंबेडकर को अपने स्वल्पकालीन शासन में काफी लोगों तक पहुंचाने का अभियान छेड़ा था। और तीसरी बार के गठबंधन में बसपा ने अपने इस अभियान को जहां छोड़ा था वहीं से शुरू करने का संकेत भी दे दिया है। पूर्व के दोनों गठबंधनों में इस अभियान के असर का मूल्यांकन करते हुए 4 नवंबर, 1999 को एक दैनिक पत्र में स्तंभकार चन्द्रभान प्रसाद ने यह टिप्पणी की थी- *बसपा के सत्ता में आने से दलितों में सांस्कृतिक स्तर पर भारी बदलाव आने लगे। लोगों ने हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियां घरों से निकालकर नदी-तालाबों में डुबाना शुरू कर दिया और उनकी जगह फुले, पेरियार, आंबेडकर, गौतम बुद्ध, कांशीराम इत्यादि की तस्वीरें लगाने लगे। ऐसे में बसपा जहां चुनावों में एक राजनीतिक पार्टी नजर आती हैं वहीं सामाजिक विद्रोह का दर्पण भी दिखती हैं।* अत: जो दल भाजपा के सहयोग से सत्ता पर काबिज होकर सत्ता का उपयोग उस हिन्दू धर्म संस्कृति को ध्वस्त करने में करता है जो भाजपा का प्राण है, उस दल के विरुद्ध निश्चय ही कोई संघी विरोधी मुहिम नहीं चला सकता। लेकिन बसपा के साथ यही हो रहा है।

दरअसल बसपा विरोधी मुहिम के पीछे धर्मनिरपेक्षतावादी नेताओं की भाजपा विरोधी मानसिकता नहीं, उनके खुद के राजनीतिक वजूद की रक्षा की चिन्ता ही मूल कारण है। वे इस बात से त्रस्त हैं कि बसपा पेरियार, डॉ. आंबेडकर, फुले इत्यादि के दर्शन के प्रसार के माध्यम से हिन्दू-धर्म-संस्कृति के विरुद्ध अभियान तो चलाएगी ही सबसे बढ़कर सत्ता का उपयोग उस जाति चेतना के राजनीतिकरण में करेगी, जिसे वह सवर्णों के हाथ से राजनीतिक क्षमता छीनने के लिए एक हथियार के रूप में वर्षों से इस्तेमाल करती रही है। उन्हें मालूम है कि यह बसपा ही है जो भारतीय राजनीति में जाति तत्व को लगातार प्रभावी बनाने की दिशा में काम करती रही है जिसके फलस्वरूप भारी पैमाने पर जाति चेतना का राजनीतिकरण हुआ है। अभी यह चेतना अपने तुंग पर नहीं पहुंची है पर जिस दिन पहुंच जाएगी उस दिन भारतीय राजनीति में सवर्णों के लिए अपना अस्तित्व कायम रखना मुश्किल हो जाएगा। कारण, जाति के नाम पर दलित-पिछड़े-धार्मिक अल्पसंख्यक तो चुनाव जीत जाएंगे पर हिन्दू समाज के अल्पजन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों के लिए जाति के नाम पर चुनाव जीतना दुष्कर होगा। चूंकि बसपा विरोधी मुहिम में जुटे अधिकांश नेता सवर्ण हैं इसलिए भारतीय राजनीति में जाति चेतना को लगातार बढ़ावा देने में जुटी बसपा से दहशत खा रहे हैं। उन्हें मालूम है कि जाति चेतना के राजनीतिकरण की आंधी का मुकाबला मात्र धार्मिक चेतना के राजनीतिकरण के प्रसार से ही किया जा सकता है। क्योंकि धार्मिक चेतना के राजनीतिकरण से हिन्दू के नाम पर दलित, पिछड़ों को प्रभावित करके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य भी चुनावी नैया जैसे-तैसे पार लगा सकते हैं। लेकिन जाति चेतना की आंधी का सामना करने के लिए अगर समानान्तर रूप से धार्मिक चेतना के राजनीतिकरण की बयार बहानी है तो इस जंग में गैर-भाजपाई सवर्णों के लिए बहुत कम अवसर हैं।

कारण, धार्मिक चेतना के राजनीतिकरण का ठेका भाजपा पहले ही लेकर बैठी है। भविष्य में जाति चेतना के राजनीतिकरण के उठने वाले इस बवंडर का मुकाबला करने के लिए ही हिन्दू-धर्म-संस्कृति और मुस्लिम विद्वेष के प्रचार चलाने के लिए 1925 में डॉ. हेडगेवार ने राष्ट्रीय स्वंय सेवक संघ की स्थापना की थी और मंडल के दिनों में जबसे जाति चेतना की हवा चलनी शुरू हुई संघ भी धार्मिक चेतना के मोर्चे पर मुस्तैद हो गया। पर धर्मनिरपेक्षतावादी उदारता का उपदेश देने में ही व्यस्त रहे इसलिए भविष्य में उठने वाले इस भयावह बवंडर का मुकाबला करने के लिए उनके पास कोई उपाय नहीं दिख रहा है। ऐसे में असहाय धर्मनिरपेक्षतावादी सवर्णों के समक्ष जाति चेतना के राजनीतिकरण के जनक और प्रसारक कांशी-माया की बसपा के विरुद्ध मुहिम चलाने के सिवाय कोई विकल्प नहीं है।

जाति चेतना के राजनीतिकरण के पीछे

जबसे भारतीय राजनीति में धर्म और जाति का तत्व प्रभावी हुआ है, धर्मनिरपेक्षतावादी दलों व बुद्धिजीवियों को लग रहा है देश के आर्थिक मुद्दे पृष्ठ में धकेल दिए गए हैं। वे बार-बार चुनावों में धर्म व जाति के नाम पर राजनीति करने वाले दलों पर आरोप लगाते हैं कि ये दल रोटी, कपड़ा, मकान, स्वास्थ्य और बेरोजगारी जैसी आधारभूत समस्याओं की अनदेखी कर राष्ट्र को महज धर्म व जाति के नाम पर बांटने का खेल कर रहे हैं। पिछले दिनों चार राज्यों के विधानसभा चुनावों के दौरान, विशेषकर उत्तर प्रदेश में ये आरोप बार-बार दोहराए गए जिनका सिलसिला चुनाव परिणाम आने के बाद भी थोड़ा-बहुत जारी है।

निश्चिय ही आर्थिक मुद्दों के प्रति इतनी गहरी चिंता व्यक्त करने के लिए धर्मनिरपेक्षतावादी, जो मूलतः साम्यवादी और समाजवादी व गांधीवादी विचारधारा से हैं, साधुवाद के पात्र हैं। लेकिन उनका यह कहना अदूरदर्शिता का सूचक है कि धार्मिक व जातीय चेतना के राजनीतिकरण से आर्थिक मुद्दों की उपेक्षा हुई है। वास्तव में पिछले एक दशक से धार्मिक व जातीय चेतना का जो तीव्र राजनीतिकरण हुआ है उसके पीछे अतीत की तुलना में आर्थिक पहलू को ज्यादा से ज्यादा वरीयता देने की मंशा काम कर रही है। राष्ट्र के संसाधनों पर कब्जा जमाने की तीव्र ललक ने ही आधुनिक भारत के दो सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक प्रतिभाओं को धार्मिक और जातीय चेतना के राजनीतिकरण का सूत्र रचने के लिए प्रेरित किया था। यही कारण है भारत की राजनीति में मौजूदा सत्ता संघर्ष परोक्ष रूप से डॉ. हेडगेवार और कांशीराम की विचारधारा का संघर्ष बनकर रह गया है।

धार्मिक चेतना के राजनीतिकरण के सूत्र रचयिता की दूरदृष्टि समकालीन नेताओं से काफी ज्यादा थी। यही कारण है कि उन्होंने आजादी की लड़ाई में अपनी ऊर्जा को व्यय करना मुनासिब नहीं समझा। उन्होंने महसूस कर लिया था पूरी तरह निचोड़ लिए जाने के बाद भारत खुद अंग्रेजों के लिए बोझ बन गया है। अतः निकट भविष्य में अंग्रेज खुद ही भारत छोड़कर चले जाएंगे। ऐसे में उन्होंने आजाद भारत में अपने समाज के लिए सत्ता की रणनीति बनाने में खुद को व्यस्त किया। 1925 में आरएसएस की स्थापना के कुछ वर्षों पूर्व सात समंदर पार इंग्लैंड में एडल्ट फ्रेंचाइज (वयस्क मताधिकार) आंदोलन के सफल होने की संभावना उज्ज्वलतर हो चुकी थी। ऐसे में उन्हें यह कल्पना करने में दिक्कत नहीं हुई कि जब स्वाधीन भारत में अंग्रेजों की ईजाद की हुई संसदीय प्रणाली लागू होगी तब इंग्लैंड से शुरू हुआ वयस्क मताधिकार यहां भी लागू होगा। वैसे में विशिष्टजन ही नहीं, भूखे अधनंगे दलित-पिछड़ों को भी वोट देने, अपना प्रतिनिधि चुनने का अवसर मिलेगा। तब वे चाहे और कुछ करें या न करें तिलक, नेहरू इत्यादि विशिष्ट ब्राह्मण विद्वानों ने जिन्हें विदेशी (आर्य) प्रमाणित किया है उन्हें तो वोट नहीं ही देंगे। इसी चिंता ने उन्हें तत्कालीन ब्राह्मण विद्वानों के विपरीत आर्य

समाज की जगह हिंदू-संस्कृति के नाम पर आंदोलन चला कर 'विशाल हिंदू समाज' बनाने का सूत्र रचने के लिए विवश किया। उन्होंने भारतीय समाज के गहन अध्ययन के बाद यह भलीभांति जान लिया- *जब हिंदू-धर्म-संस्कृति के नाम पर आंदोलन खड़ा किया जाएगा तो परिणामत: हिंदुओं का जो ध्रुवीकरण होगा उससे विशाल हिंदू समाज बनेगा जिसका नेता ब्राह्मण होगा ही होगा।*

डॉ. हेडगेवार से यह गुरुमंत्र पाकर संघ लंबे अरसे से चुपचाप काम करता रहा। लेकिन मंडल रिपोर्ट के बाद जब दलित-पिछड़ों के हाथ में सत्ता आने का आसार दिखा तब संघ ने राम जन्मभूमि उद्धार के नाम पर आजाद भारत का सबसे बड़ा आंदोलन (अटल बिहारी वाजपेयी के अनुसार) खड़ा कर दिया। परिणाम आज सामने है। स्वयं ब्राह्मण अटल जी अत्यन्त अल्पजन समाज के सदस्य हो कर भी एक नहीं तीन बार देश की बागडोर थाम चुके हैं।

लोग मानते हैं कि जाति चेतना के राजनीतिकरण के जनक मा.कांशीराम ने महामना फुले, डॉ. आंबेडकर, पेरियार, शाहूजी आदि के विचारों पर अपना बहुजनवाद विकसित किया है। पर, मुझे लगता है कि डॉ. हेडगेवार ने भी उन्हें कम प्रभावित नहीं किया था। सचमुच संघ संस्थापक की दूरदर्शिता ने उन्हें प्रभावित किया था, इसलिए विशाल हिंदू समाज की तर्ज पर बहुजन समाज बनाने के लिए उन्होंने फुले के बहुजन मंत्र को ग्रहण किया। जहां हिंदू-धर्म-संस्कृति के उज्ज्वल पक्ष से लोगों को उद्वेलित कर डॉ. हेडगेवार ने विशाल हिंदू समाज बनाने की परिकल्पना की थी, वहीं कांशीराम ने हिंदू-धर्म-संस्कृति के अंधेरे पक्ष अर्थात वर्ण-व्यवस्था में सदियों की वंचना, मर्यादाहीनता व गुलामी के आधार पर बहुजन समाज बनाने का काम शुरू किया। संघ की योजना ने कांशीराम को यह सीख दी कि यदि वर्ण-व्यवस्था में वंचित व शोषित जातियों का ध्रुवीकरण कर दिया जाए तो सत्ता की लगाम दलित-पिछड़े-अल्पसंख्यकों के हाथ में आएगी और सत्ता का उपयोग कर ये जातियां राष्ट्र के संसाधनों में अपनी भागीदारी ले लेंगी। अपनी सोच को अमली रूप देने के लिए उन्होंने योजनाबद्ध तरीके से पहले दलितों की जाति चेतना का राजनीतिकरण किया जो धीरे-धीरे पिछड़ों और अल्पसंख्यकों तक प्रसारित हो गई। जाति चेतना के राजनीतिकरण के फलस्वरूप आज प्राय: संपूर्ण आर्यावर्त की राजनीति में वंचित जातियों का प्रभुत्व हो गया है। जाति चेतना के राजनीतिकरण का तत्व भारतीय राजनीति पर कितना हावी हो गया है, इसकी तस्वीर हाल ही में चार राज्यों में संपन्न हुए विधानसभा चुनावों के परिणाम में देखी जा सकती है। इसमें कुल 650 सीटों में 394 के परिणाम प्राय: जाति आधारित दलों के पक्ष में गए हैं। यह बात और है कि हिंदू धर्म द्वारा खड़ी गई घृणा की दीवार को अतिक्रम कर ये जातियां बहुजन समाज बनने में अभी भी नाकाम हैं।

अगर ध्यान से देखा जाए तो भारत का मतदाता धीरे-धीरे धर्म और जाति के दो खानों में सिमटता जा रहा है। लेकिन कुछ विद्वानों को लग रहा है कि निकट भविष्य में भारतीय राजनीति धर्म और जाति के शिकंजे से मुक्त होकर अपने परंपरागत रूप में आ जाएगी।

ऐसे लोग निश्चिय ही भ्रम के शिकार हैं। आज ब्राह्मणों के नेतृत्व में जिन 10-15 प्रतिशत, प्रभुजातियों का देश के अर्थतंत्र, शिक्षा, स्वास्थ्य, मीडिया, उद्योग एवं वाणिज्य इत्यादि के क्षेत्र में 90 प्रतिशत कब्जा है, उसे बरकरार रखने के लिए उन्हें धर्म की राजनीति से दूर जाना कठिन है। क्योंकि जाति के ध्रुवीकरण की आंधी में ब्राह्मण समाज, क्षत्रिय समाज या वैश्य समाज के नाम पर सवर्णों का चुनाव जीतना दुष्कर है। ये तभी जीत सकते हैं जब विशाल हिंदू समाज के अंग के रूप में मुकाबले में उतरे। और सहस्रों भागों में बंटा हिंदू समाज तभी एक विशाल समाज बन सकता है जब हिन्दुत्व के नाम पर आंदोलन चलाया जाएगा। दूसरी तरफ राष्ट्रीय संसाधनों से वंचित की गई जातियों को अपनी भागीदारी हासिल करने के लिए सत्ता पर कब्जा जमाना आवश्यक है जिसके लिए जाति के नाम पर ध्रुवीकृत होने के सिवाय कोई विकल्प नहीं है। साधनहीन वंचित कांशीराम के सौजन्य से जाति की शक्ति को पहचान गये हैं। इस मोर्चे पर इनकी जरा-सी भी सुस्ती का लाभ उठाकर साधन सम्पन्न प्रभुजातियां हिन्दू के नाम पर चुनाव जीतकर सत्ता पर काबिज होती रहेंगी। अत: इनकी नाकेबंदी के लिए जाति चेतना के राजनीतिकरण की निरंतरता बनी रहेगी। यही नहीं निकट भविष्य में जो भारत विदेशियों का आर्थिक रूप से गुलाम बनने जा रहा है, उसमें मलाई तो विदेशी ले जायेंगे और जूठन भारतीयों को चाटना है। लेकिन यह जूठन भी उसी को मिलेगी जिसके हाथ में सत्ता रहेगी। अत: जूठन पर कब्जा धार्मिक और जाति चेतना के राजनीतिकरण को और तेज करेगा। ऐसे में आर्थिक कारणों से धार्मिक और जाति चेतना के उभार के कम होने के कोई आसार नहीं हैं। अत: यह मानकर चलना ही श्रेयस्कर होगा कि भविष्य में भी भारतीय राजनीति धर्म और जाति से अभिशप्त रहने के लिए लाचार रहेगी।

दलित आंदोलन की दशा और दिशा

क्या दलित आंदोलन समाप्ति की ओर अग्रसर है? विगत कुछ माह से दलित मुद्दों पर बौद्धिक गलियारों में जारी चर्चाओं पर अगर ध्यान दिया जाए तो उत्तर 'हां', में मिलेगा। इस दरम्यान बुद्धिजीवियों के जो निषकर्ष उभर कर सामने आए हैं, उससे यही लगता है कि दलित आंदोलन विराट प्रत्याशा जगाकर, विलुप्ति का रास्ता पकड़ लिया है। दरअसल जबसे पिछली जनवरी में भोपाल में अनुष्ठित दलित सम्मेलन से *भोपाल घोषणापत्र* नाम से विख्यात 21 सूत्रीय दलित एजेंडा उभर कर राष्ट्र के समक्ष आया है तभी से इसके भविष्य को लेकर खुसुर-फुसुर शुरू हो गई थी। लेकिन जबसे दलितों की आशा और आंकाक्षा के प्रतीक के रूप में प्रचारित बसपा ने उत्तर प्रदेश में भाजपा के सहयोग से सत्ता सम्भाला है, दलित आंदोलनों के भविष्य को लेकर आशंकाएं तेज हो गई हैं। आज ढेरों बुद्धिजीवी, जिनमें कुछ दलित भी हैं, दुख के साथ कहने लगे हैं कि दलित आंदोलन अपने रास्ते में भटक कर, समाप्ति की राह पर चला गया है।

इसके पहले दलित आंदोलनों में ऐसा क्या था जो लोगों की प्रत्याशा बढ़ा दिया था? दलित आंदोलन वर्ण-व्यवस्था व जातिवाद के विरुद्ध; शोषण व असमानता तथा परंपरागत रूढ़ियों व आडम्बरों एवं उन सभी मान्यताओं के खिलाफ एक मुहिम के रूप में जारी रहा है जो समाज की प्रगति में बाधक और शोषण व असमानता की पोषक हैं। जाहिर है समता, स्वाधीनता, बन्धुत्व और बहुजन समाज के मानवीय अधिकारों में बाधक हिन्दू धर्म ग्रन्थ, पुराण व स्मृतियां, उनमें वर्णित ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म, कर्मफल, स्वर्ग-नर्क तीर्थाटन, मंदिर, मूति पूजा है इसलिए साहित्य के क्षेत्र में दलित साहित्यकार और फील्ड में दलित संगठन इनके विरुद्ध मुहिम चलाते रहे हैं। अवश्य ही इस आंदोलन में दलितों को धर्मान्तिरित कराने, आरक्षण बचाने और बहुजन समाज को शासक बनाने की मुहिम भी शामिल रही है। हां बाद में इसमें भूमंडलीकरण के विस्तार के साथ-साथ निजी क्षेत्र की नौकरियों में आरक्षण की मांग की सुगबुगाहट भी सुनाई पड़ी है। मूलतः वर्ण-व्यवस्था के खात्मे के लिए क्रियाशील दलित आंदोलनों ने न सिर्फ विपुल संख्यक दलितों को बल्कि भारी मात्रा में उदार सवर्णों को भी प्रभावित किया। उदार सवर्णों को दलित आंदोलनों ने प्रभावित क्यों किया उसकी झलक सुप्रसिद्ध विद्वान मैनेजर पांडे के वक्तव्य में देखी जा सकती है। पांडेजी ने *लोकमत* और *दलित साहित्य* नामक अपने आलेख में कहा है- *दलित आंदोलन से पूरे हिन्दी समाज के विकास में मदद मिलेगी क्योंकि उससे पूरे हिन्दी समाज में जो जातिवाद, रूढ़िवाद, जड़ता और मानसिक पिछड़ापन है, वह सब घटेगा और मिटेगा।*

वास्तव में मानव सभ्यता के समक्ष कलंक के रूप में विद्यमान जातिवाद, रूढ़िवाद, सामाजिक जड़ता और मानसिक पिछड़ेपन के खात्मे के उम्मीद में प्रगतिशील सवर्ण

योजनाबद्ध तरीके से वर्ण-व्यवस्था के ध्वंस पर केन्द्रित दलित आंदोलनकारियों की हौंसला अफजाई किए जा रहे हैं। इसके लिए वे कविता, कहानी, आत्मकथा, उपन्यास आदि विविध विधाओं में लिखे जा रहे दलित साहित्य को प्रोत्साहित करने में एक दूसरे से होड़ लगा रहे हैं। उन्हें दलितों को विकल्प-धर्म देने की कवायद में एक ही विषय पर खंड-खंड में कई रचनाए देने वाले लेखकों को महाविद्वान और मुट्ठी भर दलितों को बुद्ध की शरण में ले जाने वाले अस्थिर लक्ष्य के लोगों को बड़ा नेता कहने में कहीं से भी दिक्कत नहीं है। ऐसे लोगों ने अब डॉ. आंबेडकर की *जाति का उच्छेद* और *हिन्दू-धर्म की पहेलियां* जैसी रचनाओं की प्रशंसा करने की मानसिकता भी विकसित कर ली है। लेकिन *राज्य और अल्पसंख्यक, भोपाल दस्तावेज और घोषणा* एवं *बसपा के भागीदारी सिद्धान्त* पर भूल कर भी चर्चा नहीं करते। क्योंकि ये चीजें, दलित जिस वर्ण-व्यवस्था को अपने दुखों का प्रधान कारण मानते हैं, उसकी असल वंचना से निजात दिलाने का मार्ग प्रशस्त करती हैं, जिससे सवर्णों को नुकसान हैं।

लेकिन जो वर्ण-व्यवस्था दलितों के दुख का प्रधान कारण है उसके मूल चरित्र को समझ कर कांशी-माया और भोपाल घोषणा के रचनाकारों ने अलग राह पकड़ी है। पेरियार के निष्कर्षों और अपने लम्बे अनुभव से इन्होंने समझ लिया है, जब तक लोगों में ईश्वर, हिन्दू-धर्म, शास्त्र और ब्राह्मणवाद के प्रति आस्था है, वर्ण-व्यवस्था को बने रहना है। और यह आस्था सुदूर भविष्य में भी टूटने वाली नहीं है। ऐसे में निकट भविष्य में जो मुमकिन है, उस दिशा में कदम बढ़ा दिया है। वास्तव में वर्ण-व्यवस्था मूलतः एक प्राचीन आरक्षण-व्यवस्था है जिसमें भू-स्वामित्व, शिक्षा, पौरोहित्य, शासन-प्रशासन, व्यवसाय-वाणिज्य सदियों से मात्र सवर्णों के लिए आरक्षित रहे। इस हिन्दू आरक्षण व्यवस्था में निःशुल्क सेवादान के अतिरिक्त राष्ट्र की संपदा, ज्ञान, संस्थाओं में दलितों को कोई भागीदारी नहीं मिली। वर्ण-व्यवस्था के इस आरक्षणवादी चरित्र को समझकर ही डॉ. आंबेडकर ने हिन्दू आरक्षण-व्यवस्था को उलटकर अपना नया आरक्षण प्रवर्तित किया। पर असहाय डॉ. आंबेडकर सर्वत्र भागीदारी सुलभ कराने में असमर्थ रहे। वैसे में राष्ट्र के संसाधनों, व्यवसाय उद्योग, फिल्म टी.वी., मीडिया इत्यादि में दलितों को भागीदारी दिलाना अपना प्रधान कर्तव्य मानते हुए जहां दलित-बुद्धिजीवी अमेरिका की विविधता नीति लागू करवाने की दिशा में यत्न कर रहे है वहीं मायावती अपने सहयोगी दलों के कोप की परवाह किए बिना दलितों को नये-नये क्षेत्रों में भागीदारी सुलभ कराए जा रही हैं।

ऐसा नहीं है कि दलितों की भागीदारी को प्रधानता देने वाले आंदोलनकारियों ने वर्ण-व्यवस्था के खात्मे का सांस्कृतिक आंदोलन छोड़ दिया है। बस, उनकी यह प्राथमिकता में दूसरे नम्बर पर आ गया है। सांस्कृतिक मोर्चे पर ये भी सक्रिय हैं तभी तो भोपाल घोषणा के लेखक चन्द्रभान प्रसाद के *सहारा सलाह* स्तम्भ के हिन्दू पाठक उन्हें पत्र में एन्थ्रेक्स भेजने की धमकी देते हैं और मायावती तो आंबेडकर उद्यान को क्रान्ति के पीठस्थान में परिणत करने के लिए अपनी गद्दी की बाजी लगाने पर आमादा दिख रही है। स्मरण रहे पेरियार के

ठप पड़े *आत्म-सम्मान* के आंदोलन को आगे बढ़ाने वाले कांशी-माया ही हैं और *आत्म-सम्मान* के आंदोलन से बढ़कर वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध कोई सांस्कृतिक आंदोलन हो ही नहीं सकता।

दलित आंदोलनों के कमज़ोर पड़ने की चिन्ता में दुबले होने वालों को यह ध्यान देना चाहिए कि भागीदारी आंदोलनों से दलितों में निकट भविष्य में महत्वाकांक्षा (ऐस्पीरेसन) का निश्चय ही ज्वार आएगा। क्योंकि इसमें उन्हें मानवेतर जीवन से निजात और उन्नततर जीवन की आशा की किरण नजर आ रही होगी। और ऐस्पिरेसन में ही क्रान्ति के बीज छुपे रहते हैं, इसकी साक्षी दुनिया भर में घटित क्रान्तियों का इतिहास है।

भागीदारी का बसपाई दर्शन

अखबारों में छपी खबरों के अनुसार उ.प्र. की नई सरकार में आबकारी मंत्री बसपा के नसीमुद्दीन सिद्दीकी ने, राजस्व में घाटे की दुहाई देकर, लाटरी के बजाए खुली नीलामी के जरिए शराब की दुकानें आबंटित करने का संकेत दे दिया है। अगर यह सही है तब तो आबकारी नीति से कुछ तिक्तता पैदा हो सकती है। क्योंकि यह मामला उस पूर्व मुख्यमंत्री राजनाथ सिंह की निजी प्रतिष्ठा से जुड़ा हुआ है, जिन्होंने गत् 17 मई को विश्वास मतदान के दिन मायावती से भी जोरदार तरीके से गठबंधन सरकार का समर्थन करते हुए, बसपाध्यक्ष कांशीराम की तुलना महात्मा फुले, डॉ. आंबेडकर और महात्मा गांधी जैसे महापुरुषों से की। पिछली सरकार में सिंह ने शराब सिंडिकेट के एकाधिकार को ध्वस्त करने के इरादे से खुली नीलामी की जगह लाटरी पद्धति की शुरुआत की थी और भाजपा ने उनकी उस आबकारी नीति को पारदर्शिता की खास मिसाल बताते हुए चुनावी मुद्दा तक बनाया था। ऐसे में लगता है मौजूदा आबकारी नीति में बदलाव मायावती सरकार के लिए एक जोखिम भरा फैसला हो सकता है। कारण, एक तो भाजपा से उसके रिश्ते में कड़वाहट पैदा हो सकती है और दूसरे, जनता के बीच यह संदेश जा सकता है कि सरकार शराब सिंडिकेट के दबाव में आ गई है। इस सच्चाई की रोशनी में बेहतर यही होगा कि बसपा भिन्न विकल्प पर ध्यान दे। सर्वोत्तम तो यही होगा कि राजनाथ सिंह की लाटरी वाली नीति पर ही अमल करते हुए, बसपा शराब की दूकानों के आबंटन में अपनी बहुप्रचारित भागीदारी नीति शामिल कर दे, यदि प्रदेश में मद्यनिषेध लागू नहीं होता है तो?

वास्तव में अगर शराब की दुकानों के आबंटन में बसपा भागीदारी दर्शन लागू कर देती है तो यह वंचित समाज की आर्थिक-मुक्ति के मोर्चे पर एक बड़ी पहलकदमी होगी। शराब समाज के लिए जितनी भी हानिकारक हो, इस व्यवसाय से जुड़े लोगों के लिए आर्थिक दृष्टि से यह काफी लाभकारी रही है। अब तक की सरकारों की आबकारी नीति के चलते इस व्यवसाय में सवर्णो सहित मात्र कुछ दबंग पिछड़ी जातियों का ही आधिपत्य रहा है। लाटरी द्वारा आबंटित करने से अवश्य ही इसमें कुछ नये लोगों का प्रवेश हुआ पर ये नये लोग भी उन्हीं जातियों से रहे। यदि बसपा शराब की दुकानों के आबंटन में भागीदाीर सुनिश्चित कर देती है तो इससे सर्वाधिक लाभान्वित वह दलित समाज होगा जो व्यवसाय-वाणिज्य के क्षेत्र में सदियों से पूरी तरह बहिष्कृत है।

जिस वर्ण-व्यवस्था को कांशी-माया बहुजन समाज के आर्थिक व सामाजिक रूप से पिछड़ेपन का प्रधान कारण मानते रहे हैं वह मूलतः एक वितरण व्यवस्था है। इसमें शिक्षा, शासन-प्रशासन, भू-स्वामित्व, व्यवसाय-वाणिज्यादि के अधिकार मात्र ब्राह्मण, क्षत्रिय व

वैश्यों के मध्य वितरित रहे। शूद्रातिशूद्रों (पिछड़ों-दलितों) की इन क्षेत्रों में भागीदारी शून्य रही। कई हजार वर्षों से जारी इस वितरण-व्यवस्था में सवर्णों की सोशल पुलिस के रूप में कार्य करने के कारण पिछड़ों को भी कुछ भाग मिल गया पर दलितों की भागीदारी शून्य ही रही। दलितों को भागीदारी दिलाने की पहल सबसे पहले अंग्रेजों ने की लेकिन सही मायने में इजाफा डॉ. आंबेडकर ने किया। पर, संविधान निर्माण के समय बाबासाहेब सबसे असहाय स्टेट्समैन रहे। वे चाह कर भी सभी क्षेत्रों में इनकी भागीदारी सुनिश्चित न कर सके क्योंकि उनके पास दलितों की संगठित राजनैतिक शक्ति नहीं थी। विशेषकर व्यवसाय-वाणिज्य के क्षेत्र में कुछ भी न कर सके। हालांकि श्रममंत्री रहते हुए उन्होंने 1942 के दिनों में केन्द्रीय सार्वजनिक निर्माण विभाग के ठेकों में दलितों की भागीदारी की मांग रखकर बहिष्कृत लोगों को व्यवसायी बनाने की दिशा में एक असफल कोशिश जरूर किया था। लेकिन सरकारी नौकरियों में भागीदारी मिल गई है पर निजी क्षेत्र विशेषकर व्यवसाय-वाणिज्य के क्षेत्र में दलित लगभग हजारों वर्ष पूर्व की ही स्थिति में हैं। यादव, कुर्मी, जाट, लोध, गुर्जर, मौर्या इत्यादि के भी सवर्णों के बगल में ही व्यावसायिक प्रतिष्ठान देखे जा सकते हैं पर दलितों के नहीं। अस्पृश्य का लेबल लगे होने के कारण दलित गांव या कस्बों में चाय, पान-बीड़ी, ढाबा या सब्जी की कम लागत वाली दुकानें तक नहीं खोल सकते।

भूमंडलीकरण की नीति के कारण जिस तेजी से सरकारी क्षेत्रों से अवसर लुप्त होते जा रहे हैं; सरकारी दुकानें, सरकारी ठेकों, पेट्रोल पंप, गैस एजेन्सी, सरकारी व निजी क्षेत्रों में विभिन्न वस्तुओं की सप्लाई एवं डीलरशीप में संख्यानुपात में दलितों की भागीदारी, हजारों वर्षों के बहिष्कृत मानवेतरों के बचे रहने की पूर्व शर्त बन गई है। भूमंडलीकरण के भयावह परिणामों का आकलन करके सर्वत्र भागीदारी पाने की उम्मीद से ही मतदाता बसपा को लगातार शक्तिशाली बनाता जा रहा है। यूं तो बसपा ने एक से एक आक्रामक व लुभावने नारे तैयार किए हैं पर सबसे अधिक दलित जनता उसके इस नारे-*जिसकी जितनी संख्या भारी, उसकी उतनी भागीदारी*-से आकृष्ट हुई। ठीक वैसे ही बसपा ने अनगिनत मुद्दों पर रैलियां, सभाएं, संगोष्ठियां आयोजित की है पर सर्वाधिक प्रभावशाली आयोजन *भाईचारा बनाओ और भागीदारी* अभियान पर रहा। *जिसकी जितनी संख्या भारी, उसकी उतनी भागेदारी*-का संदेश बहुजन समाज तक पहुंचाने के लिए बसपा ने भागीदारी आंदोलन पर जो सभाएं की उनमें 14 अक्टूबर 89, 9 जनवरी 1991 और 9 जनवरी 1993 को नागपुर 20 अगस्त 93 दुर्ग (म. प्र.), 16 अक्टूबर 1993 कोरबा (म.प्र.), 17 अक्टूबर 1993 भिलाई (म.प्र.), 25 नवंबर 1995 जीन्द (हरियाणा) और 17 अक्टूबर 1996 की लुधियाना की सभाएं विशेष रूप से यादगार मानी गई हैं। भागीदारी के प्रति जन जागरण अभियानों के अतिरिक्त प्रायः हर सभा में कांशीराम द्वारा व्यक्त किए जाने वाला यह उद्‌गार-*मेरा मुख्य मकसद सामाजिक रूपान्तरण और आर्थिक मुक्ति है, जिसके लिए हमें शुरुआती तौर पर राजनीतिक प्रभाव और अंतिम तौर राजनीतिक सत्ता चाहिए*- भी बसपा के प्रति दलितों का झुकाव बढ़ाने में काफी सहायक हुआ है। आज बसपा के हाथ में केन्द्र की सत्ता तो नहीं लेकिन उस प्रदेश की सत्ता जरूर है जो भारतीय राजनीति की दिशा निर्धारित करता है। कांशी-माया ने इसी उ.प्र. से जाति

चेतना के राजनीतिकरण का अभियान चलाकर पूरे देश में सवर्णों का राजनीति में वर्चस्व तोड़कर रख दिया है।

1952 के 5.45% के मुकाबले 1998 में संसद में पिछड़ों की भागेदारी 34.67 हुई है तो उसका सर्वाधिक श्रेय बसपा के जाति चेतना प्रसार अभियान को जाता है। स्वतंत्रता की स्वर्णजयन्ती अवसर पर कांशीराम ने बहुत दुख के साथ कहा था– *आर्थिक समानता तथा रोजगार व्यापार और व्यवसाय के समान असवर की दिशा में हमने ठोस प्रगति नहीं की।* इस अवसर का निर्माण तो व्यापार और व्यवसाय के क्षेत्र में भागीदारी सुलभ कराकर ही की जा सकती है। अगर मायावती अपने गुरु के चेहरे पर मुस्कान बिखेरने के लिए बहुजन भाइयों की आर्थिक मुक्ति की दिशा में कुछ ठोस काम करना चाहती हैं तो उसके लिए आज से बेहतर हालात उन्हें शायद ही नसीब हों।

सचमुच व्यवसाय–वाणिज्य के क्षेत्र में अपने भागीदारी दर्शन को अमली रूप देने की शुरुआत अगर मायावती शराब की दुकानों में आबंटन से करती हैं तो उन्हें अपने प्रतिद्वन्द्वी राजनीतिक दलों से समर्थन पाने में कहीं से भी दिक्कत नहीं आएगी। सांप्रदायिकता विरोध के जुनून में, एक सांप्रदायिक दल से गठबंधन करने का आरोप लगाने वालों को यह याद ही नहीं रहा कि मायावती ने एक ऐसे दल से भी गठजोड़ किया है जिसने सामाजिक न्याय के क्षेत्र में कुछ अनूठी घोषणाएं करके एवं सामाजिक न्याय की प्रतिश्रुति तुंग पर पहुंचा कर अपनी स्थिति हास्यास्पद कर ली थी। मायावती ने भाजपा की उस मनोवैज्ञानिक कमजोरी को ध्यान में रखकर ही उसके साथ गठजोड़ किया है। उन्हें मालूम था सामाजिक अन्याय के शिकार बने लोगों के हित में जब भी प्रस्ताव रखेंगी, स्वाधीन भारत में सामाजिक न्याय का सबसे बड़ा पक्षधर होने का दम्भ भरने वाली भाजपा समर्थन देने के लिए विवश रहेगी। ऐसे में अगर मायावती शराब की दुकानों के आबंटन में भागीदारी लागू करने का प्रस्ताव रखती हैं, भाजपा अवश्य ही समर्थन देगी। सिर्फ भाजपा ही नहीं, संविधान समीक्षा आयोग द्वारा सरकारी दुकानों, पेट्रोल पंपों, गैस एजेन्सी, सरकारी ठेकों में आरक्षण देने की सिफारिस करने के कारण सभी विरोधी दल भी, आर्थिक क्षेत्र में भागीदारी का बसपा यदि कोई प्रस्ताव विधान सभा में रखती है, समर्थन करने के लिए नैतिक दृष्टि से बाध्य होंगे। अतः अनुकूल अवसर का सदव्यवहार करने के लिए बसपा व्यवसाय–वाणिज्य के क्षेत्र में भागीदारी हेतु प्रस्ताव लाए। वैसे भी जबकि म.प्र. के मुख्यमंत्री दिग्विजय सिंह, भोपाल में तैयार 21 सूत्रीय दलित एजेण्डे को मान्यता देते हुए, समाज कल्याण विभाग की खरीदारी में 30% माल दलित व्यवसायियों से खरीदने की शुरुआत करने जा रहे हैं एवं 24 मई को संपन्न हुए अपने अखिल भारतीय सम्मेलन में कांग्रेस ने उस दलित एजेण्डे के प्रति सकारात्मक रुख जाहिर कर दिया है, बसपा के लिए अपने भागीदारी दर्शन का आर्थिक क्षेत्र में अविलंब क्रियान्वयन, एक अत्याज्य कार्य हो गया है।

मायावती की दुविधा

27 सितम्बर ज्यों-ज्यों निकट आता जा रहा है, उत्तर प्रदेश की मुख्यमंत्री कुमारी मायावती की राजनीतिक घेराबंदी बढ़ती ही जा रही है। इसके मूल में है सुप्रीमकोर्ट का वह निर्देश जिसके तहत उन्हें 27 सितम्बर तक यह बताने को कहा गया था कि बाबरी मस्जिद ढहाने वालों पर मुकदमा चलाने के लिए विशेष अदालत के गठन की नई अधिसूचना जारी करने के मामले में उनका निर्णय क्या है? ज्ञातव्य है कि बाबरी मस्जिद ध्वंस के मामले में सीबीआई ने 1993 में चार दर्जन अभियुक्तों के खिलाफ लखनऊ की विशेष अदालत में आरोप पत्र दाखिल किया था। लेकिन विशेष अदालत संज्ञान ले पाती इससे पहले ही अभियुक्त इलाहाबाद हाईकोर्ट की लखनऊ पीठ में चले गए, जहां उन्होंने विशेष अदालत के गठन को ही चुनौती दे डाली। पिछले वर्ष लखनऊ पीठ ने विशेष अदालत के गठन की अधिसूचना को तकनीकी दोष के आधार पर रद्द करते हुए राजनाथ सरकार को अवसर दिया था कि अगर वह अभियुक्तों पर मुकदमा चलाने की इच्छुक है तो खामियों को दूर कर नये सिरे से अधिसूचना जारी कर सकती है। पर राजनाथ सिंह की सरकार ने वैसा नहीं किया। लेकिन बाद में मोहम्मद असलम उर्फ भूरे ने सुप्रीम कोर्ट में याचिका दायर कर विशेष अदालत गठन करने की फरियाद कर डाली जिसे मंजूर करते हुए सुप्रीम कोर्ट ने 27 सितम्बर तक मायावती सरकार को अपने रुख से अवगत कराने का निर्देश जारी कर दिया। 27 सितम्बर अब निकट आ रहा है पर मायावती सरकार अपना निर्णय नहीं ले पाई है।

दरअसल इस मामले में मायावती सरकार निर्णय लेने में क्यों बिलम्ब कर रही है इससे राजनीति की न्यूनतम समझ रखने वाले भी अवगत हैं। सबको मालूम है कि इस मुकदमें में चार दर्जन अभियुक्तों के साथ लालकृष्ण आडवाणी, मुरली मनोहर जोशी, उमा भारती आदि केन्द्रीय मंत्रियों का भी नाम जुड़ा है। यदि मायावती सरकार नई अधिसूचना जारी करती है तो विशेष अदालत के गठन के बाद उसमें दाखिल आरोप पत्रों पर संज्ञान लिए जाने पर आडवाणी, जोशी और सुश्री भारती को इस्तीफा देना पड़ सकता है। ऐसे में मायावती सरकार को भी इस्तीफा देने की नौबत आ सकती है। कारण, तब वह भाजपा, जिसके सहयोग से मायावती सरकार विगत चार महीनों से सत्ता पर काबिज है, अपना समर्थन वापस लेने में बिलम्ब नहीं करेगी। अगर सत्ता बचाने के लिए मायावती सरकार विशेष अदालत के गठन की नई अधिसूचना जारी नहीं करती हैं तो उसे धर्मनिरपेक्षता की नींव हिलाने वाली भाजपा को बचाने का इल्जाम मोल लेना पड़ेगा। कथित धर्मनिरपेक्षतावादी मायावती सरकार की इस दुविधा को समझ रहे हैं इसलिए वे अपनी राजनीतिक घेराबन्दी तेज कर रहे हैं। सुप्रीम कोर्ट के निर्देश ने इनके दोनों हाथों में लड्डू पकड़ा दिया है। यदि सरकार गिर जाती है तो उनकी मन मांगी मुरादें पूरी हो जाएंगी और यदि बच जाती है तो उसकी मनुवाद विरोधी छवि को नुकसान पहुंचाने का सुनहरा अवसर हाथ आ जाएगा।

लेकिन कोई निर्णय लेने के पहले मायावती जी को यह सोचना होगा कि उन्होंने शराब व राशन की दुकानों के आबंटन और निजी क्षेत्र की नौकरियों में दलित-पिछड़ों की भागीदारी के लिए प्रयास कर बहुजन समाज की प्रत्याशा काफी बढ़ा दिया है। वर्ण-व्यवस्था एक प्राचीन आरक्षण-व्यवस्था है जिसमें बहुजन समाज को विगत तीन हजार वर्षों से देश की संपदा, ज्ञान और संस्थाओं के क्षेत्र में कोई भागीदारी नहीं मिली। वंचित बहुजन समाज को समस्त क्षेत्रों में भागीदारी सुलभ कराने के लिए ही बसपा येन-केन-प्रकारेण सत्ता में काबिज होने की जुगत भिड़ाती रही है। ऐसे में वंचितों को पांच साल तक भागेदारी सुलभ कराने के लिए मिले अवसर को, कदाचित धर्मनिरपेक्षतावादियों के डर से, पांच माह में ही खो देने से बहुजनों को भारी निराशा होगी। मा. कांशीराम ने बहुजन समाज के हित में बराबर मजबूत नहीं, मजबूर सरकार की कामना की है। संयोग से आज केन्द्र में वैसी ही सरकार है जो बसपा पर आश्रित हो गई है और आज उसकी मजबूरी का फायदा उठाकर बसपा को उत्तर प्रदेश में अपना इकतरफा एजेंडा लागू करने का अवसर मिल रहा है। क्या इतिहास ऐसा अवसर बार-बार सुलभ कराएगा ? ऐसी मजबूर सरकार को परेशानी में डालने पर मायावती जी धर्मनिरपेक्षतावादियों की नजर में नायिका बनकर उभर सकती हैं पर वंचित समाज की भागीदारी का क्या होगा?

जहां तक बदनामी का सवाल है, इस देश के लोगों की स्मरण शक्ति निहायत ही दुर्बल है। डॉ. हेडगेवार, गोलवलकर, श्यामा प्रसाद मुखर्जी, डी.डी. उपाध्याय जैसे उग्र हिन्दुवादियों के विचारों से भली-भांति अवगत होकर भी राममनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण ने गैर-कांग्रेसवाद के नाम पर जनसंघ से हाथ मिलाया, पर क्या वे आज भी महानतम धर्मनिरपेक्षतावादी नेता के रूप में याद नहीं किए जाते हैं ? परवर्तीकाल में गैर-कांग्रेसवाद के ही नाम पर वी.पी. सिंह, ज्योति बसु, लालू प्रसाद यादव, मुलायम सिंह यादव, सैयद शहाबुद्दीन, इमाम बुखारी, मो. आजम खान, रामविलास पासवान आदि अनेकों नेताओं और बुद्धिजीवियों ने 1984 में मृतप्राय कर दी गई भाजपा को अप्रतिरोध्य राजनीतिक शक्ति में उभरने का अवसर मुहैया कराया। क्या इससे इनकी छवि पर कोई आंच आई है? वैसे भी भाजपा का सहयोग लेने से बसपा की छवि पर जितनी आंच आनी चाहिए आ चुकी है।

जहां तक भाजपा विरोधी सही रणनीति का तकाजा है, उस लिहाज से भी आडवाणी, जोशी, उमा भारती को अदालत के कटघरे में खड़ा करवाना, एक गलत फैसला होगा। ऐसा करने पर ये तीनों हिन्दुओं के और बड़े हीरो-हीरोइन के रूप में उभरेंगे। जब गुजरात में आधुनिक भारत में सबसे बड़ा जनसंहार घटित करने के बाद नरेन्द्र मोदी एक विराट हिन्दू नायक के रूप में विचरण कर रहे हैं तो जिस बाबरी मस्जिद की छवि, हिन्दुओं के जेहन में गुलामी के प्रतीक के रूप में स्थापित कर दी गई है, उसके ध्वंसकारी अपराधी के रूप में कठघरे में पहुंच कर ये कैसे नहीं हीरो बनेंगे। संयोग से इन्हें कानून फांसी की भी सजा सुना दे, तो भी क्या धर्मनिरपेक्षतावादियों का मंसूबा पूरा हो पाएगा? ये रक्तबीज हैं जो मात्र एक विचार विशेष के संवाहक हैं। इनमें से एक मरेगा तो उसकी जगह रक्तबीज की तरह कई पैदा हो जाएंगे। भाजपा को अगर खत्म करना है तो उसके नाभिस्थल पर आक्रमण करना

होगा, जहां हिन्दू-धर्म संस्कृति विराज करती है। भाजपा के मातृ-संगठन आर.एस.एस. ने खुद को बड़ी चालाकी से हिन्दू धर्म-संस्कृति के साथ एकाकार कर लिया है। ऐसे में जब तक हिन्दू-धर्म-संस्कृति के प्रति लोगों में जरा भी आकर्षण है, संघ-परिवार हिन्दू-धर्म के नाम पर कोई बवाल खड़ा कर हिन्दुओं की धार्मिक चेतना को वोट के रूप में तब्दील कर बहुजन समाज की जाति चेतना के राजनीतिकरण का मुकाबला करता रहेगा। और भाजपा के नाभिस्थल पर हमला करने की मानसिक दृढ़ता धर्मनिरपेक्ष वादियों के पास नहीं है। यह एक दीर्घसूत्रीय कार्यक्रम है जिसे मायावती ही आंबेडकर पार्क बनाकर और पेरियार का आत्म-सम्मान का आंदोलन चलाकर पूरा कर सकती हैं। और यह तभी संभव है जब वह अपना पांच साल का कार्यकाल किसी तरह पूरा कर सकें। वैसे लखनऊ में 28 सितम्बर को आयोजित होने वाली निन्दा-धिक्कार महारैली में आडवाणी को आमंत्रित कर, लगता है बहुजन समाज के हित में मायावती जी ने फिर एक निर्भूल निर्णय ले लिया है।

राजाशाही पर लोकशाही का कहर

भाई मानना पड़ेगा आयरन लेडी को, उसने इतना करारा प्रहार किया है कि राजा भैया को आज पछतावा हो रहा होगा कि कहां से राजनीति के चक्कर में आ फंसा, अपना पुराना धंधा ही अच्छा था।...सचमुच यह सामंतशाही पर लोकशाही का काबिले तारीफ हमला हुआ है। यह प्रतिक्रिया एक मशहूर अखबार के सहायक संपादक की है, जो उन्होंने 27 जनवरी की शाम अनायास ही उस समय जाहिर की थी, जब मैं अपना एक लेख देने उनके केबिन में नमूदार हुआ था। लेकिन राजा भैया प्रकरण ने जिस उत्तर प्रदेश की राजनीति में उबाल पैदा किया है, वहां के प्राय: तमाम गैर-बसपाई जनप्रतिनिधियों की राय उपरोक्त प्रतिक्रिया से बहुत भिन्न है। उनके अनुसार उत्तर प्रदेश में पोटा का दुरुपयोग हुआ है। आज इसी पोटा की वजह से शासक दल और शेष दलों में ठन गई है। लेकिन पोटा के नाम पर इस राज्य में जो घमासान जारी है, उसके मूल में कुछ और कारण हैं।

राजनैतिक विश्लेषकों के अनुसार राजा भैया जेल से रिहाई के बाद न सिर्फ क्षत्रियों के नेता के रूप में उभरेंगे, बल्कि मायाराज में अराजकता का शिकार बनी कुछ दूसरी जातियां भी उन्हें नेता मान सकती हैं। यह हिसाब लगाकर ही सपा के मुलायम सिंह यादव, कांग्रेस के अरुण सिंह मुन्ना, माकपा के सीताराम येचुरी, भाजपा के विनय कटियार, राजनाथ सिंह इत्यादि राजा भैया उर्फ रघुराज प्रताप सिंह, उनके भाई अक्षय प्रताप सिंह और पिता उदय प्रताप सिंह को बचने में एक-दूसरे से होड़ लगा रहे हैं। इसी इरादे से वे पोटा तामीली के फैसले को लोकतंत्र की हत्या, नादिरशाही, अपराध इत्यादि कहकर अनुचित ठहराने की मुहिम छेड़े हुए हैं। राजा भैया को लोकशाही के कहर से निजात दिलाने में जुटे नेताओं का साझा तर्क है कि पोटा आंतकवादी और राष्ट्र विरोधी कार्यो में शामिल लोगों के लिए है और राजा भैया व उनके भाई-पिता न तो आतंकवादी हैं न ही किसी राष्ट्र विरोधी षडयंत्र में शामिल रहे हैं।

लेकिन राजा भैया समर्थकों का यह तर्क अवाम के गले नहीं उतर रहा है। राजा भैया और उनके पिता आतंक फैलाने वाले और राष्ट्र विरोधी नहीं, तो क्या अमनपसंद, राष्ट्रप्रेमी आदर्श नागरिक हैं ? यह क्षत्रिय समाज ही है, जो शास्त्रों द्वारा राज्य-संचालन और शस्त्र-धारण के एकाधिकार से पुष्ट हो कर हिंदूराज में शूद्रातिशूद्र बहुजनों की जिंदगी पशुतुल्य बनाने के लिए सीधे तौर पर जिम्मेदार रहा है। स्वमी विवेकानंद की भाषा में कहा जाए, तो दबे-कुचले लोगों पर इनके अतिशय अत्याचार के कारण ही ईश्वर के कोप से मुसलमान विजेताओं के समक्ष इनकी तलवारे खंड-खंड हो गईं और भारत में मुसलमानी शासन कायम हुआ। लेकिन जमाना बदल जाने के बावजूद हिंदू शास्त्रों द्वारा संस्कारित इनके चरित्र में

अपेक्षित बदलाव नहीं आया। इसीलिए अधिकतर क्षत्रिय अपने नाम के साथ 'सिंह' उपनाम लगाकर हिंदू जन-अरण्य में वैसा ही आचरण करते हैं, जैसे जंगल में सिंह। आज इन्हीं क्षत्रियों की जमात में नए-नए भूस्वामी शूद्र भी शामिल हो गए हैं। नव-सामंत बने ऐसे ही शूद्रों की संतान हैं मुलायम सिंह यादव, विनय कटियार, कल्याण सिंह, उमा भारती, नरेंद्र मोदी, प्रवीण तोगड़िया, वेंकैया नायडू इत्यादि। नए सिरे से जिस दिन हिंदूराज कायम होगा, नए-पुराने क्षत्रिय, समाज में सिंह बनकर वह पराक्रम दिखाएंगे कि जंगल के सिहं भी फीके पड़ जाएंगे। लेकिन आदर्श हिंदूराज न कायम होन के बावजूद देश की अधिकतम भूमि, उद्योगों और अपराध कर्म पर कब्जा जमाए इन सामंतों के कारण गांवों में जिस तरह दलित-शोषित आतंक के साए में जीने के लिए विवश हें, उसके सामने सीमापार का आंतक पासंग भी नहीं है।

हिंदूराज में जिस सिंहशाही अर्थात सामंतशाही के आतंक के उभरने के आसार हैं उसका पूर्ण प्रस्फुरण कुंडा इलाके में हुआ था। इसका साक्षी 25 जनवरी के बाद वहां से बरामद किए गए हीरे, जवाहरात, चांदी के बर्तन और हथियारों के जखीरे के साथ मानव कंकाल भी हैं। प्रचार माध्यम बता रहे हैं, कुंड़ा साम्राज्य के राजा के डर से सड़कें उस समय वीरान हो जातीं, जब उनका काफिला निकलता। उनके महल के पास के तालाब में मगरमच्छ होने की बात ने उनके आतंक को अंतिम बिंदु पर पहुंचा दिया था। पुलिस और विपक्षी दलों के दावे के मुताबिक राजा भैयार अपने विरोधियों की लाश को मगरमच्छों के हवाले कर सारा सबूत मिटा दिया करते थे। वे किसी प्राचीन राजा की भांति दरबार भी लगाते थे, जिसमें उनके दिए गए फैसलों को शिरोधार्य करने के लए जनता विवश थी। चूंकि वहां सामंतशाही अपने क्लैसिकल स्वरूप में सर्वशक्ति से क्रियाशील रही, इसलिए सैकड़ों एकड़ के तालाब, एकाधिक किलोमीटर के बाग, टूसीटर निजी विमान के स्वामी, करोड़पति राजा भैया के राज में दलित, अतिपिछड़े और अल्पसंख्यक तो नत-मस्तक रह कर जीते ही रहे, सवर्ण सामाजिक कार्यकर्त्ताओं तक के लिए अपनी गतिविधियां चलाना दुष्कर रहा।

लोकशाही के जमाने में राजा भैया 'यूथ ब्रिगेड' के माध्यम से अपने इलाके में राजशाही कायम करने के बाद अपने पिता, जिन पर 1958 से लेकर अब तक चालीस आपराधिक मामले दर्ज हैं, की इच्छा के खिलाफ 1993 में निर्दल प्रत्याशी के रूप में विधान सभा चुनाव लड़े और 1996 और 2002 में विधायक भी बने। यही नहीं, भाजपा के निकट माने जाने वाले राजा भैया 1997 में कल्याण सिंह सरकार में कैबिनेट मंत्री भी बने। लेकिन 2002 के अक्टूबर में जब उत्तर प्रदेश मंत्रिमंडल का विस्तार हुआ, तो राजनाथ सिंह की सिफारिश के बावजूद मायावती ने उन्हें मंत्री नहीं बनाया। अपमान से आहत कुंडा के राजा ने 'दलित की बेटी' को सबक सिखाने का मंसूबा बनाया। उनके मंसूबों का पता चलते ही, राजनैतिक जोड़-तोड़ के श्रेष्ठतम शिल्पी ठाकुर अमर सिंह ने मायावती सरकार को गिराने के लिए असली क्षत्रियों के साथ नकली क्षत्रियों को भी लामबंद करना शुरू किया। पर, इससे पहले कि लोकशाही पर राजा भैया की सक्रियता से क्षत्रियशाही हावी होती, दलित की बेटी ने अवसर पाकर उन्हें

जेल में बंद कर उनका खेल ही बिगाड़ दिया। हालांकि इस बीच कई ताकतवर मुख्यमंत्री आए और गए, लेकिन विगत तेरह सालों में बीस से अधिक मुकदमे झेल रहे राजा भैया को जेल भेजने का साहस दिखाया, तो मायावती ने ही।

मुमकिन है, मायावती की देखा-देखी आने वाले दिनों में दूसरे मुख्यमंत्री भी राजनीति से प्रेरित होकर विपक्ष के राजा भैयों के खिलाफ यही कदम उठाना शुरू कर दें। यदि यह सिलसिला शुरू हो गया, तो शायद आने वाले दिनों के राजा भैयों को राजनीति में आने पर पछतावा होने लगेगा। इससे भारतीय समाज भले ही भयमुक्त न हो, राजनीति तो अपराधी-मुक्त हो ही जाएगी।

मायावती को मुलायम का आभारी होना चाहिए

गत् 9 अप्रैल की सुबह मैं सोया ही हुआ था कि फोन की घंटी सुनकर उठ जाना पड़ा। वह फोन लखनऊ के मेरे बेहद करीबी उस शख्स का था जो बसपा के छोटे-मोटे नेता हैं। फोन पर वे काफी चहक रहे थे। मैंने उनके चहकने का कारण पूछा। उन्होंने कहा कल मुलायम सिंह यादव द्वारा दूसरी सीडी जारी करने से हमारे लोगों में भारी हर्ष है। आपके तरफ कैसी प्रतिक्रिया हुई है। मैंने कहा मुझे तो यह भी पता नहीं है कि सीडी जारी हो चुकी है ऐसे में मैं कैसे लोगों की प्रतिक्रिया बता सकता हूं। आप कुछ दिन बाद फोन करें तो बता पाऊंगा। मेरा शुष्क उत्तर सुनकर उन्हें भी लगा शायद नींद में खलल पड़ जाने के कारण ज्यादा बात करने के मूड में नहीं हूं। लिहाजा उन्होंने अपनी बात को आगे बढ़ाये बिना फोन रख दिया। हांलाकि मैंने भी अखबारों में पढ़ रखा था कि श्री यादव दूसरी सीडी आजकल में ही जारी करने वाले हैं। यही नहीं उस सीडी से क्या बात सामने आने वाली है इसका कुछ आभास अखबारों से मिल चुका था जिसके आधार मैंने भी अनुमान लगा लिया था कि मायावती भारी लाभ में रहेंगी। लेकिन उस दिन फोन सुनने के बाद जब ध्यान से अखबार पढ़ा तो लगा बसपाईयों को जश्न मनाने का भारी सामान दूसरी सीडी ने मुहैय्या करा दिया है।

हाल के वर्षों में मायावती का राजनीतिक ग्राफ विस्मयकर रूप से ऊंचा उठा है। भारत वर्ष के लंबे इतिहास में उन्होंने पहली दलित महिला के रूप में एक नहीं तीन-तीन बार मुख्यमंत्री की गद्दी हासिल कर एक रिकार्ड बनाया है। मुख्यमंत्री के रूप में वे अपने तीनों कार्यकाल में जिस तरह असामाजिक तत्वों, नौकरशाहों और राजनीतिक प्रतिद्वन्दियों से निपटीं उससे उनकी छवि निर्विवाद रूप से 'आयरन लेडी' के रूप में स्थापित हो गयी। अब तो वे आत्मविश्वास के साथ खुद को सर्वजन समाज की नेत्री भी घोषित करने लगी हैं। लेकिन बहुजन समाज से सर्वसमाज की यात्रा में काफी कुछ हासिल करने के बावजूद उन्होंने फायर ब्रांड मनुवाद विरोधी अपनी छवि को क्षतिग्रस्त कर लिया था। हिंदूवादी भाजपा का बार-बार सहयोग लेने और मनुवाद विरोधी अपना तेवर नरम कर लेने के कारण खुद दलितों में से जो लोग बसपा से ही हिंदुत्व विरोध का प्राथमिक पाठ पढ़कर धर्मांतरण अभियान में जुट गये थे, वे भी मायावती के रवैये का सरेआम माखौल उड़ाने लगे थे। माखौल उड़ाने का अवसर धर्मनिरपेक्षतावादियों को भी मिल गया था। चूंकि बसपा दलित आंदोलनों का प्रतीक बन चुकी थी इसलिए मायावती का मनुवाद विरोधी तेवर ढीला पड़ते देख बसपा विरोधियों ने धड़ल्ले से कहना शुरू कर दिया था कि दलित आंदोलन दिशाहीन हो गया है। लेकिन ऐसा नहीं कि भाजपा के साथ सत्ता की भागीदारी कर के मायावती ने सिर्फ अपने विरोधियों को मुखरित होने का अवसर दे दिया था, हाल के दिनों में खुद उनके एकनिष्ठ दलित समर्थकों में भी उनके प्रति मोहभंग का रूझान दिखने लगा था। इन्हें ऐसा लगने लगा था

कि जो मायावती एक जमाने में, अपने भाषणों से आग उगलने वाली उमा भारती और साध्वी ऋतम्भरा का आंबेडकरवादी जवाब हुआ करती थीं उसकी हत्या खुद मुख्यमंत्री मायावती ने ही सत्ता की लालच में कर दी है।

दलितों में शुरू हुई इस मोहभंग की प्रक्रिया के लिए कांशी-माया ही जिम्मेवार थे। इन्होंने अपने सांस्कृतिक आंदोलनों के जरिये सदियों से भारतीय समाज के शोषित दलित बहुजन समाज की प्रगति में बाधक और असमानता की पोषक वर्णवादी उर्फ मनुवादी व्यवस्था के यम के रूप में अपनी छवि स्थापित कर लोगों की प्रत्याशा तुंग पर पहुंचा दिया था। चूंकि मनुवादी व्यवस्था का प्राण वेद-पुराण-स्मृतियां इत्यादि हिंदू धर्म-ग्रन्थ एवमं उनमें वर्णित ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नर्क, तीर्थाटन, मंदिर इत्यादि हैं इसलिए कांशी-माया इनके विरुद्ध उग्र सांस्कृतिक अभियान चलाते रहे। इनके मनुवाद विरोधी सांस्कृतिक आंदोलनों ने कट्टर आंबेडकरवादी दलितों के साथ कुछ विवेकवान हिंदुओं को दो कारणों से प्रभावित किया था। पहला तो यह दबे कुचले नीची जातियों को उस दैविक-दासत्व (डिवाइन-स्लेवरी) से मुक्त होने की प्रेरणा दे रहा था जिस दैविक दासत्व के कारण वे वीभत्स-संतोषबोध का शिकार होकर जानवरों से बदतर जिंदगी खुशी-खुशी जिये जा रहे थे। दूसरे यह कि इन सांस्कृतिक आंदोलन से लोगों का उस हिंदू-धर्म-संस्कृति से मोहभंग हो रहा था जिससे मोहग्रस्त्र करके सवर्णवादी संघ-परिवार चिरशोषक अल्पजनों को सत्ता पर काबिज करा रहा था। पर, भाजपा के सहयोग से मुख्यमंत्री बनने के बाद ऐसे आंदोलनों के प्रति लोगों को मायावती की रूचि में गिरावट नजर आने लगी।

लेकिन मायावती के मुख्यमंत्री बनने के बाद बसपा के मनुवाद विरोधी सांस्कृतिक आंदोलन में अवश्य ही गिरावट आई पर उन्होंने सत्ता का अधिकतम इस्तेमाल फुले, पेरियार, आंबेडकर, शाहूजी इत्यादि उन बहुजन नायकों के नाम पर जिले, पार्क, विश्वविद्यालय, कालेज इत्यादि बनवाने पर किया जिनके विचार ही बसपा के सांस्कृतिक आंदोलनों के आधार थे। हांलाकि वे इस बीच बार-बार भाजपा को मनुवादी पार्टी घोषित करते हुए सफाई देती रही हैं कि उन्होंने भाजपा से समझौता मुद्दों पर किया है, विचारधारा पर नहीं। यही नहीं मुख्यमंत्री के रूप में उन्होंने जब भी कोई शिलान्यास या उद्घाटन किया, औरों की तरह नारियल नहीं फोड़ा। लेकिन सब कुछ के बावजूद मायावती की बसपा नेत्री के रूप में वह छवि अटूट न रह सकी, जिसके विषय में सुप्रसिद्ध दलित चिंतक चन्द्रभान प्रसाद ने 4 नवंबर 1999 के राष्ट्रीय सहारा में बसपा एक सामाजिक विद्रोह का दर्पण है' नामक आलेख में यह लिखा था। *बसपा के गठन के बाद दलित समाज में सांस्कृतिक स्तर पर व्यापक परिवर्तन होने लगे। लोगों ने अपने घरों से हिंदू देवी-देवताओं की मूर्तियां और चित्र आदि निकालकर, नदी-तालाबों में डुबोना शुरू किया। उनके स्थान पर गौतमबुद्ध, महात्मा फुले, डा. आंबेडकर, कांशीराम के चित्र लगाने लगे। इस तरह चुनाव में बसपा जहां एक राजनीतिक पार्टी लगती है वही सामान्य परिस्थितियों में एक सामाजिक व सांस्कृति आंदोलन लगती है।*

पर, एक ऐसे समय में जबकि मायावती के बहुत से एकनिष्ठ समर्थकों में यह धारणा

ठोस रूप धारण करने लगी थी कि दैविक-दासों को हिंदू-देवी-देवताओं की मूर्तियां नदी-तालाबों में डुबोने की प्रेरणा देने वाली मायावती खुद सत्ता की भंवर में डूब गई हैं, श्री यादव ने सीडी जारी कर उनकी छवि को एक नया निखार दे दिया है। सद्य जारी सीडी के दर्पण में मायावती को देखने पर यह साफ नजर आता है कि दलित शोषित को डिवाइन स्लेवरी से मुक्त करने के लिए वे आज भी मुस्तैद हैं। यही नहीं सीडी में कैद उनके वक्तव्यों को ठीक से अनुधावन करने पर इसमें कोई शक नहीं रह जाता कि वे भाजपा को आज भी मनुवादी मानती हैं और इसके साथ उनका समझौता विचारधारा का नहीं मुद्दों का है। हांलाकि मुलायमजी ने मायावती को पोटा में गिरफ्तार करने का उग्र आवेदन किया है बावजूद उसके मायावती को उनका आभारी होना चाहिए कि उन्होंने उनकी वह छवि लौटा दी है जिसका मुरीद तमाम आंबेडकरवादी हैं। शायद इसलिए मायावती के मुरीद मेरे रिश्तेदार ने अतिरिक्त उत्साह में 9 अप्रैल को नींद में खलल डाल दिया था।

धर्मनिरपेक्षतावादियों के निशाने पर भाजपा या बसपा ?

उत्तर प्रदेश में सपा के नेतृत्व में धर्मनिरपेक्ष शक्तियों की बसपा-भाजपा के कथित नापाक साम्प्रदायिक गठबन्धन को उखाड़ फेंकने की राजनीतिक मुहिम अभी भी पूरी तरह से नाकाम नहीं हुई है। अभी भी उनकी गतिविधियों पर पूरे राष्ट्र का ध्यान लगा हुआ है। लेकिन इस बार अगर धर्मनिरपेक्षतावादियों की मुहिम नाकाम भी हो जाती है तो भी वहां के खण्डित जनादेश और विधायकों के पेशेवराना चरित्र को देखते हुए यह कयास लगाया ही जा सकता है कि साम्प्रदायिकता विरोधी आज जैसे राजनीतिक जोड़-तोड़ की मुहिम चलाने के अवसर भविष्य में भी इनके लिए बरकरार रहेंगे। लेकिन जो धर्मनिरपेक्षतावदी आज मौजूदा सरकार को गिराकर खुद सत्ता में आने की जबरर्दस्त मुहिम छेड़े हुए हैं, अगर इसी बार या भविष्य में अपने इरादों में कामयाब हो जाते हैं तो क्या वे संघ परिवार व उसके राजनीतिक संगठन भाजपा को कमजोर कर पाएंगे? यह एक अहम सवाल है जिस पर संघ परिवार से त्रस्त राष्ट्र को विचार करना है। इस सवाल पर गंभीरता से विचार करना इसलिए और आवश्यक हो जाता है क्योंकि इन्हीं शक्तियों से लोग आगामी कुछ सप्ताहों में गुजरात में संघ परिवार के विरुद्ध एक निर्णायक लड़ाई की उम्मीद कर रहे हैं।

वैसे साम्प्रदायिकता का पर्याय बन चुकी भाजपा के विरुद्ध धर्मनिरपेक्ष शक्तियों की लड़ाई की प्रभावकारिता पर विचार करते समय हमें यह बात नहीं भूलनी होगी कि यह जिस संघ परिवार का भाजपा राजनीतिक संगठन है उसने बड़ी होशियारी से खुद को हिन्दू-धर्म व संस्कृति के साथ एकाकार कर लिया है। दूसरे शब्दों में सीधे तौर पर कहा जाए तो अपने तीन दर्जन आनुषंगिक संगठनों के माध्यम से इसने खुद को आज हिन्दू-धर्म संस्कृति के ठेकेदार के रूप में स्थापित कर लिया है। उसका उद्देश्य है धर्म के नाम पर आंदोलन या बवाल खड़ा करके,असंख्य जाति समाजों में बंटे हिन्दुओं का ध्रुवीकरण करना, ताकि इनकी धार्मिक भावना को वोट में तब्दील कर, वर्तमान में राजनीति में जातिवाद के चलते जिनका चुनाव जीतना दुष्कर है, उन्हें 'हिन्दू' के नाम पर चुनाव जितवाया जा सके। संघ विरोधी रणनीति पर विचार करते समय हमें यह समाजशास्त्रीय यथार्थ भी ध्यान में रखना होगा कि जब हिन्दू धर्म के नाम पर ध्रुवीकृत होंगे तो उनका नेतृत्व स्वत: ब्राह्मणों के हाथ में जाएगा। अपने बृहत्तर उद्देश्य के लिए ही संघ परिवार ने हिन्दू-धर्म-संस्कृति के ठेकेदार के रूप में खुद को परिणत कर लिया है। ऐसे में जब तक हिन्दू-धर्म-संस्कृति के प्रति लोगों में जरा भी आकर्षण है, यह उन्हें, उसके नाम पर आंदोलन या बवाल खड़ा करके अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए ध्रुवीकृत करता रहेगा। अत: जिस संगठन की जीवनी

शक्ति ही हिन्दू-धर्म-संस्कृति है, उसके विरुद्ध संघर्ष में वही शक्ति कामयाब हो सकती है, जिसमें इसके खात्मे की दूरगामी रणनीति हो क्योंकि जब तक हिन्दू-धर्म-संस्कृति जीवित है तब तक भाजपा को दुर्बल या सबल रूप में बचे रहना है।

अब जिस संगठन की जीवनी शक्ति ही हिन्दू-धर्म-संस्कृति है उसके विरुद्ध ध्रुवीकृत धर्मनिरपेक्ष शक्तियों के चरित्र का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि ये- *सभी धर्मों को समान मान्यता देने और किसी सभी धर्म के अनुयाइयों के साथ भेदभाव नहीं-* के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। धर्मनिरपेक्ष पार्टियों के नेता, सभी धार्मिक मतों के धर्मस्थलों पर माथा टेकने के लिए पहुंच कर, अपने धर्मनिरपेक्ष होने का दावा प्रस्तुत करते हैं। ऐसा करके वे सभी धर्मों एवं उनकी संस्कृतियों को सार्वजनिक रूप से मान्यता देकर धार्मिक रूप से अपनी एक तटस्थ छवि बना लेते हैं और इस छवि को अटूट रखने के क्रम में प्रगति व समाज विरोधी धार्मिक क्रियाकलापों तक को लगातार मान्यता देते रहते हैं। धर्मनिरपेक्षतावादियों के इस चरित्र को देखते हुए के.एम. पणिक्कर की यह टिप्पणी विशेष ध्यान देने योग्य है। *धर्मनिरपेक्षता के भारतीय विचार की कमजोरी है कि वह धर्म को बीच में बनाए रखती है तथा धार्मिकता को बढ़ाती है। वह धार्मिक पहचानों को बनाये रखती है तथा उसे रेखांकित करती है और इस प्रकार, विभिन्न धार्मिक समुदायों के बीच सामाजिक दूरी बढ़ाती है....... ...। पिछले चालीस वर्षों से धर्मनिरपेक्षता एक प्रमुख आकस्मिकता बनी रही है और समाज में बड़े पैमाने पर साम्प्रदायिक तनाव तथा दंगे आए दिन की चीज हो गए हैं। वास्तव में जिस सवाल को लेकर बुद्धिजीवी तथा राजनीतिक कार्यकर्त्ता चिंतित हैं, यह है कि साम्प्रदायिकता क्यों मजबूत हुई है न कि यह है कि क्यों धर्मनिरपेक्षता, हमारे समाज में शक्तिशाली प्रतिबद्धता नहीं बन पाई है। ऐसा लगता है कि हम इस राक्षस से लड़ने में ही लगे हुए हैं और सकारात्मक विचारों का निर्माण नहीं कर पा रहे हैं। इस गतिरोध से निकलने का एक ही रास्ता नजर आता है कि धर्म का आमने-सामने होकर मुकाबला किया जाए, धर्म की एक चौतरफा आलोचना प्रस्तुत की जाए, ताकि अंतत: उसे खत्म किया जा सके। मार्क्स के शब्दों में उसका एक दृढ़ सकारात्मक खात्मा किया जा सके। यही एक मात्र आधार है जिस पर धर्मनिरपेक्षता वास्तव में टिक सकती है।* पणिक्कर से ही मिलती-जुलती राय सुप्रसिद्ध संविधान विशेषज्ञ सुभाष कश्यप की है। कश्यप के अनुसार *धर्मनिरपेक्षता का अर्थ है एक ऐसी व्यवस्था जो सभी प्रकार के मजहबी विश्वासों और पूजा पद्धतियों को नकारती है।*

वैसे पणिक्कर साहब ने धर्मनिरपेक्षता की रक्षा के लिए धर्म के खात्मे का उपरोक्त आह्वान तब किया था जब एक दशक पूर्व संघ परिवार ने सिर्फ हिन्दू-धर्म-संस्कृति के नाम पर आंदोलन चलाकर, उदारीकरण, बेरोजगारी, गरीबी इत्यादि के ज्वलन्त मुद्दों को पृष्ठ में धकेल कर सुनियोजित तरीके से मुस्लिम आतंकवाद को राष्ट्र के प्रधान मुद्दे के रूप में खड़ा करने की शुरुआत किया। संघ की इस प्राण शक्ति को खत्म करने का अभियान, संघ के प्रतिपक्ष धर्मनिरपेक्षतावादियों को बहुत पहले शुरू कर देना चाहिए था। लेकिन इन्होंने उसके

खात्मे का सुनियोजित अभियान तो चलाया नहीं, उल्टे दो ऐसे काम किये जिससे वह और मजबूत हुआ। पहला, इन्होंने अपने प्रयत्नों से भाजपा को सबसे बड़ा साम्प्रदायिक दल एवं दूसरा, अल्पसंख्यकों का सबसे बड़ा शत्रु प्रमाणित किया। ये दो ऐसे अभियोग थे जो उसके लिए सबसे बड़ा वरदान साबित हुए।

भाजपा जिस संघ परिवार का राजनीतिक संगठन है उसका चरम लक्ष्य ब्राह्मणों के नेतृत्व में क्षत्रिय-बनियों के हितों का संरक्षण करना है। अतः यह एक विशुद्ध सवर्णवादी संगठन है। पर धर्मनिरपेक्षतावादियों द्वारा एक सवर्णवादी संगठन को चिल्ला-चिल्लाकर साम्प्रदायिक कहने का परिणाम यह हुआ कि अर्द्धशिक्षित लोगों के बीच यह संदेश चला गया कि यह विशाल हिन्दू सम्प्रदाय के हितों का हिमायती है। साम्प्रदायिक के साथ इसे अल्पसंख्यकों का सबसे बड़ा दुश्मन प्रमाणित करने से आम लोगों में यह विश्वास और दृढ़ हुआ कि संघ परिवार पूरे हिन्दू समाज के हितों के लिए संघर्षरत है। फलतः जिन्हें 'सवर्णवादी' संघ से दूर रहना चाहिए उनमें से काफी लोग इसके साथ जुड़कर इसे विशाल आकार प्रदान करने में योगदान करने लगे। ऐसा न करके अगर यह सच्चाई उजागर की गई होती कि संघ की सारी गतिविधियां दलित-पिछड़ों के खिलाफ है तो यह इनसे कटकर मात्र सवर्णों तक सीमित रह गया होता। यह तो है सर्वभारतीय स्तर पर धर्मनिरपेक्ष शक्तियों की संघ विरोधी रणनीति जिसमें परिवर्तन का कोई लक्षण नहीं दिखाई पड़ता। संघ परिवार को कमजोर करने के लिए आज भी इनके पास एक ही फार्मूला है और वह है धर्मनिरपेक्ष मोर्चे का गठन। हालांकि एच.डी. देवेगौड़ा और आई.के. गुजराल के प्रधानमंत्रित्व में कार्य कर चुका यह तीसरा या धर्मनिरपेक्ष मोर्चा कथित साम्प्रदायिक शक्ति को रोकने में पूरी तरह नकारा ही साबित हुआ है फिर भी वैसे ही एक मोर्चे के निर्माण की कसरत जारी है।

सर्वभारतीय स्तर पर संघ विरोधी धर्मनिरपेक्ष राजनीति विज्ञानियों, बुद्धिजीवियों एवं पार्टियों के चरित्र का जायजा लेने के बाद, वर्तमान में उत्तर-प्रदेश में धर्मनिरपेक्षता का झंडा बुलन्द करने को आतुर नेताओं के चाल-चलन पर गौर फरमाया जाए। यदि आज या कल मायावती सरकार अपदस्थ होती है तो उत्तर-प्रदेश की सत्ता की लगाम मुलायम सिंह यादव के हाथ में जाएगी जिनकी सहयोगी की भूमिका में रहेंगे कल्याण सिंह, गंगाभक्त सिंह, राजा भइया, धनंजय सिंह जैसे कई राजपूत व अग्रसर पिछड़ी जातियों के लोग जिनमें हरिकिशन सिंह सुरजीत के लोगों को भी शामिल किया जा सकता है, जो प्रधानतः राजपूत या यादव जातियों से ही होंगे। और हां श्री यादव के साथ उनके बेटे, भाइयों के अतिरिक्त दाएं-बाएं अमर सिंह और मो. आजम खान को रहना ही है। धर्मनिरपेक्षता की कसौटी पर यादव जी के सहयोगियों का मूल्यांकन करना उन पर ज्यादती और समय की बर्बादी ही होगी। लिहाजा मुलायम सिंह यादव को ही कसौटी पर परखा जाए। सवाल पैदा होता है, अगर यादव के हाथ में सत्ता आती है तो चरम संघ विरोधी होने के नाते उस सत्ता का उपयोग वे के.एन. पणिक्कर या सुभाष कश्यप द्वारा निर्धारित धर्मनिपेक्षता की कसौटी पर खरा उतरने अर्थात संघ की जीवनी शक्ति हिन्दू-धर्म-संस्कृति के सकारात्मक खात्मे में करेंगे? उत्तर 'ना' है।

कारण, यादव किसी संघी से कम हिन्दू-धर्म के प्रति मोहग्रस्त नहीं हैं। फर्क मात्र इतना है कि संघी जय श्रीराम का नारा लगाते हैं तो श्री यादव जय श्रीकृष्ण का उद्घोष करते हैं। और तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो जय श्रीकृष्ण का नारा ज्यादा खतरनाक है। राम तो वर्ण-व्यवस्था के संरक्षक होने के बावजूद कहीं से थोड़ा मर्यादित चरित्र हैं। जबकि श्रीकृष्ण तो वर्ण-व्यवस्था, जो सहस्रों वर्षों से शूद्रातिशूद्रों की करुणतर स्थिति का प्रधान कारण है, के जनकत्व की दाम्भिक घोषणा करने एवं असंख्य परस्त्रियों के साथ रास रचाने वाला एक अय्याश चरित्र है। एक आम हिन्दू की तरह ही हिन्दू-धर्म-संस्कृति के प्रति मोहग्रस्त रहने के कारण यादवजी महाभाजपा विरोधी होकर भी काशीराम की तरह कभी यह साहसिक घोषणा न कर सके कि अयोध्या में राम मंदिर नहीं, हमारी पार्टी वहां शौचालय बनवाने के पक्ष में है। जिस व्यक्ति में कांशीराम वाला साहस न हो वह कैसे उस हिन्दू-धर्म-संस्कृति के विरुद्ध सुपरिकल्पित अभियान चलाएगा जो संघ परिवार का प्राण व आधार है। कांशीराम का चरित्र उनमें पूरी तरह अविद्यमान है तभी तो वे राम मंदिर निर्माण, बेशक बाबरी मस्जिद से दूर, की हिमायत करते हैं, लेकिन उस आंबेडकर स्मारक को अय्याशी का अड्डा घोषित करते हैं जहां से डॉ. आंबेडकर, फुले, पेरियार, शाहूजी महाराज, नारायण गुरु जैसे साहसी कांतिकारी महापुरुषों के संदेश आर्यावर्त में फैलने हैं। विशेषकर पेरियार के मामले पर तो यह साफ हो गया कि यादवजी और उनके लोग हिन्दू-धर्म-संस्कृति की रक्षा के मामले में भाजपाइयों से भी आगे हैं। मायावती द्वारा आंबेडकर स्मारक में पेरियार की मूर्ति लगाने के इरादे को भांपकर जहां भाजपा के विनय कटियार ने वह मूर्ति गोमती में डुबो देने की विनम्र घोषणा की वहीं कटियार से आगे बढ़कर यादवजी ने सपाइयों से उस मूर्ति को नाले में डुबो देने का ऐलान कर डाला। जिस पेरियार ने भाजपा नायक राम व हिन्दू-धर्म-संस्कृति के विरुद्ध अभियान चलाकर दक्षिण भारत में ब्राह्मण-सत्ता का विनाश कर डाला उस पेरियार को फूटी आंखों की भी न देखने वाले, संघ-परिवार को कितनी चुनौती दे पाएंगे, इसका सहज अनुमान कोई भी लगा सकता है।

यादवजी में सिर्फ हिन्दू-धर्म-संस्कृति के प्रति ही अपार दुर्बलता नहीं है बल्कि भाजपा को रोकने के लिए कुछ त्याग करने की मानसिकता भी नहीं है। यही कारण है कि 1999 में सोनिया गांधी को सहयोग न कर सके। जबकि सोनिया गांधी के बाहरी समर्थन से ही वे केन्द्र में रक्षामंत्री का पद सुशोभित कर सके थे। अपनी इसी मानसिकता के कारण यह जानते हुए भी कि मायावती हर हाल में मुख्यमंत्री बनने के लिए आमादा हैं, वे सहयोग करने के लिए आगे न बढ़ सके। फलत: मायावती को भाजपा का सहयोग लेना पड़ा। जबकि मायावती का उन पर कर्ज था क्योंकि 1993 में वे उनके ही सहयोग से मुख्यमंत्री बने थे। आज की तारीख में भी वे भाजपा को रोकने के लिए त्याग की मानसिकता विकसित नहीं कर पाए हैं, इसका साक्ष्य आगामी दिसम्बर में गुजरात में अनुष्ठित होने वाले विधानसभा चुनाव पर उनका स्टैंड है। बकौल मो. आजम खान- *सपा अध्यक्ष ने कहा है कि साम्प्रदायिक ताकतों को नेस्तानाबूद करने के लिए हम किसी भी सीमा तक झुक कर धर्मनिरपेक्ष ताकतों का मोर्चा बनाने के लिए तैयार हैं लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि हम अपने सम्मान या ताकत की अनदेखी कर दें।* जनाब खान ने उनके स्टैंड को और स्पष्ट करने के लिए अपनी तरफ से

यह शेर–*जफा करोगे जफा करेंगे, वफा करोगे वफा करेंगे*– भी जोड़ दिया है। इसका मतलब यह हुआ कि यादवजी गुजरात में भाजपा विरोधी मुहिम में तभी शामिल होंगे जब उन्हें वहां सत्ता में पर्याप्त हिस्सेदारी मिलेगी। साथ ही उनके सिपहसलार मो. आजम खान ने गुजरात में भाजपा की प्रधान प्रतिपक्ष कांग्रेस को इशारा कर दिया है कि यदि उत्तर-प्रदेश में मुलायम सिंह यादव को मुख्यमंत्री बनने में सहयोग नहीं मिला तो गुजरात में कांग्रेस भी उनसे असहयोग ही पाएगी। यह सोचने की बात है कि गुजरात में मुसलमानों के बड़े पैमाने पर कत्लेआम से द्रवित होकर जहां जालिम नरेन्द्र मोदी सरकार के खात्मे के लिए पूरा विश्व कांग्रेस की कामयाबी के लिए दुआएं कर रहा है वहां मुसलमानों के सबसे बड़े हितैषी होने का दम्भ भरने वाला व्यक्ति सहयोग का उदार आश्वासन देने के बजाय अपनी शर्तें थोप रहा है। कम से कम हाल ही में जम्मू-कश्मीर सहित, भाजपा को रोकने के लिए कांग्रेस के एकाधिक बार के त्याग को देखते हुए यादवजी को अपनी मानसिकता में बदलाव ला ही देना चाहिए था।

लेकिन यादवजी में अगर त्याग की मानसिकता विकसित नहीं हो पा रही है तो उसका एकमात्र कारण यही है कि वे विभिन्न काल में उपजी भिन्न राजनीतिक परिस्थितियों में विभिन्न दलों का समर्थन हासिल कर, क्षमता का भोग करने के लिए अभ्यस्त रहे हैं। 1977 में इंदिराजी की कथित तानाशाही के विरोध में भाजपा (जनसंघ) और दूसरे दलों के सहयोग से उत्तरप्रदेश में सहकारिता मंत्री बने तो 1989 में राजीव गांधी के भ्रष्टाचार के विरुद्ध मुहिम में शामिल होकर फिर भाजपा के सहयोग से मुख्यमंत्री बने। और अतीत में उन्हें दो बार क्षमता सुलभ कराने वाली भाजपा की वजह से जब साम्प्रदायिकता की आंधी चली तो उसे रोकने के नाम पर बसपा के सहयोग से फिर एक बार मुख्यमंत्री तो कांग्रेस के समर्थन से केन्द्र में रक्षामंत्री बने। और आज तो राजनीति में 'थैली शाही' की स्थापना के लिए विख्यात अरुण नेहरू के नवीनतम संस्करण अमर सिंह के कुशल मीडिया प्रबन्धन से उन्हें सबसे प्रमुख भाजपा विरोधी की छवि मिल गई है जिसका मौजूदा दौर में सद्व्यवहार करने के लिए वे अधीर रहते हैं। इसलिए उन्होंने मायावती सरकार में मंत्रिमण्डल के विस्तार के बाद, अपनी इस छवि को सार्थकता प्रदान करने की एक मुहिम फिर शुरू कर दी है। लेकिन इस मुहिम का प्रधान लक्ष्य भाजपा को कमजोर करना नहीं है। अगर भाजपा को कमजोर करना ही प्रधान लक्ष्य होता तब तो मुहिम चलाने की जरूरत ही नहीं थी, क्योंकि यह काम तो बेहतर तरीके से मायावती ही कर रही थीं।

मायावती की कार्यप्रणाली से भाजपा निरंतर कमजोर हो रही है। यह गूंज चारों दिशाओं में सुनाई पड़ रही है। यादवजी की हालिया धर्मनिरपेक्षतावादी मुहिम पर टिप्पणी करते हुए *हिन्दुस्तान* के वरिष्ठ संपादक शंभुनाथ सिंह ने *उत्तर-प्रदेश के राजनीति के पेंच* नामक अपने आलेख में निरंतर कमजोर पड़ती भाजपा की दशा का वर्णन इन शब्दों में किया है–*केन्द्रीय नेतृत्व के दबाव में आकर भाजपा बसपा के साथ जाकर जो जलालत भुगत रही है उससे उसकी छवि याचकों वाली बन गई है। पिछले छः महीनों में उसके कार्यकर्ताओं और समर्थकों*

में गजब की कुंठा और हताशा पैदा हुई है। क्योंकि बतौर पार्टी भाजपा इसका रत्ती भर भी एहसास नहीं करा पाई कि वह सरकार में है.........। प्रदेश में भाजपा का राजनीतिक भविष्य चर्चा से ही बाहर हो गया। लोग उस पर चर्चा करने को अप्रासंगिक मानने लगे हैं लेकिन इससे भी ज्यादा साफ तस्वीर 8 नवम्बर को राष्ट्रीय सहारा में प्रकाशित मोहन सिंह की, जो खुद सपा के पूर्व सांसद व वरिष्ठ पदाधिकारी हैं, *अवसरवादी राजनीति का हश्र* नामक आलेख की शेष पंक्तियों में उभरी है। उन्होंने कांशीराम को संबोधित करके लिखा है- *पुन: अगस्त 2002 में शिमला में कहा- हमने कांग्रेस के साथ में समझौता कर उत्तरप्रदेश में उसका नाश कर दिया। अब भाजपा को तहस-नहस कर देंगे। लगता है बसपा सुप्रीमो अपने कथन को सच साबित कर देंगे। क्या देश के भाजपाई लिखावट को नहीं देख रहे हैं। उत्तरप्रदेश का राजनीतिक परिदृश्य भाजपा के समापन की घंटी है।* तो ऐसे में जबकि उ.प्र. का राजनीतिक परिदृश्य भाजपा के समापन की घंटी है, यह कयास लगाना क्या गलत होगा कि भाजपा को बचाने के लिए ही 'भाजपा बचाओ समिति' को लेकर मुलायम सिंह यादव अपने अभियान को आगे बढ़ा रहे हैं।

ब्राह्मणवाद के यम : पेरियार

गत 9 सितम्बर को एक दैनिक पत्र के प्रश्नोत्तर स्तम्भ में एक भद्र महिला ने बड़ा ही सामयिक प्रश्न उठाया था। उसने पूछा था– *ब्राह्मणवाद विरोधी नेता पेरियार की प्रतिमा लगाने से भाजपा नेताओं को क्यों परेशानी है ?* उसके प्रश्न का उत्तर देते हुए विद्वान उत्तरदाता ने लिखा था *– भाजपा द्विजों की पार्टी है, अत: पेरियार जैसे प्रतीक उन्हें स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि रामास्वामी नायकर पेरियार ने ब्राह्मण सत्ता के विनाश की वैचारिक आधारशिला तमिलनाडु में रखी थी। अत: भाजपा पेरियार का विरोध करे यह बात तो समझ में आती है, पर दलित पेरियार की प्रतिमा लगाएं, यह बात मुझे अंदर से झकझोर देती है। कार द्वारा मैंने पिछले दिनों मदुरै, इरोड, सलेम, धर्मपुरी, कांचीपुरम की 1800 कि.मी. की यात्रा की थी। इस पूरी यात्रा में दलितों द्वारा स्थापित डॉ. आंबेडकर की सैकड़ों प्रतिमाएं देखने को मिलीं पर पेरियार की एक भी नहीं। मेरे साथ के किसी कार्यकर्त्ता को यह याद नहीं था कि उसने किसी भी दलित गांव में पेरियार की प्रतिमा देखी हो। फिर उत्तर भारत के दलित पेरियार को लेकर इतनी उछल कूद क्यों करते हैं?"*

विद्वान उत्तरदाता ने पेरियार के विरुद्ध भाजपा के आक्रोश के कारणों को ठीक ही पहचाना है। यह सही है कि पेरियार द्वारा चलाए गए आंदोलनों के फलस्वरूप ब्राह्मण सत्ता का ऐसा विनाश हुआ कि राजा गोपालाचारी के बाद जयललिता के रूप में ही किसी ब्राह्मण की ताजपोशी तमिलनाडु के मुख्यमंत्री के रूप में संभव हो सकी। वह भी इसलिए कि जयललिता ने तमिलों के हृदयसम्राट अब्राह्मण नायक एम.जी. रामचन्द्रन की उत्कट प्रेमदीवानी के रूप में अपनी छवि स्थापित करने में सफलता पा लिया था। अन्यथा एक तो ब्राह्मण ऊपर से गैरतमिल होने के कारण उनको वहां की राजनीति में पांव जमाना मुश्किल होता। खैर, विद्वान लेखक ने सवर्णों के मनोविज्ञान को समझते हुए भाजपा के पेरियार विरोधी कारणों को ठीक से चिन्हित किया है, पर उ.प्र. के दलितों में बसपा के प्रसार के बाद जो मानसिक परिवर्तन आया है, उसकी अनदेखी करने के कारण ही वे यह नहीं समझ पा रहे हैं कि उत्तर-भारत के दलित पेरियार को लेकर क्यों इतनी उछलकूद कर रहे हैं।

बसपा के उत्थान के साथ-साथ सहस्रों वर्षों के दास दलितों में शासक बनने की उत्कट चाह तो पैदा हुई ही है, सांस्कृतिक स्तर पर उनकी सोच में भारी बदलाव आया है। इस बदलाव का आंकलन करते हुए दलित चिंतक चन्द्रभान प्रसाद ने 4 नवम्बर, 1999 को लिखा था– *बसपा के गठन के बाद दलित समाज में सांस्कृतिक स्तर पर व्यापक परिवर्तन होने लगे। लोगों ने अपने घरों से हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियां, चित्र आदि निकालकर नदी, तालाबों में डुबोना शुरू किया। उनके स्थान पर गौतमबुद्ध, महात्मा फुले, डॉ. आंबेडकर और कांशीराम के चित्र लगाने लगे। इस तरह बसपा जहां चुनावों में एक राजनीतिक पार्टी लगती है, वहीं*

सामान्य परिस्थितियों में एक सामाजिक व सांस्कृतिक आंदोलन लगती है। प्रधानत: बसपा द्वारा चलाए गए सामाजिक व सांस्कृतिक आंदोलनों के फलस्वरूप जो शिक्षित दलित आंबेडकरवाद के संस्पर्श में आए, उन्हें यह उपलब्धि हुई कि बहुजन समाज की दुर्दशा के मूल में है दैविक दासत्व जिसके चलते बहुजन वीभत्स संतोषबोध का शिकार होकर शोषणकारी वर्ण-व्यवस्था को सहर्ष ढोए जा रहे हैं। इस सत्योपालब्धि ने उनमें अपने नायक चयन का मापदंड ही बदल कर रख दिया। फलत: जो ही व्यक्ति इतिहास में दैविक-दासत्व के स्रोतों हिन्दू धर्म ग्रंथ, पुराण व स्मृतियां, उनमें वर्णित ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म कर्मफल, स्वर्ग-नर्क, तीर्थाटन, मंदिर-मूर्ति पूजा इत्यादि पर प्रहार किया, वही बहुजन नायक बनकर उभरा। इस क्रम में उन्होंने जाति-गैरजाति का भेद नहीं रखा। इसीलिए रैदास भगत, नंदनार, चोखामेला जैसे दलित संतों का स्थान उनके हृदय सिंहासन से नीचे उतरा तो फुले, ललई सिंह यादव, रामस्वरूप वर्मा, महापंडित राहुल सांकृत्यायन जैसे गैरदलित उनके महानायक बने। ऐसे नायकों की श्रेणी में दलितों ने गैरदलित पेरियार इ.व्ही. रामास्वामी को डॉ. आंबेडकर और फुले के बाद आधुनिक भारत के सर्वोच्च नायक के रूप में वरण किया है।

17 सितम्बर, 1879 को तमिलनाडु के इरोड में एक धनी व्यवसायी परिवार में जन्मे ई. व्ही. रामास्वामी पेरियार ने न सिर्फ दैविक-गुलामी के स्रोतों पर कठोरतम प्रहार किया था बल्कि मनुष्यों का जयगान एवं मानवता का ध्वजोत्तोलन करते हुए, मानवीय शक्ति के ऊपर निर्भर रह कर भाग्य परिवर्तन का सपना दिखाया था। उन्होंने गहरी समवेदना के साथ मानवता को आह्वान करते हुए कहा था- *ईश्वर नहीं है, अवश्य ही ईश्वर नहीं है, जिसने ईश्वर का आविष्कार किया वह मूर्ख था। जो ईश्वर का प्रचार करता है वह दुष्ट है। जो ईश्वर को पूजते हैं वे बर्बर हैं।* व्यक्ति को मनुष्य बनने का ऐसा साहसिक व वैज्ञानिक आह्वान किया था पेरियार ने। पर, पेरियार को ईश्वर भीरुओं ने कालापहाड़, नास्तिक, शैतान इत्यादि से भूषित किया। लेकिन कोई भी विरोध उन्हें निरस्त न कर सका, उनके सपनों को साकार होने तक। उनके महान सपने ने जन्म दिया, तमिलनाडु, मद्रास का नया नाम। समाज उन्नयन में उनके अवदानों के आभार से दबे उनके देशवासियों ने उन्हें थान्थाई से भूषित किया। थान्थाई का अर्थ होता है, 'पिता'।

लेकिन पेरियार का सपना यूं ही पूरा नहीं हुआ था। जड़ समाजपतियों के प्रबल विरोध के मध्य भी उन्होंने मद्रास में सर्वत्र निद्राच्छन्न बच्चों-बूढ़ों, नर-नारियों को जगाने का अभियान चलाया। हर प्रगतिशील व्यक्ति, संगठन दिल खोलकर अर्थ, बल, समर्थन व बुद्धि से उनके अभियान में सहायता पहुंचाने के लिए सामने आया। ब्राह्मणवाद के विरुद्ध अपने संग्राम को पूर्णता प्रदान करने के लिए, एक समय उन्हें छोटे-बड़े 29 संगठनों के सभापति या सेक्रेटरी का दायित्व वहन करना पड़ा। ऐसे समय में उन्हें कांग्रेस में योगदान का न्यौता मिला। और राष्ट्रीय कांग्रेस के वृहत्तर मंच से अपने संघर्ष को जारी रखने की उम्मीद में उन्होंने 1920 में कांग्रेस का न्यौता कबूल भी कर लिया। किन्तु थोड़े ही दिनों में उनका भ्रम टूट गया। सदियों से हिन्दू-आरक्षण-व्यवस्था में जो कोटि-कोटि अब्राह्मण शैक्षिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक अधिकारों से वंचित किए गए थे, उनके लिए उन्होंने, 1925 में कांचीपुरम में

आयोजित कांग्रेस के राज्य सम्मेलन में, सरकारी नौकरियों इत्यादि में आरक्षण का प्रस्ताव पेश करना चाहा। किन्तु वह प्रस्ताव पेश करने ही नहीं दिया गया। इसके प्रतिवाद स्वरूप पेरियार ने परित्याग किया राष्ट्रीय कांग्रेस और शुरू किया आत्म सम्मान (युक्तिवाद) का आंदोलन।

कांग्रेस का परित्याग करने के बाद उन्होंने *जस्टिस पार्टी* को अपना समर्थन दिया और अपने प्रबल प्रताप से *जस्टिस पार्टी* के तत्वावधान में 27 दिसम्बर, 1929 को जनसंख्या के अनुपात में दलित-पिछड़े अब्राह्मणों को, सरकारी नौकरियों में भागीदारी सुलभ करा दिया। परवर्तीकाल में लम्बे अर्से से समाज सुधार में अग्रणी *जस्टिस पार्टी* जब ब्राह्मणों के निरन्तर आघात से मृतप्राय हुई तब 1938 में जनगण के दबाव में आकर पेरियार को उसका अध्यक्ष पद स्वीकार करना पड़ा। उस समय आत्मसम्मान के आंदोलन के चलते वे जेल में थे। इस आत्म सम्मान के आंदोलन से जस्टिस पार्टी ने शेष पर्यन्त *द्रविड कझगम* आन्दोलन व संस्था का रूप ले लिया। उन्होंने अपने अनुगामियों और *द्राविड़ कझगम* के सदस्यों को साथ लेकर आत्मसम्मान का जो प्रबल आंदोलन चलाया उससे मद्रास शेष पर्यन्त तमिलनाडु में परिवर्तित हुआ। *द्रविड मुनेत्र कझगम पार्टी* लाई अब्राह्मणों के लिए राजनैतिक शक्ति व स्वतंत्रता। पूरा हुआ वहां ब्राह्मण सत्ता विनाश का अध्याय।

क्या था पेरियार का वह आत्मसम्मान आंदोलन जिसने सत्ता में आमूल परिवर्तन करते हुए, समाज के दबे कुचले लोगों को ऊपर उठा दिया?

पेरियार ने घोषणा की थी कि *उनके आत्म सम्मान के आंदोलन का उद्देश्य एक ऐसे समाज की प्रतिष्ठा करना है, जो होगा श्रेणीहीन, जातिहीन जिसमें वास करेगा साम्य अधिकार, अन्धविश्वासहीन व सम्पूर्ण सामाजिक व्याधि मुक्त एक समाज। इस समाज का लक्ष्य होगा पुरुषों के ही समान नारी अधिकार की प्रतिष्ठा करना; नारियों का संपत्ति अधिकार, नारी शिक्षा एवं विधवा विवाह की शुरुआत करना।* इस संबंध में पिछड़ी जाति आंदोलन के प्रमुख स्तम्भ आर.एल. चंदापुरी की यह टिप्पणी ध्यान देने योग्य है- *आत्म-सम्मान के आंदोलन की पूर्ण सफलता के लिए दलितों, पिछड़ी जातियों को अपने हृदय से अंधविश्वास को दूर करना आवश्यक था। ब्राह्मण पुरोहित देवी-देवताओं की मूर्तियां बनवाते हैं और अपने स्वार्थ के लिए उसकी पूजा करते और करवाते हैं। इस प्रकार वे गैर-ब्राह्मणों को बराबर ठगते और शोषण करते हैं। मिट्टियों और पत्थरों की मूर्तियों की पूजा से ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती है और न उनका कोई भला हो सकता है। ऐसी मूर्तियां तो एक पल में तोड़-फोड़ दी जाती हैं। मूर्तियों की पूजा केवल ब्राह्मणों के खाने-पीने के रोजगार हैं। इसलिए नायकर ने तमिलनाडु राज्य भर में देवी-देवताओं की मूर्तियां तोड़ने का आंदोलन चलाया और तमिलों के हृदय से अन्धविश्वास को दूर करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार सांस्कृतिक कार्यक्रमों के जरिए उन्होंने द्रविड़ों को आंदोलित कर दिया और उनमें आत्म-सम्मान भर दिया।*

लोगों के मन से अन्धविश्वास व ईश्वर भय दूर करने के लिए उन्होंने खुद पहलकदमी की। उन्होंने शास्त्रानुसार भयंकरतम व अशुभ लग्न में अपने लड़के का ब्याह रचाया, जिसमें पुरोहित का दायित्व एक विधवा ने निभाया था। और उस शादी में शहनाई की जगह

शोक-संगीत बजवाया था। वह तो एक अद्‌भुत दृश्य था जिसे उस दिन सड़क के दोनों और खड़ी जनता ने आंखें फाड़कर देखा था- ट्रक पर सवार पेरियार, उस पर रखी गई राम-सीता, कृष्ण-राधा-शिव की मूर्तियों पर झाड़ू और जूतों की बरसात करते हुए, जनता को ललकार कर कह रहे थे- *देखो! इन देवी-देवताओं में कोई शक्ति नहीं है, ये मेरा कुछ नहीं बिगाड़ पा रहे हैं।* सचमुच पेरियार ने अपने व्यवहारिक जीवन द्वारा प्रमाणित कर दिया कि ईश्वर-फिश्वर जैसी कोई सत्ता नहीं है। यह प्रमाणित कर उन्हें भारी तृप्ति हुई थी। जिसकी अभिव्यक्ति उन्होंने अपने 93वें जन्म दिन *विदूतलै* पत्र के विशेषांक में लेख लिखकर किया था। उन्होंने लिखा था-

मैं अब भी एक स्वयंसेवक हूं तथा समताधारित समाज की स्थापना के लिए कार्य कर रहा हूं जिसका प्रयोजन है जाति व्यवस्था पर आधारित समाज को सर्वथा समाप्त कर देना। अपने प्रचार द्वारा मैं अपनी इस घोषणा में सफल हो गया हूं कि ईश्वर नहीं है। मेरे इस विचार को लोग स्पष्टरूप से समझ सके इसके लिए मैंने अपने अनुयायियों को निर्देश दिया है कि वे ईश्वर को चप्पलों से पीटें। इस संबंध में यहां तक जा चुका हूं कि यदि ईश्वर रहता तो क्या वह मुझे इतनी लम्बी आयु तक जीवित रखता? यह सत्य है कि मेरे प्रयास का प्रथम प्रयोजन जाति प्रथा को समूल नष्ट करना है किन्तु इस जाति प्रथा के उच्छेदन के प्रयत्न ने मुझसे इस देश से ईश्वर, धर्म, शास्त्र और ब्राह्मणवाद को समाप्त करने की बात भी कहलवा दी है। जाति-प्रथा तभी समाप्त होगी जब उक्त चारों समाप्त होंगे। हो सकता है हम आधुनिक युग की संगति में भले ही जाति समाप्त करने का समर्थन करें किन्तु ईश्वर, धर्म, शास्त्र और ब्राह्मणवाद इन चार की समाप्ति की बात करने से खौफ खाएंगे। जातियां तब तक समाप्त नहीं होंगी जब तक हम स्वतंत्र चिंतन और यथेष्ट ज्ञान नहीं अर्जित कर लेते हैं। जाति-प्रथा ने हममे मूर्खता का भाव उत्पन्न किया है तथा हमारी गुलामी की मनोवृत्ति का पोषण किया है। उक्त चारों दुश्शक्तियों ने जाति-प्रथा बरकरार रखने को अपना परम कर्तव्य समझा है।

यदि कोई व्यक्ति ईमानदारी से कहता है कि जातियां समाप्त होनी चाहिए तो उससे यह कहने के लिए तैयार रहना चाहिए कि उक्त चारों अर्थात् ईश्वर, धर्म, शास्त्र और ब्राह्मणवाद को सबसे पहले समाप्त होना चाहिए। मैं यह देखकर परमानन्द और उत्साह का अनुभव कर रहा हूं कि लोग मेरा अनुगमन करने तथा मेरी बात सुनने के लिए तैयार हैं। सलेम के सम्मेलन ने मेरी चिन्तन पद्धति को और सुदृढ़ किय है। इससे मेरा पथ प्रशस्त हुआ है। मेरी जाति-प्रथा को समाप्त करने के विचार का कोई विरोधी नहीं है। ऐसी परिस्थिति में लोगों से मेरा अनुरोध है कि वे न तो मंदिर जाएं, न धार्मिक त्योहारों में भाग लें, न धार्मिक उत्सव मनाएं और न अपने मस्तक पर टीका (लेप) लगाएं।

देवरिया जिले के दिवंगत संत देवरहा बाबा कहा करते थे कि *जो ईश्वर विरोधी व नास्तिक होगा, वह तो कोई ज्ञानी ही हो सकता है।* व्यवसायी पिता वेंकटप्पा नायकर और माता चिन्नाबाई अमल की संतान और ई.व्ही. कृष्णस्वामी के अनुज ई.व्ही. रामास्वामी नायकर, जो बाद में थान्थाई पेरियार कहलाए, एक यथार्थ ज्ञानी के रूप में उत्तीर्ण हुए थे।

लेकिन उन्होंने स्कूल कालेजों में पढ़कर ज्ञान नहीं अर्जित किया था। वायकोम के वीर पेरियार तो मात्र दस वर्ष की उम्र में यह कहकर – *जिस स्कूल में उनके अस्पृश्य सखाओं का प्रवेश निषिद्ध है, वहां नहीं पढ़ेंगे*– विद्यालयों से अलविदा ले ली थी। किन्तु निर्मल मन और तीव्र युक्ति के सहारे उन्होंने संसार से ज्ञान का आहरण किया था। उनका चक्षु और कान था खुला एवं विचार था मुक्त। पुस्तकों से असीम लगाव तो था ही उन्नत सभ्यता के पीठ स्थानों से ज्ञान का आहरण करने के लिए 1931 के दिसम्बर में उन्होंने लम्बी विदेश यात्रा भी की थी। मानवता के प्रति असीम वेदना; सत्य के प्रति अपार निष्ठा और अन्याय के प्रति कठोर घृणा के कारण जिस व्यक्ति ने ईश्वर को सबसे बड़ी चुनौती बार-बार पेश की, वह स्वस्थ व सबल देह लिए, 24 दिसम्बर 1973 की सुबह सात बजकर बाइस मिनट तक, 94 वर्ष 3 माह तक जीवित रहा। यूनेस्को ने उन्हें आत्म सम्मान का आंदोलन और *द्रविड़ कझगम* के संचालन के उपलक्ष्य में *दक्षिण पूर्व एशिया का सुकरात* कहकर सम्मानित किया था। यूनेस्को द्वारा भेंट की गई शील्ड पर लिखा था– *पेरियार, नये जमाने का पैगम्बर, दक्षिण पूर्व एशिया का सुकरात, समाज सुधार के जनक और अज्ञानता, अन्धविश्वास निरर्थक प्रथाओं का यम।*

पेरियार विरोधी सवाल खड़ा कर सकते हैं कि *आत्म-सम्मान आंदोलन के फलस्वरूप तमिलनाडु सहित दक्षिण-भारत के अन्य राज्यों में ब्राह्मण सत्ता का विनाश और पिछड़ी जातियों का प्रभुत्व कायम हुआ पर दलितों की स्थिति तो पूर्ववत् है?* इसके उत्तर में यही कहा जा सकता कि यदि भारत में साम्यवाद की विफलता और रूस में पूंजीवाद के पैर पसारने के लिए महानतम मानवतावादी कार्ल मार्क्स उत्तदायी नहीं हैं तो दक्षिण भारत में दलितों की दुर्दशा के लिए कहीं से भी पेरियार को जिम्मेवार नहीं ठहराया जा सकता। जिस देश में चार-वर्ण से विकसित दस हजार जातियों का परस्पर संपर्क घृणा और द्वेष पर आधारित हो; जिस देश में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रातिशूद्र अपने ही निम्नतर अवस्थान में पड़े भाइयों को घृणा करने के अभ्यस्त हों, वहां उच्चतर अवस्थान वाली जातियों द्वारा दलितों का दलन स्वाभाविक ही है। इस व्याधि का एक ही निराकरण है कि सुदूर भविष्य तक पेरियार का *आत्म सम्मान आंदोलन* जारी रखा जाए। मायावती जी इस हकीकत को समझती हैं इसलिए पेरियार की मूर्ति आर्यावर्त के हृदयस्थल में स्थापित करना चाहती हैं जिससे भाजपा को परेशानी हो रही है। उसकी परेशानी का सबब यह है कि यदि आत्मसम्मान का आंदोलन आंधी का रूप ले लेता है तो उसका वह आधार ही खिसक जाएगा जिससे, हिन्दुओं की धार्मिक चेतना का राजनीतिकरण कर, वह सवर्णों को 'हिन्दू' के नाम पर चुनाव जितवाने की गतिविधियां चला रही है। पेरियार के प्रचारस्वरूप वह जाति चेतना के राजनीतिकरण का मुकाबला करने की ताकत ही खो देगी, इसलिए परेशान है। ऐसे में भाजपा की परेशानी और दलितों की उछलकूद का तो सबब नजर आता है पर भाजपा को राष्ट्र के लिए सबसे बड़ा खतरा मानने वाले धर्मनिरपेक्षतावादियों की कशमकश का कारण समझ में नहीं आता है। वे क्यों नहीं आत्मसम्मान आंदोलन के प्रणेता पेरियार की मूर्ति स्थापित करवाने के लिए सामने आते हैं? क्या वे जाति-व्यवस्था के समर्थक हैं? अगर वे समझते हैं कि पेरियार को जन-जन तक पहुंचाए बिना, महज धर्मनिरपेक्षता के उपेदश के सहारे, भाजपा का खात्मा कर देंगे तो वे सचमुच मुंगेरीलाल के हसीन सपने देख रहे हैं।

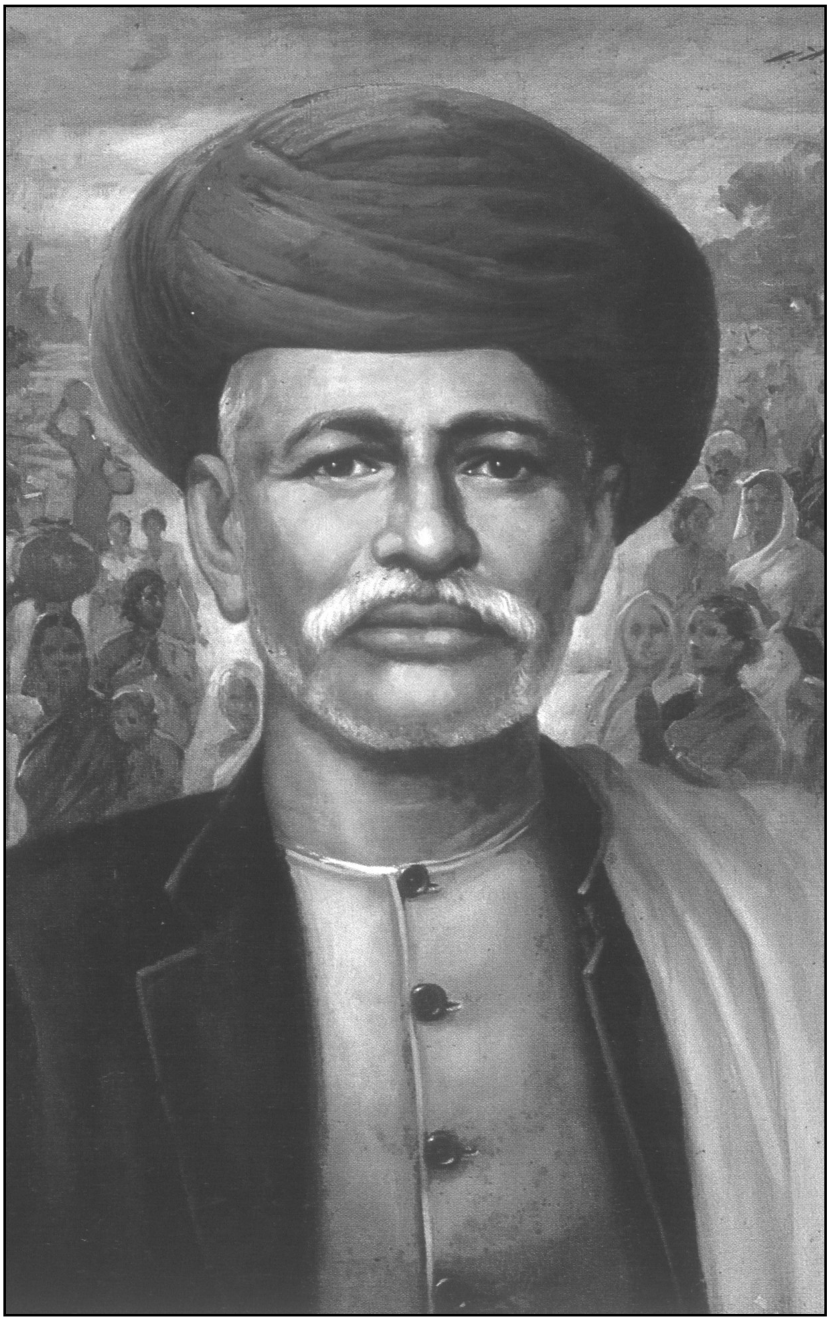

सामाजिक क्रान्ति के पितामह : महात्मा फुले

जिन्होंने हिन्दू समाज की छोटी जातियों को, उच्चवर्णों के प्रति उनकी गुलामी की भावना के संबंध में जागृत किया और जिन्होंने विदेशी शासन से मुक्ति पाने से भी सामाजिक लोकतंत्र (की स्थापना) अधिक महत्वपूर्ण है, इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया उस आधुनिक भारत के महानतम शूद्र महात्मा फुले की स्मृति में सादर समर्पित। यह पंक्तियां उन डॉ. आंबेडकर की हैं जिनका मानना था, *अगर इस धरती पर महात्मा फुले नहीं जन्म लेते, तो आंबेडकर का भी निर्माण नहीं हो पाता।* उसी डॉ. आंबेडकर ने 10 अक्तूबर 1946 को अपनी चर्चित रचना, *शूद्र कौन थे?* को महात्मा फुले के नाम समर्पित करते हुए, उपरोक्त पंक्तियां लिखी थी। जिस फुले के विषय में डॉ. आंबेडकर जैसे भारत के सर्वकाल के सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी ने इतना आदर प्रदर्शित किया, उनके बारे में, उनके ही एक समकालीन चितपावन ब्राह्मण विष्णु शास्त्री चिपलूणकर, जिन्हें ब्राह्मण साहित्यकार मराठी भाषा का शिवाजी कहते थे, ने उपेक्षा से कहा था *फुले को कौन जानता है? उसका नाम तो सिर्फ माम्बुर्डा से हड़पसर (उस समय पुणे की दो शूद्र बस्तियां) तक ही सीमित है।* चिपलूणकर ने भले ही उपरोक्त बात उपहास में कहीं थी लेकिन यह भी सही है कि पुणे के सीमित क्षेत्र में लोकप्रियता के शिखर को छूने के लगभग 100 वर्ष बाद ही फुले सर्वभारतीय स्तर पर जाने गए। इसका बहुलांश श्रेय कांशीराम को जाता है। उन्होंने दलित-शोषित समाज के शिक्षित लोगों को साथ लेकर बामसेफ के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन के आंदोलन को मजबूत बनाने के उद्देश्य से शूद्रातिशूद्र समाज में जन्मे महापुरूषों को प्रचारित करने का जो प्रयास किया, उससे आम लोग भले ही उनके कृतित्व से पूरी तरह वाकिफ न हों। पर इतना तय है कि पढ़े-लिखे लोग अंततः यह तो जान ही गए हैं कि फुले महानतम बहुजन नायक थे। वही फुले एक निम्न जाति में जन्म ग्रहण करने के उपरान्त भी अपनी जीवितावस्था में ही 'महात्मा' के खिताब से अलंकृत हुए थे। पर यह सम्मान तो उन्हें अपने जीवन की शेष बेला से मिला। उसके पहले तो ......

17 नवम्बर, 1817 को मानवता के इतिहास का क्रूरतम अध्याय लिखने वाले पेशवा राज्य का अंत हो चुका था और पुणे में कानून की नजरों में सबको एक करने वाली अंग्रेजी सल्तनत कायम हो चुकी थी। फिर भी वह दौर पूरी तरह से खत्म नहीं हुआ था जब अस्पृश्यों को पुणे के रास्तों से गुजरते समय अपना पद-चिन्ह मिटाने के लिए कमर में झाडू और थूकने के लिए गले में हांडी बांधकर चलना पड़ता। तब भी अतिशूद्रों का अबाध रूप से सुबह-शाम, जब व्यक्ति की परछाईं दीर्घतर हो जाती है, रास्तों पर निकलना शुरू नहीं हुआ था। किसी ब्राह्मण को उनकी परछाईं का स्पर्श दूषित न कर दे, इसलिए जब वे अत्याज्य कार्यवश रास्तों पर निकलते तो कमर में बंधी टीन की प्लेट पीटते चलते ताकि अस्पृश्य के आगमन का संकेत पाकर ब्राह्मण देवता कहीं छिप सकें। स्पृश्य समझे जाने वाले शूद्रों की दशा भी अतिशूद्रों

से अधिक अच्छी नहीं थी। ऐसे समय में 1927 में जोतीराव गोविन्दराव फुले ने एक ऐसे माली परिवार में जन्म लिया जिसे पेशवा ने प्रसन्न होकर 36 एकड़ जमीन दान दी थी। अतः अपेक्षाकृत सम्पन्न पिता की संतान होने के कारण उन्हें बेहतर शिक्षा मिली। लेकिन एक घटना ने उनके जीवन की धारा ही बदल दी। युवक जोती एक ब्राह्मण की बारात में गए थे जहां उन्हें किसी ने पहचान लिया और *एक शूद्र होते हुए तुमने हम लोगों के साथ चलने की हिमाकत कैसे की?* कहकर ब्राह्मणों ने न सिर्फ जमकर पिटाई कर दी बल्कि बुरी तरह अपमानित करके बारात से भगा भी दिया। अपमान से जर्जरित युवक जोती ने उसी क्षण ब्राह्मणशाही से टक्कर लेने का संकल्प किया जिसके लिए शिक्षा को ही उसने हथियार के रूप में इस्तेमाल करने की योजना बनाई। इस प्रक्रिया में जन्म हुआ *गुलामगिरी* नामक विस्फोटक रचना का। पर *गुलामगिरी* तो उसके हथियार का चरम इस्तेमाल थी जो 1873 में जनता के बीच आई। उसके पहले तो कुछ सामाजिक संस्कार के काम करने थे जो उन्होंने अपनी धर्मपत्नी सावित्रीबाई फुले को साथ लेकर ऐतिहासिक अंदाज में अंजाम दिया।

ब्राह्मणशाही से टकाराने का मतलब ब्राह्मणों द्वारा फैलाए गए आडम्बर, अन्धविश्वास, अशिक्षा, अस्पृश्यता इत्यादि से लड़ना था। इसके लिए उन्होंने तमाम उपलब्ध ग्रंथों का अध्ययन किया। टॉमस पेन की *मनुष्य के अधिकार* नामक ग्रंथ ने उन्हें नई प्रेरणा दी। ब्राह्मणों एवं ब्राह्मणवाद से टकराने के लिए उन्होंने शिक्षा की अहमियत को नये सिरे से जाना। शिक्षा के प्रचार से ब्राह्मणों द्वारा फैलाए गए अंधविश्वास, अज्ञानता से शूद्रातिशूद्रों तथा नारी जाति को निजात दिलाया जा सकता है, यह उपलब्धि कर उन्होंने अपने घर से ही अभियान शुरू किया। 13 वर्ष की उम्र में जोतीराव का विवाह 3 जनवरी, 1831 को जन्मी 9 वर्षीय सावित्री बाई से हुआ था। उन्होंने अपनी पत्नी और दूर की रिश्ते की विधवा बुआ सगुणाबाई क्षीरसागर, जिन्होंने उनकी मां के मरने के बाद उनकी देखभाल की थी, को खुद ही पढ़ाना शुरू किया। दोनों ने मराठी भाषा का उत्तम ज्ञान प्राप्त कर लिया। उन दिनों पुणे में मिशेल नामक एक ब्रिटिश मिशनरी महिला नार्मल स्कूल चलाती थीं। जोतीराव ने वहीं सावित्रीबाई और सगुणा को तीसरी कक्षा में दाखिल करवा दिया जहां से दोनों ने अध्यापन कार्य का भी प्रशिक्षण लिया। फिर तो शुरू हुआ हिन्दू-धर्म-संस्कृति के विरुद्ध अभूतपूर्व विद्रोह।

जिस हिन्दू-संस्कृति का गौरवगान कर आज हिन्दू राष्ट्र के निर्माण की प्रक्रिया चलाई जा रही है उसका एक अन्यतम वैशिष्ट्य ज्ञान संकोचन रहा है, जिसका शिकार शूद्र और नारी बने। इन्हें ज्ञान क्षेत्र से दूर इसलिए रखा गया कि ज्ञान हासिल करने के बाद ये दैविक-दासत्व (डिवाइन-स्लेवरी) से मुक्त हो जाते। और डिवाइन-स्लेवरी से मुक्त होने का मतलब शोषक समाज के चंगुल से मुक्ति। जोतीराव फुले यही तो चाहते थे। इसलिए उन्होंने 1 जनवरी, 1848 को पुणे में एक बालिका विद्यालय की स्थापना कर दी, जो किसी भारतीय द्वारा, बौद्धोत्तर भारत में स्थापित पहला बालिका विद्यालय था। सावित्रीबाई फुले ने इस विद्यालय में शिक्षिका बनकर आधुनिक भारत की पहली अध्यापिका बनने का गौरव हासिल किया। इस विद्यालय की सफलता से उत्साहित होकर फुले दंपत्ति ने 15 मई, 1848 को पुणे की अछूत बस्ती में अस्पृश्य लड़के-लड़कियों के लिए भारत के इतिहास में पहली बार

विद्यालय की स्थापना की। थोड़े ही अन्तराल में इन्होंने पुणे और उसके पार्श्ववर्ती गांवों में 18 स्कूल स्थापित कर दिए। चूंकि हिन्दुओं में शूद्रातिशूद्रों और नारियों का शिक्षा ग्रहण व दान धर्मविरोधी आचरण है इसलिए हिन्दूधर्म विरोधी शैक्षणिक गतिविधियों से फुले दंपत्ति को दूर करने के लिए धर्म के ठेकेदारों ने जोरदार अभियान चलाया। जब सावित्रीबाई स्कूल जाने के लिए निकलतीं, वे लोग उनपर गोबर-पत्थर फेंकते और भद्दी-भद्दी गालियां देते। लेकिन लम्बे समय तक यह करके जब वे सफल नहीं हुए तो शिकायत फुले के पिता तक पहुंचाई। पुणे के धर्माधिकारियों का विरोध इतना प्रबल था कि उनके पिता को यह कहना पड़ा, *या तो अपना स्कूल चलाओ या मेरा घर छोड़ दो।* फुले ने गृह निष्कासन का वरण किया। इस निराश्रित दंपत्ति को पनाह दिया उस्मान शेख ने। फुले ने अपने कारवां में शेख साहब की बीबी फातिमा शेख को भी शामिल कर, अध्यापन का प्रशिक्षण दिलाया। फिर अछूतों के एक स्कूल में अध्यापन का दायित्व सौंपकर, फातिमा शेख को उन्नीसवीं सदी की पहली मुस्लिम अध्यापिका बनने का अवसर मुहैया कराया।

लेकिन नारी-शिक्षा, अतिशूद्रों की शिक्षा के अतिरिक्त समाज में और कई वीभत्स समस्याएं थीं जिनके खिलाफ पुणे के हिन्दू कट्टरपंथियों के डर से, किसी ने अभियान चलाने की पहलकदमी नहीं की थी। लेकिन फुले थे सिंह पुरुष और उनका संकल्प था समाज को कुसंस्कार व शोषणमुक्त करने का। लिहाजा ब्राह्मण विधवाओं के मुंडन को रोकने के लिए नाइयों को संगठित करना, विश्वासघात की शिकार विधवाओं (जो ज्यादातर ब्राह्मणी होतीं थी) की गुप्त व सुरक्षित प्रसूति, उनके अवैध माने जाने वाली बच्चों के लालन-पालन की व्यवस्था, विधवाओं के पुनर्विवाह की वकालत, सती तथा देवदासी प्रथा का विरोध भी बढ़-चढ़कर फुले दंपत्ति ने किया। इस प्रक्रिया में सावित्रीबाई फुले आधुनिक भारत की पहली समाजसेविका कहलाईं। फुले ने अपनी गतिविधियों को यहीं तक सीमायित न कर किसानों, मिल-मजदूरों, कृषि-श्रमिकों के कल्याण तक भी प्रसारित किया था। निश्चय ही इन कार्यों के मध्य उन्होंने अस्पृश्यों की शिक्षा के प्रति उदासीनता बरतने पर, 19 अक्तूबर 1882 को हंटर आयोग के समक्ष जो निवेदन रखा, उसे भी नहीं भुलाया जा सकता है। वैसे तो फुले ने शिक्षा और समाज सुधार के क्षेत्र में अतुलनीय कार्य करते हुए सर्वजन समाज का भी भला किया है किन्तु बहुजन समाज सर्वाधिक उपकृत उनके चिंतन व लेखन से हुआ है। छिटफुट रचनाओं के अतिरिक्त उनकी सर्वाधिक चर्चित पुस्तकें हैं *ब्राह्मणों की चालाकी, किसान का कोड़ा* और *गुलामगिरी* जिनमें उन्होंने सदियों से प्रचारित धार्मिक व सामाजिक अवधारणाओं को छिन्न-भिन्न करके रख दिया है। इनमें 1 जून, 1873 को प्रकाशित *गुलामगिरी* का प्रभाव तो युगान्तरकारी रहा है।

गुलामगिरी के विषय में विद्वान सांसद शरद यादव ने *गुलामगिरी-हमारा घोषणापत्र* नामक अपने आलेख में लिखा है- *मूलतः 1873 में प्रकाशित जोतीराव की पुस्तक गुलामगिरी तात्कालिक सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ शूद्रों और अछूतों का घोषणापत्र था। जिस तरह कार्ल मार्क्स ने 1848 में पश्चिम यूरोप के औद्योगिक समाज के सबसे ज्यादा शोषित और उत्पीड़ित समाज के अधिकारों को रेखांकित करते हुए कम्युनिस्ट पार्टी का*

घोषणापत्र निकाला था, उसी तरह जोतीराव ने गुलामगिरी प्रकाशित कर भारत के सबसे अधिक शोषित एवं उत्पीड़ित तबके के अछूतों एवं शूद्रों के अधिकारों की घोषणा की। जिन लोगों ने *गुलामगिरी* को पढ़ा नहीं है और वर्तमान में चर्चित सामाजिक न्याय के स्रोतों को समझा नहीं है, उनके लिए शरद यादव की टिप्पणी हजम करना मुश्किल है। किन्तु सच्चाई यही है कि तुलना सटीक है।

फुले भारतीय समाज की बीमारी को जानते थे। इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थ *गुलामगिरी* द्वारा पहला, दैविक-दासत्व दूर करने, दूसरा, शोषितों में भ्रातृभाव पैदा करने और तीसरे प्राचीन आरक्षण-व्यवस्था (वर्ण-व्यवस्था) की खामियों को दूर करने पर बल दिया। दैविक-दासत्व दूरीकरण और भ्रातृत्व स्थापना के लिए उन्होंने प्रधानत: पुनर्जन्म के विरुद्ध घोर संग्राम चलाया तो वेद, ब्राह्मण-ग्रन्थ, वेदान्त और सभी धर्म-ग्रन्थों, ईश्वर को शोषक आर्यों की साजिश करार देकर इनकी धार्मिक पवित्रता की धज्जियां उड़ा दी। संवाद शैली में रचित *गुलामगिरी* में उन्होंने धोंडीराव से जो संवाद किए हैं वह लोगों में ईश्वर भय दूर करता है एवं शोषणकारी वर्ण-व्यवस्था को ईश्वरकृत न मानने का स्पष्ट रास्ता सुझाता है। इस तरह यह ग्रंथ, शोषितों को दैविक-दासत्व से मुक्त करने में का आधारभूत काम किया है। दूसरे, धर्म ग्रन्थ, ईश्वर इत्यादि को जन्म देने वालों को उन्होंने बलिष्ठतापूर्वक आर्य प्रमाणित किया। इस प्रक्रिया में भारत के शोषितों में मूलनिवासीवाद की संकल्पना जन्मी। इसी *मूलनिवासीवाद* का आर्य बनाम द्रविड़ के रूप में प्रचार चलाकर पेरियार ने दक्षिण भारत में परम्परागत शासक जाति की सत्ता का विनाश कर दिया। दक्षिण भारत के बाहर *मूलनिवासीवाद* दक्षिण के राज्यों जैसा प्रभावी न होने के बावजूद इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह शोषितों में भाईचारा पैदा कर एक दूसरे के निकट लाने में सबसे प्रभावशाली औजार के रूप में काम कर रहा है। आज संसद और विधानसभाओं में दलितों के साथ पिछड़ों का प्रतिनिधित्व बढ़ा है तो फुले के मूलनिवासीवाद के चलते। शोषितों की दैविक-दासत्व से मुक्ति और मूलनिवासीवाद के माध्यम से उनमें बन्धुता पैदा करने के बाद, हिन्दू-आरक्षण (वर्ण-व्यवस्था) में देश के सांसाधनों और उच्चमान के लाभकारी पेशों के वितरण में हुई गड़बड़ियां सुधारना भी फुले के सामने बड़ा लक्ष्य था। इसके लिए उन्होंने *गुलामगिरी* में लिखा- *हमारी दयालु सरकार (अंग्रेज सरकार) ने भट-ब्राह्मणों की उनकी संख्यानुसार सरकारी कार्यालयों में नियुक्ति नहीं करना चाहिए, ऐसा मेरा कहना नहीं है। किन्तु उसके साथ ही अन्य छोटी जातियों के लोगों की उनकी जनसंख्या के अनुसार नियुक्ति होनी चाहिए। इससे सभी भट-ब्राह्मण सरकारी नौकरों के लिए एक साथ मिलकर, हमारे अज्ञानी शूद्रों को नुकसान पहुंचाना संभव नहीं होगा।*

गुलामगिरी की उपरोक्त पंक्तियां ही भारत में सामाजिक न्याय का मूलमंत्र बनीं। आज दलित पिछड़ों की शासन-प्रशासन व डाक्टरी, इंजिनियरिंग, अध्यापन व छोटे-बड़े विभिन्न सेवाओं में जो भागीदारी मिली है उसमें उपरोक्त पंक्तियों की महती भूमिका है। इन्हीं पंक्तियों को पकड़कर शाहूजी महाराज ने अपनी रियासत में 26 जुलाई, 1902 को आरक्षण लागू कर सामाजिक न्याय की शुरुआत की तो पेरियार ने 27 दिसम्बर, 1929 को मद्रास प्रान्त में बड़े

पैमाने पर दलित-पिछड़ों को नौकरियों में प्रतिनिधित्व दिलाया। संविधान में डॉ. आंबेडकर ने दलितों के लिए आरक्षण सुलभ कराने के साथ धारा 340 का जो प्रावधान रखा उससे मंडलवादी आरक्षण की शुरुआत हुई। मंडलवादी आरक्षण के पीछे *गुलामगिरी* की भूमिका को पहचान कर ही शायद वी.पी. सिंह ने फुले के प्रति श्रद्धा इन शब्दों में व्यक्त की है– *महात्मा फुले भारत की बुनियादी क्रान्ति के पहले महापुरुष थे। इसलिए वे आद्य महात्मा बुद्ध-महावीर, मार्टिन लूथर, नानक आदि के उत्तराधिकारी थे, उनका यह समर्पित जीवन आज के युग का प्रेरणास्रोत बना है।*

आंबेडकर स्मारक : राम-मंदिर का तोड़

पहले उत्तर प्रदेश के भाजपाध्यक्ष विनय कटियार द्वारा आंबेडकर पार्क में स्थापित होने वाली पेरियार की प्रतिमा गोमती नदी डुबो देने की घोषणा और फिर मुलायम सिंह यादव द्वारा आंबेडकर पार्क को अय्याशी का अड्डा कहे जाने और अब उनके बयान के विरुद्ध ऐतिहासिक *निंदा-धिक्कार महारैली* आयोजित किए जाने के बाद, अपने जन्मकाल से ही सदा चर्चा में रहने वाला आंबेडकर पार्क नये सिरे से चर्चा में आ गया है। इधर इसके कब्जे से *इन्दिरा गांधी प्रतिष्ठान* की 23 एकड़ भूमि छुड़ाने की कांग्रेसियों की जंगी घोषणा एवं महारैली की भीड़ में हुई डेढ़ दर्जन लोगों की दुखद मौत ने इसकी चर्चा में और इज़ाफा कर दिया है। क्या है यह आंबेडकर पार्क जिसे लेकर विगत सात वर्षों से रह-रह कर होने वाले विवाद में मायावती की सरकार कठिनाई में पड़ चुकी है और तीसरी बार भी आसार ठीक नहीं दिख रहे हैं ?

28 एकड़ में बनने वाले इस पर्क में लगा शिलापट्ट कहता है- *आंबेडकर पार्क हजारों साल से दलितों पर हुए अत्याचार और अपमान के खिलाफ जो लड़ाई बाबा साहेब ने लड़ी उसकी याद में है।* कंकरीट के स्मारकों के इस उद्यान में ढेर सारी मूर्तियां हैं जिसमें कुर्सी पर बैठी हुई बाबा साहेब की दुनिया की सबसे बड़ी प्रतिमा भी है। डॉ. आंबेडकर की चार प्रतिमाओं के अतिरिक्त ज्योतिबा फुले, शाहूजी महाराज, नारायण गुरु और ई.व्ही. रामास्वामी पेरियार की एक-एक मूर्तियां भी लग रही हैं। दुनिया के एक अनोखे पार्क का रूप दिए जाने के इरादे से इसमें भ्रमणकारियों के लिए जन सुविधा परिसर और 20 सुइटवाला भव्य पांच सितारा गेस्ट हाउस भी होगा। इसके अतिरिक्त इस पार्क से जुड़े *इन्दिरा गांधी प्रतिष्ठान* परिसर में *आंबेडकर शोध केन्द्र* और *सामाजिक न्याय संग्रहालय* बनाने की परियोजना भी स्वीकृत हो चुकी है। लेकिन सच पूछा जाए तो दलित मुक्ति संघर्ष में डॉ. आंबेडकर के अवदानों को एक स्मारक का रूप दिए जाने के बहाने, संघ परिवार के विरुद्ध कांशीराम की जो रणनीति है उसी के एक हिस्से के रूप में, मायावती का ड्रीम प्रोजेक्ट आंबेडकर पार्क विकसित हो रहा है।

यह तथ्य बुद्धिजीवियों द्वारा अनजाने में या इच्छाकृत रूप से कभी उभर कर सामने नहीं आया कि शुरू से लेकर आज तक कांशीराम की सारी परिकल्पना संघ परिवार के विरुद्ध रही है। किन्तु जिन लोगों ने आर.एस.एस. की स्थापना और उसकी गतिविधियों के मूल में डॉ. हेडगेवार की परिकल्पना का गहराई से अध्ययन किया है उन्हें कांशीराम की परिकल्पना को समझने में भ्रान्ति नहीं होगी।

1925 के पूर्व वर्षों में बड़ी तेजी से ब्राह्मणों के विरुद्ध हालात पैदा होने लगे थे। उन

दिनों अग्रणीय विद्वान लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में ब्राह्मणों को आर्य (विदेशी) प्रमाणित करने की होड़ तुंग पर पहुंच चुकी थी। 1922 में सिन्धु सभ्यता के उत्खनन के सत्यान्वेषण ने भारत में प्राचीन विदेशागत लोगों के आगमन की पुष्टि कर दी थी। उधर सिन्धु-सभ्यता के सत्यान्वेषण और ज्योतिबा फुले के आर्य-अनार्य सिद्धान्त से प्रेरित ई.व्ही. रामास्वामी पेरियार, दक्षिण भारत में आर्य-द्रविड़ सिद्धान्त का प्रचार कर, ब्राह्मण सत्ता विनाश की आधारशिला तैयार करना शुरू कर चुके थे। इसके पूर्व 1918 में इंग्लैण्ड की पार्लियामेन्ट में तीस वर्ष से अधिक उम्र की महिलाओं के लिए भी मताधिकार का कानून पास हो चुका था। इन सारे हालातों पर किसी की सजग दृष्टि थी तो डॉ. हेडगेवार की। बंगाल की अनुशीलन समीति, जिसमें शूद्रों और मुसलमानों का प्रवेश निषिद्ध था, के सदस्य रह चुके डॉ. हेडगेवार ने ब्रिटेन में महिला फ्रेन्चाइज लागू होते ही भारत के भविष्य का चित्र देख लिया था। उन्हें यह अनुमान लगाने में देर नहीं हुई कि जो भारत खुद अंग्रेजों के लिए बोझ बन चुका है, उसे वे निकट भविष्य में स्वत: ही छोड़कर चले जाएंगे। उनके जाने के बाद आजाद भारत में जब संसदीय प्रणाली लागू होगी तो एडल्ट फ्रेन्चाइज भी लागू होगा, जिससे आर्थिक व मानवीय मर्यादाशून्य दलित-पिछड़ों को भी वोट देने का अधिकार मिलेगा। वैसे में मताधिकार सम्पन्न शूद्रातिशूद्र विदेशी रूप में चिन्हित ब्राह्मणों को वोट देने के पहले दो बार साचेंगे। पेरियार के जोर पकड़ते *आत्म सम्मान आंदोलन* ने तो उन्हें कुछ करने के लिए और विवश कर दिया।

1925 के पूर्व दिनों के हालात ने ही उन्हें विशाल हिन्दू समाज बनाने के लिए प्रेरित किया ताकि विद्वानों द्वारा विदेशी प्रमाणित किए गए लोगों को विशाल हिन्दू-समाज के अंग के रूप में प्रस्तुत किया जा सके। इसलिए जिन दिनों देश के दूसरे नेता आजादी की जंग लड़ रहे थे, उन्होंने आजाद भारत के ब्राह्मणों के हित में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ बनाकर, हिन्दू धर्म संस्कृति के नाम पर लोगों को उद्वेलित कर, विशाल हिन्दू-समाज बनाने में खुद को निमग्न किया। वे इस बात से वाकिफ थे कि जो दलित-पिछड़े हिन्दू-धर्म के नाम पर हंसी-खुशी पशुवत जिन्दगी जी रहे हैं उनको धर्म के नाम पर उद्वेलित कर आसानी से ध्रुवीकृत किया जा सकता है। और जब हिन्दू-धर्म के नाम हिन्दुओं का ध्रुवीकरण होगा तो नेतृत्व स्वत: ब्राह्मणें के हाथ में जाएगा।

कांशीराम ने जब सार्वजनिक जीवन में प्रवेश कर भारत के अतीत, वर्तमान और भविष्य का अध्ययन किया तो उन्हें विशाल हिन्दू समाज के विपरीत बहुजन समाज बनाने से भिन्न कोई उपाय नजर नहीं आया। उन्होंने डॉ. हेडगेवार के फार्मूले से यह साफ जान लिया यदि हिन्दू-धर्म-संस्कृति के उज्ज्वल पक्ष के नाम पर आंदोलन चलाकर ध्रुवीकृत हिन्दुओं का नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथ में थमाया जा सकता है तो हिन्दू-धर्म-संस्कृति के अंधकार पक्ष अर्थात् वर्ण-व्यवस्था में वंचना के नाम पर आंदोलन चलाया जाए तो अवश्य ही वंचित जातियों का ध्रुवीकरण होगा और स्वत: ही दलित-पिछड़े व अल्पसंख्यकों के हाथ में देश का नेतृत्व जाएगा। हालांकि कांशीराम ने यह कभी कबूल नहीं किया कि उन्होंने डॉ. हेगडेवार का अनुसरण किया है लेकिन उनकी कार्यप्रणाली में उसकी झलक मिलती है।

चूंकि कार्यप्रणाली एक जैसी होने के बावजूद 'विशाल हिन्दू-समाज' और 'बहुजन-समाज'

की संकल्पना दो भिन्न ध्रुव जैसे हैं इसलिए उनका उल्टा फार्मूला ही एक दूसरे के मुआफिक आता है। यही कारण है कि भारतीय समाज का लम्बे समय तक अध्ययन करने के बाद कांशीराम ने जब 6 दिसंबर 1978 को बामसेफ (आल इंडिया बैकवर्ड एंड माइनारिटी एम्पलाइज फेडरेशन) नामक अपंजीकृत, गैर-धार्मिक, गैर आन्दोलनात्मक और गैर राजनीतिक संगठन बनाया तो डॉ. हेडगेवार जिस आर्य-अनार्य सिद्धान्त से अपने समाज को बचाना चाहते थे, उसी को प्रधानता देने से वे खुद को रोक न सके। हां! डॉ. हेगडेवार और कांशीराम ने अपने-अपने सपनों के भारत के निर्माण के लिए क्रमश: आर.एस.एस. और बामसेफ नामक जो वैचारिक संगठन तैयार किया था उनमें एक ही साम्यता थी कि दोनों घोषित तौर पर अराजनैतिक संगठन रहे किन्तु उनके निर्माण का मूल मकसद राजनीतिक था। राजनीतिक उद्देश्यों के लिए जहां आर. एस.एस. हिन्दुओं की धार्मिक चेतना के राजनीतिकरण पर केन्द्रित रहा वहीं बामसेफ बहुजनों की जाति चेतना के राजनीतिकरण पर। बेशक बामसेफ ने संघ-परिवार की तर्ज पर जागृति जत्था, बामसेफ सहकारिता, समाचार पत्र एवं प्रकाशन, संसदीय सपर्क शाखा, विधिक सहयोग एवं सलाह, विद्यार्थी, युवक, महिलाएं, औद्योगिक श्रमिक, खेतिहर श्रमिक इत्यादि नामक कई विंग भी स्थापित किए।

लेकिन कांशीराम ने अपने संगठन की 'जागृति जत्था' और 'समाचार पत्र एवं प्रकाशन' शाखा के माध्यम से बहुजनों की जाति-चेतना का राजनीतिकरण करने के लिए सर्वाधिक जोर उस आर्य-अनार्य सिद्धान्त पर दिया जिसका प्रचार अपने *आत्म-सम्मान आंदोलन* के माध्यम से करके पेरियार ने वर्षों पूर्व दक्षिण भारत में ब्राह्मण सत्ता का विनाश कर दिया था। इससे उन्हें दोहरी कामयाबी मिली। एक तो 6000 जाति उपजाति में बंटे हजारों सालों के दासों में आर्यो द्वारा पराधीन बनाए गए प्राचीन भारत के प्रति अभूतपूर्व गौरव का संचार एवं हृत गौरव के उद्धार के लिए शासक बनने की भावना पैदा हुई। दूसरे ब्राह्मणवाद द्वारा खड़ी की गई घृणा और शत्रुता की दीवार तोड़कर, एक दूसरे के निकट, बन्धुभाव लिए आने की प्रेरणा प्राप्त हुई। बकौल कांशीराम वे तीन दशकों के प्रयत्नों के बाद अब तक मात्र 600 जातियों को ही जोड़ पाए हैं। उनके आंदोलनों के फलस्वरूप यदि सुदूर भविष्य में बाकी साढ़े पांच हजार जातियां जुड़ गईं तो बहुजन भारत का चित्र क्या होगा, इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

कांशीराम के व्यक्तित्व और कृतित्व पर अभय कुमार दुबे द्वारा लिखित पुस्तक से पता चलता है कि जाति चेतना के राजनीतिकरण और बहुजन समाज बनाने के लिए आर्य-अनार्य सिद्धान्त के प्रचार प्रधानता के जिन दूसरे विषयों पर उनका जागृति जत्था एवं प्रकाशन विभाग केन्द्रित रहा वे विषय थे–

ब्राह्मणवादी व्यवस्था में बहुजनों की हानिकाकरक स्थिति तथा इस व्यवस्था से संघर्ष करने वाले फुले, शाहूजी महाराज, पेरियार तथा आंबेडकर के विचारों तथा आंदोलनों का वर्णन; कांशीराम के विचारों, भाषणों का वर्णन और उनके आंदोलन संबंधी जानकारी; दलित शोषितों के उत्पीड़न का वर्णन अथवा सवर्णों के अत्याचारों सम्बंधी समाचारों का संकलन; शासन-प्रशासन में बहुजनों की अल्प-भागीदारी का वर्णन; बहुजनों की प्रत्येक जातियों एवं

वर्गों का गौरवमय इतिहास। और जब उनकी शिष्या मायावती के हाथों में खण्ड-खण्ड में उ.प्र. की सत्ता आई तो उन्होंने बहुजनों की प्रत्येक जातियों और वर्गों का इतिहास प्रचारित करने पर कुछ ज्यादा ही जोर दिया।

भारत के जाति समाज में, जहां व्यक्ति की सोच स्वजाति व स्व-वर्ण के मध्य ही घूर्णित होती हो, वहां यदि किसी जाति का अपना नायक न हो और उसे सिर्फ दूसरी जातियों के नायकों को ही पूजने के लिए मजबूर रहना पड़े तो वह जाति आत्महीनता का शिकार हो जाती है। हिन्दू विद्वानों के सौजन्य से नायक सम्पन्न होकर भी शूद्रातिशूद्र समाज नायक विहीन था। मायावती के हाथों जब-जब सत्ता आई उन्होंने विस्मृत बहुजन नायकों को नये सिरे से प्रतिष्ठित कर, दबी-कुचली जातियों के इतिहास को गौरव प्रदान करने का यत्न किया। उन्होंने आंबेडकर, पेरियार, फुले, शाहूजी इत्यादि के नाम पर मेले लगवाना शुरू किया। भारत में पहली बार डॉ. आंबेडकर के नाम पर आगरा विश्वविद्यालय का नामकरण; आगरा स्टेडियम का नाम एकलव्य, कानपुर विश्वविद्यालय शाहूजी के नाम पर, ज्योतिबा फुले एवं गौतम बुद्ध, महामाया, शहीद उधम सिंह, संत कबीर आदि के नाम पर पुराने जिलों के नामकरण के पीछे मायावती की मंशा उपेक्षित जातियों के इतिहास को गौरवमय बनाने की रही। इसी मकसद से उन्होंने अलीगढ़ में पिछड़ी जाति के कर्पूरी ठाकुर, अहिल्याबाई होल्कर की प्रतिमा स्थापित किया तो लखनऊ में लखना पासी के किले का पुनर्निर्माण और परिवर्तन चौक निर्माण। दलित पिछड़ों में आत्म-गौरव का संचार करने के लिए ही सामाजिक परिवर्तन के लिए कार्य करने वाले बहुजन महापुरुषों की स्मृति में उन्होंने *डॉ. आंबेडकर गौरव पुरस्कार, अहिल्याबाई होल्कर पुरस्कार, संत रविदास स्मृति पुरस्कार, संत कबीर सांस्कृतिक एकता पुरस्कार, महर्षि वाल्मीकि साहित्य पुरस्कार, वीरांगना महारानी लक्ष्मीबाई पुरस्कार, अवन्तीबाई पुरस्कार, सावित्रीबाई फुले पुरस्कार, वीरांगना झलकारीबाई पुरस्कार* आदि स्थापित किया। किन्तु उनका ड्रीम प्रोजेक्ट बना आंबेडकर पार्क ही। क्यों? इसके लिए पिछले दशक की परिस्थितियों का जायजा लेना होगा।

वास्तव में वर्षों पूर्व विराट आर्य भविष्यद्रष्टा ने जिस उद्देश्य से आर.एस.एस. की स्थापना की थी उसकी असल परीक्षा की घड़ी तब आई जब मंडल कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित होने के बाद दलित-पिछड़ों का अभूतपूर्व ध्रुवीकरण हुआ। इस ध्रुवीकरण ने यह संकेत दे दिया कि निकट भविष्य में जाति चेतना का जबर्दस्त राजनीतिकरण होने जा रहा है जिसके फलस्वरूप ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्यों के लिए चुनाव जीतकर संसद व विधानसभाओं में पहुंचना दुष्कर होगा। इस संकेत को समझकर ही डॉ. हेडगेवार के सुयोग्य उत्तराधिकारियों-गोलवलकर, श्यामा प्रसाद मुखर्जी, डी.डी. उपाध्याय द्वारा प्रशिक्षित संघियों ने राम जन्मभूमि उद्धार के नाम पर स्वाधीनोत्तर भारत का का सबसे बड़ा आंदोलन (अटल जी के अनुसार) खड़ा कर दिया। इस आंदोलन के फलस्वरूप राम मंदिर के नाम पर सवर्णों के साथ दलित-पिछड़ों का भी ध्रुवीकरण हुआ। उससे सवर्णों को जाति चेतना की आंधी का मुकाबला करने का अवसर मिल गया। इस सफलता से उत्साहित संघ परिवार ने ध्वस्त बाबरी मस्जिद स्थल पर ही राम मंदिर बनाने का संकल्प यह हिसाब करके ही ले लिया कि अदालत और जनमत के दबाव

के कारण वहां राम मंदिर बनेगा नहीं और जब तक बनेगा नहीं तब तक उसके निर्माण के लिए आंदोलन चलाकर चुनावों में हिन्दू के नाम पर सवर्णों को जिताया जा सकता है। जैसी कि समाजशास्त्रीय सच्चाई कि हिन्दू-धर्म के नाम पर जब आंदोलन खड़ा होगा तो हिन्दू के नाम पर सवर्णों के साथ दलित-पिछड़े भी ध्रुवीकृत होंगे पर नेतृत्व ब्राह्मण के हाथ में जाएगा ही जाएगा। इस हकीकत के कारण ही अटल जी एक नहीं तीन बार प्रधानमंत्री पद की शपथ लेने में कामयाब रहे।

संघ-परिवार के साथ *तू डाल-डाल मैं पात-पात* वाला राजनीतिक खेल खेलने वाले कांशीराम ने राम मंदिर निर्माण के टाल-मटोल के पीछे छिपे कारण को समझने में चूक नहीं की। साथ ही उन्होंने यह जान लिया संघ की राजनीतिक शाखा भाजपा ने बड़ी होशियारी से खुद को हिन्दू-धर्म-संस्कृति से एकाकार कर लिया है। ऐसे में जब तक लोगों में राम और हिन्दू-धर्म-संस्कृति के प्रति जरा भी आकर्षण है इनके नाम पर दलित-पिछड़ों की धार्मिक भावना को उद्वेलित कर उसे बैलेट बॉक्स में परिवर्तित करती रहेगी। ऐसे में कोई ऐसा समानान्तर उपाय करना जरूरी था जिससे राम और हिन्दू-धर्म संस्कृति की काट पैदा की जा सके। और ऐसा उपाय सिर्फ आंबेडकर पार्क जैसा स्मारक बना कर ही किया जा सकता था। इसलिए पहली बार मुख्यमंत्री बनते ही मायावती जी ने अपने 137 दिनों के अल्पकालीन शासन में ही इसकी बुनियाद रख दी। दूसरी बार जब छह महीने के लिए मुख्यमंत्री बनीं तो पार्क का क्षेत्र 5 से 28 एकड़ और बजट 10 से 80 करोड़ कर दिया। हालांकि तीसरी बार के मौजूदा कार्यकाल में वे प्रधानता दलित-पिछड़ों को नये-नये क्षेत्र में भागीदारी सुलभ कराने को दे रही हैं पर आंबेडकर पार्क के प्रति पहले की भांति ही गंभीर हैं। इस बार उन्होंने इसके बजट में 30 करोड़ का और इजाफा करने के साथ *इंदिरा गांधी प्रतिष्ठान* की 23 एकड़ जमीन भी इसमें शामिल कर दी है जिस पर अलग से 50 करोड़ का निर्माण होगा। आंबेडकर पार्क तक लोगों को खींच लाने की गरज से मायावती इस पर कितना खर्च करेंगी, कोई ओर छोर नहीं दिखता।

वास्तव में तरह-तरह का विरोध व जोखिम उठाकर भी जिस तरह मायावती आंबेडकर पार्क को भव्य रूप देने पर आमादा हैं उससे यही प्रतीत होता है कि कांशीराम ने राम मंदिर (जिसे लोगों की धार्मिक चेतना का निरंतर राजनीतिकरण करते रहने के उद्देश्य से संघ-परिवार बनाना नहीं चाहता) का जवाब आंबेडकर पार्क में ढूढ़ लिया है। उ.प्र. बसपा और भाजपा दोनों की प्रयोगशाला है। दोनों ही सांस्कृतिक आंदोलनों के माध्यम से अपनी-अपनी मंजिल की ओर आगे बढ़ रहे हैं। आज दोनों अपनी प्रयोगशाला में एक दूसरे के निकट आकर अपना-अपना दावपेंच आजमा रहे हैं। इस दांवपेंच में अगर भाजपा, बसपा को पालतू बना लेती है तो जाति चेतना के राजनीतिकरण की दीवार को गिराकर सवर्णों की सत्ता का मार्ग सुगम कर लेगी और बसपा.......। कांशीराम ने कई बार साक्षात्कारों में दुहराया है- *मैं उत्तर प्रदेश पर इसलिए केन्द्रित करता हूं क्योंकि यह ब्राह्मणवाद का पालना है। अगर भारत वर्ष को एक पुरुष के रूप में देखें तो उ.प्र. उसकी गर्दन है। जब मैं गर्दन दबोचता*

हूं तो शरीर के दूसरे अंग अपने आप निष्क्रय हो जाते हैं और उन पर हमारा नियंत्रण हो जाता है। ..... हम भारत सरकार पर नियंत्रण से कम कुछ नहीं चाहते।........

लेकिन राम मंदिर आंदोलन के सौजन्य से तो भारत सरकार पर नियंत्रण संघ-परिवार का है। वहां बहुजन समाज का तभी नियंत्रण हो सकता है जब राम-मंदिर का कुछ ऐसा विकल्प खड़ा किया जा सके जहां से उस पेरियार के आत्म-सम्मान आंदोलन संदेश प्रचारित हो जिन्होंने राम की मूर्ति को जूते और झाड़ू मारते-मारते दक्षिण भारत से ब्राह्मण-सत्ता का खात्म कर दिया। ऐसे में क्या नहीं लगता कि राम मंदिर का विकल्प ही आंबेडकर पार्क है? इस संबंध में *दैनिक जागरण* की 30 सितम्बर की यह टिप्पणी विशेष ध्यान देने योग्य है – *बसपा की धिक्कार* रैली में *बसपा सुप्रीमों कांशीराम और मुख्यमंत्री मायावती की गर्जना और शाम को चारबाग रेलवे स्टेशन पर मची भगदड़ में मरने वालों के परिजनों के आर्तनाद के बावजूद एक संदेश दीवार पर लिखी इबारत की तरह साफ था। दलितों में आई राजनीतिक चेतना की उपज आंबेडकर पार्क अब उनके स्वाभिमान का प्रतीक ही नहीं आंबेडकरपंथियों के लिए तीर्थस्थल भी बन गया है।* शायद इस पार्क को तीर्थस्थल मानने के कारण ही इसे अय्याशी का अड्डा कहे जाने के प्रतिवाद में सामाजिक परिवर्तन के दीवानों ने आर्यावर्त के हृदयस्थल पर सबसे बड़ी रैली कर डाली।

एक सांस्कृतिक आंदोलन का निधन-यज्ञ

उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री के ताजातरीन फैसले से आज बहुजन भारत स्तब्ध है। वास्तव में मुलायम सिंह यादव ने ज्योतिबा फुले नगर, श्रावस्ती, महामाया नगर, संतकबीर नगर, कौशांबी, औरेय्या, गौतम बुद्ध नगर, चंदौली, आंबेडकर नगर जिले सहित चार मंडलों को नक्शे से मिटाकर, इन्हें इनके पुराने जिलों में समोहित करने का जो निर्णय लिया है, उसे सामाजिक परिवर्तन के लिए चलाए गए एक सांस्कृतिक आंदोलन के निधन-यज्ञ से भिन्न कुछ कहा ही नहीं जा सकता। हांलांकि बकौल प्रदेश कांग्रेस अध्यक्ष जगदंबिका पाल मुलायम सिंह की दिवालिया सरकार ने जो पागलपन भरा फैसला लिया है, उसका विरोध क्रमशः उग्रतर होते जा रहा है। इस फैसले के विरोध में उतरे लोगों में आक्रोश इसलिए है कि इन्हें लगता है जिले बनने से इनके क्षेत्र में विकास की जो किरण उभरी थी, उसे मुलायम सिंह ने निगल लिया है। पर, बहुत भारी संख्या में ऐसे भी लोग हैं, जो सड़कों पर विरोध में नहीं उतरे हैं। किंतु यह सोचकर मर्माहित हैं कि आर्यावर्त में सामाजिक परिवर्तन की जो किरण उभर रही थी, उसके विस्तार लाभ करने पर मुलायम सिंह ने भारी अंकुश लगा दिया है।

इटली के मशहूर क्रांतिकारी चिंतक एन्टोनियों ग्राम्शी ने वर्चस्वता यानि हेजीमोनी के सिद्धांत को परिभाषित करते हुए कहा है कि एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर वैचारिक एवं सांस्कृतिक प्रभुत्व स्थापित करना ही वर्चस्वता यानि हेजीमोनी है। ग्राम्शी ने शोषितों को सावधान करते हुए कहा था कि अगर शासक वर्ग की वर्चस्वता को ध्वस्त करना है, तो शोषित वर्ग को 'वैकल्पिक वर्चस्वता' स्थापित करनी होगी। स्थापित सामाजिक मूल्यों, संरचनाओं तथा संस्थाओं को अपने ढंग से विश्लेषित कर खंडित करना होगा। यद्यपि ग्राम्शी ने यह बात इटली के तत्कालीन समाज के संदर्भ में कही थी, पर उसका महत्त्व सार्वदेशिक है। जहां तक भारत का सवाल है, इस लेखक ने विराट भविष्यदृष्टा कांशीराम को कभी ग्राम्शी को उद्धृत करते हुए न तो सुना है, न पढ़ा है। किंतु कांशीराम ने इस देश के शासक-शोषक अल्पजनों के वर्चस्व को तोड़ने के लिए जिन वैकल्पिक उपायों का अवलंबन किया है, वह ग्राम्शी के विज्ञानसम्मत सिद्धांत पर पूरी तरह फिट बैठता है।

भारत के अल्पजन शासक जातियों की वर्चस्वता को तोड़ने के लिए कांशीराम ने 'मूलनिवासीवाद' का प्रचार चलाकर 6000 जातियों में बंटे शोषित अनार्यों को भ्रातृत्व के बंधन में बांधकर बहुजन समाज बनाने की प्रक्रिया शुरू किया। आर्य-अनार्य सिद्धांत बहुप्रचारित करने के साथ ही उन्होंने परंपरागत शासक जातियों का वर्चस्व ध्वस्त करने के लिए ही ब्राह्मणवादी व्यवस्था में बहुजनों की हानिकारक स्थिति से अवगत कराने और इस व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष करने वाले ज्योतिबा फुले, पेरियार, डॉ. आंबेडकर, शाहूजी महाराज, नारायण

गुरु जैसे मशहूर महापुरुषों के विचारों को बहुजनों तक पहुंचाने के लिए दिन रात एक कर डाला। यही नहीं नायक संपन्न होकर भी शासक वर्ग के विद्वानों के सौजन्य से बहुजन समाज नायक विहीन था। ऐसे में 'बहुजन वर्चस्वता' को स्थापित करने के लिए उन्होंने इतिहास में दफन कर दिए गए असंख्य विस्मृत नायकों को ढूंढ निकाला। अपने को महान नायकों का वंशधर जानकर दबी-कुचली जातियों में आत्म-गौरव का संचार हुआ, जिससे इनमें जाति चेतना के राजनीतिकरण की प्रक्रिया शुरू हुई। मंडलोत्तर काल में जाति चेतना के जबरदस्त उछाल से आर्यावर्त में दलित-पिछड़ों का सत्ता पर वर्चस्व स्थापित हुआ।

कांशीराम द्वारा शुरू की गई जाति चेतना के राजनीतिकरण की राह से जब उत्तर प्रदेश की सत्ता उनकी शिष्या मायावती के हाथ में आई, उन्होंने बहुजन नायकों को प्रतिष्ठित करने के लिए अपनी सत्ता का भरपूर इस्तेमाल किया। उन्होंने आंबेडकर, फुले, पेरियार, शाहूजी इत्यादि के नाम पर मेले लगवाना शुरू किया। भारत में पहली बार आगरा विश्वविद्यालय, आगरा स्टेडियम, कानपुर विश्वविद्यालय का नामकरण क्रमश: डॉ. आंबेडकर, एकलव्य और शाहूजी महाराज जैसे शूद्रातिशूद्र नायकों पर करने के साथ ही ज्योतिबा फुले, गौतम बुद्ध, महामाया, संत कबीर, उधम सिंह, श्रावस्ती, कौशांबी इत्यादि के नाम पर जिले निर्माण के पीछे मायावती की मंशा हजारों साल की दास जातियों की 'वैकल्पिक वर्चस्वता' कायम करनी थी। इसी इरादे से उन्होंने अलीगढ़ में पिछड़ी जाति के कर्पूरी ठाकुर और अहिल्याबाई होल्कर की प्रतिमा स्थापित करवाया, तो लखनऊ में लखना पासी के किले का पुनर्निर्माण और परिवर्तन चौक का निर्माण। आमूल सामाजिक परिवर्तन की अनिवार्य शर्त 'वैकल्पिक वर्चस्वता' के अभियान को तुंग पर ले जाने के लिए ही मायावती ने आंबेडकर गौरव पुरस्कार, अहिल्याबाई होल्कर पुरस्कार, संत रविदास स्मृति पुरस्कार, संत कबीर सांस्कृतिक एकता पुरस्कार, महर्षि वाल्मीकि पुरस्कार, वीरांगना महारानी लक्ष्मीबाई पुरस्कार, अवंतीबाई पुरस्कार, सावित्रीबाई फुले पुरस्कार, वीरांगना झलकारी बाई पुरस्कार मुख्यमंत्री के रूप में अपने एकाधिक कार्यकाल में स्थापित किए ।

कांशी-माया द्वारा चलाए गए सांस्कृतिक आंदोलनों की प्रभावकारिता का आंकलन करते हुए चर्चित बुद्धिजीवी चंद्रभान प्रसाद ने 4 नवंबर 99 में लिखा था, *''बसपा के गठन के बाद दलित समाज में व्यापक परिवर्तन होने लगे। लोगों ने हिंदू देवी-देवताओं की मूर्तियां घरों से निकाल नदी तालाबों में डूबोना शुरू किया। उनके स्थान पर गौतम बुद्ध, फुले, आंबेडकर, कांशीराम की तस्वीरें लगाना शुरू कर दिया। इस तरह बसपा जहां चुनावों में एक राजनीतिक पार्टी लगती है, वहीं सामान्य परिस्थितियों में सामाजिक सांस्कृतिक आंदोलन का दर्पण लगती है।''* चूंकि कांशी-माया का लक्ष्य अल्पजनों की जगह बहुजनों की वर्चस्वता स्थापित करना रहा है इसलिए येन-केन प्रकारेण सत्ता हस्तगत करके, उस सत्ता का सर्वाधिक इस्तेमाल बसपा ने सांस्कृतिक आंदोलनों की धार तेज करने में लगाया। यही कारण है जब मंडलोत्तर भारत में 'राम मंदिर' के नाम पर परंपरागत शासक जातियों ने अपनी वर्चस्वता का अभियान पुन: तेज किया तब मायावती ने धर्मनिरपेक्ष मोर्चा बनाने

के बजाय चरम राम विरोधी पेरियार को आर्यावर्त में प्रचारित करने और राम मंदिर का तोड़ आंबेडकर स्मारक बनाने पर ध्यान केंद्रित किया।

कायदे से देखा जाए तो आंबेडकर स्मारक और पेरियार का तीव्रतर विरोध सवर्णों की ओर से होना चाहिए था, पर हुआ शूद्र मुलायम की ओर से। आंबेडकर स्मारक के विरोध में सबसे आगे निकलकर उन्होंने जहां इसे अय्याशी का अड्डा घोषित कर दिया, वहीं उनके अनुयायियों ने इसमें लगने वाली पेरियार की मूर्ति को नाले में डुबो देने का एलान कर डाला। ऐसा कह कर मुलायम ने संकेत दे दिया कि उनके सत्ता में आने पर वैकल्पिक सांस्कृतिक प्रतीकों के वजूद पर संकट आएगा और वैसा ही हुआ भी। पहले उन्होंने भारत में सर्वप्रथम आरक्षण प्रणाली की शुरुआत करने वाले कुर्मी नायक शाहूजी महाराज पर निशाना साधते हुए किंग जॉर्ज मेडिकल कॉलेज और अमेठी का पुनरुद्धार किया। उस सफलता से उत्साहित होकर अब फुले, गौतम बुद्ध, आंबेडकर, महामाया, कबीर इत्यादि पर निशाना साध दिया है। सदियों के दासों के वर्चस्व को स्थापित करते प्रतीकों के विरुद्ध अगर आज सवर्ण निर्णय लिए होते, तो देश में आग लग जाती। पर, अफसोस महज सवर्णों का समर्थन जय करने की तुच्छ लालसा से यह काम दास जाति के एक नायक ने ही कर डाला है। उनके विध्वंसक फैसले पर आज अगर 'पेरियार' ललई सिंह यादव जीवित होते, तो निश्चय ही आत्महत्या कर लेते। पता नहीं लेखक राजेंद्र यादव पर क्या गुजर रही होगी, जिन्होंने मुलायम की ताजपोशी के बाद उन्हें मायाद्रोह से कम से कम एक साल दूर रहने के लिए एक खुला पत्र लिखा था।

डॉ. आंबेडकर : राष्ट्रीय आंदोलन के खलनायक या नायक?

15 अगस्त आ रहा है। फिर शहीदों के नाम पर मेले लगेंगे। उस दिन फिर लोग गांधी, नेहरू, तिलक, सुभाष, पटेल, भगत सिंह इत्यादि की राष्ट्रीय आंदोलनों में अदा की गई स्वर्णिम भूमिका का स्मरण कर उनकी तस्वीरों, मूर्तियों पर फूल-माला चढ़ाएंगे। आने वाले स्वाधीनता दिवस के अवसरों पर भी हम वही दृश्य चाक्षुस करेंगे। लेकिन यह एक अप्रिय सच्चाई है कि राष्ट्रीय आंदोलन में जिनकी भूमिका का स्मरण कर लोग श्रद्धा सुमन अर्पित करते हैं, वे वर्तमान में क्रमश: अप्रासंगिक होते जा रहे हैं। विपरीत इसके राष्ट्रीय आंदोलन के खलनायक के रूप में चिन्हित डॉ. आंबेडकर की प्रासंगिकता दिन दूनी-रात चौगुनी बढ़ती ही जा रही है। अब तो स्वाधीनता दिवस के अवसर पर वे भी कुछ-कुछ सम्मान के साथ याद किए जाने लगे हैं, पर असल सच्चाई यही है कि डॉ. आंबेडकर को उनकी जीवितावस्था में ही ब्रिटिश कठपुतली और राष्ट्रविरोध की जो छवि प्रदान की गई, वह आज भी बहुतों की नजर में अटूट है। लेकिन तमाम अभियोगों के बावजूद उनकी छवि एक राष्ट्रीय नायक के रूप में दीर्घ से दीर्घतर होती जा रही है, तो मानना ही पड़ेगा उनके विरोधी पक्ष की सोच में कहीं भ्रांति अवश्य है।

राष्ट्रीय आंदोलन में डॉ. आंबेडकर की भूमिका का मूल्यायन करते समय सबसे जरूरी है कि राष्ट्रीय आंदोलनों का प्रधान श्रेय लेने वाली कांग्रेस के उद्देश्यों को ध्यान में रखा जाए। 1885 में ए.ओ. ह्यूम द्वारा स्थापित कांग्रेस का, डब्ल्यू.सी. बनर्जी की अध्यक्षता में 28 नवंबर 1885 को पहला अधिवेशन हुआ, जिसमें उसके उद्देश्यों की घोषणा करते हुए कहा गया था, *देश की सेवा हेतु कर्मठ कार्यकत्ताओं के बीच वैयक्तिक मित्रता एवं घनिष्ठता स्थापित करना, जातिगत तथा क्षेत्रीय पक्षपातों का अंत करना, राष्ट्रीय एकता की भावनाओं का संपूर्ण विकास तथा संगठन करना, महत्त्वपूर्ण और आवश्यक सामाजिक समस्याओं के संबंध में शिक्षित लोगों के विचारों को संकलित करना और उन विधियों को निश्चित करना, जिसके माध्यम से देश के राजनीतिज्ञ जनहित में काम कर सकें, ही संगठन का उद्देश्य है।* कहना न होगा कांग्रेस की स्थापना के मूल में राजनीतिक स्वाधीनता न होकर समाज सुधार था। इसकी स्थापना के बाद ही पहली बार हिंदुस्तानियों ने देश की व्यवस्था और सामाजिक बुराइयों में रुचि लेना शुरू किया। इससे प्रोत्साहित होकर दीवान बहादुर रघुनाथ राव और न्यायमूर्ति महादेव गोविंद रानाडे ने इस बात पर बल दिया कि *''राष्ट्रीय आंदोलन मात्र राजनीतिक ही नहीं होना चाहिए और राजनीतिक सवालों के चिंतन के साथ-साथ भारतीय सामाजिक अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित करने वाले प्रश्नों पर भी विचार-विमर्श होना चाहिए और सबका*

सर्वोत्तम प्रयास यह हो कि सामाजिक बुराइयों का खात्मा कर हिंदू समाज को मजबूत बनाया जाए। द्ध बी.आर. आंबेडकर : व्हाट कांग्रेस एंड गांधी हैव डन टू द अनटचेबल्स, पृष्ठ 11ऋ बाद में रानाडे और उनके साथियों ने समाज सुधार को और प्रमुखता देने के लिए भारतीय राष्ट्रीय समाज सम्मेलन की स्थापना की, जिसका प्रथम अधिवेशन राजा सर टी. माधवराव की अध्यक्षता में सितंबर 1887 में मद्रास में संपन्न हुआ।

लेकिन समाज सम्मेलन की गतिविधियां सभी कांग्रेसियों को पसंद नहीं आई। इससे कांग्रेस में दो गुट हो गए और दोनों गुट एक ही शामियाने में अलग-अलग सभाएं करने लगे। पर, 1895 में बाल गंगाधर तिलक के नेतृत्व में समाज सुधार विरोधी गुट ने समाज सम्मेलन को राष्ट्रीय कांग्रेस से पूरी तरह अलग कर दिया। इसके बावजूद भी 'समाज सम्मेलन' झुक कर कांग्रेस से संबंध बनाए रखा। दो वर्ष की शांति के बाद 1897 के अमरावती अधिवशेन में कांग्रेस के मंच से फिर कहा गया, *'हमारे देश के राजनीतिक उत्थान के लिए जितनी बड़ी जरूरत ब्रिटिश शासन को उखाड़ने की है, उससे कहीं अधिक आवश्यकता समाज सुधार की है। (दि इंडियन नेशनल कांग्रेस, पृष्ठ 380)।* समाज सुधार की घोषणा से तिलक गुट बेहद नाराज हो गया, जिससे कांग्रेस में भारी आपसी मतभेद पैदा हो गया और उधर 1905 तक समाज सम्मेलन मृतप्राय हो गया।

वास्तव में तिलक के नेतृत्व में कांग्रेस में समाज सुधार पूरी तरह हाशिए पर चला गया। उनका गुट नहीं चाहता था कि राष्ट्रीय आंदोलन के माध्यम से किसी सामाजिक सुधार का बोझ को ढोया जाए। उस गुट की एक मंशा थी 'सशक्त हिंदू राष्ट्र का निर्माण' और वह भी कैसा ? तिलक के अनुसार, *भारतीय राष्ट्रवाद विशुद्ध धर्म निरपेक्ष नहीं हो सकता, उसे हिंदू परंपरा पर आधारित होना चाहिए। (मॉडर्न इंडियन पॉलिटिकल थाट, पृष्ठ 167)*। कहना न होगा तिलक का विचार कांग्रेस में प्रभाव जमाते चला गया। विशेषकर 1915 में गोपालकृष्ण गोखले और फिरोजशाह मेहता जैसे नरमपंथियों की मृत्यु और 1916 में दोनों कांग्रेस के गुटों के आपस में विलय के बाद तिलक की स्थिति और मजबूत हो गई। अब समाज सुधार चला गया पूरी तरह पृष्ठ में और कांग्रेस के आंदोलन का लक्ष्य बना होम-रुल (स्व-शासन) जो परवर्ती काल में स्वराज में तब्दील हो गया। बाद में जब भारत के राजनीतिक पटल पर डॉ. आंबेडकर का उदय हुआ, उन्होंने सामाजिक सुधारों की उपेक्षा के लिए बार-बार कांग्रेसियों के विवेक को ललकारा।

डॉ. आंबेडकर ने समाज सुधार की अहमियत पर जात-पांत तोड़क मंडल 1936 के वार्षिक सम्मेलन के लिए तैयार किए गए अपने ऐतिहासिक भाषण में स्पष्ट रोशनी डाली है। उनका यह विस्तृत भाषण बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर के संपूर्ण वाङ्मय के खंड एक में लिपिबद्ध है। इस खंड के पृष्ठ 55 पर बाबा साहेब कहते हैं, *एक समय था, जब यह माना जाता था कि सामाजिक कुशलता के बिना अन्य कार्य क्षेत्र में प्रगति असंभव है। कुप्रथाओं से फैली बुराइयों के कारण हिंदू समाज की कार्य कुशलता समाप्त है। अब इन बुराइयों को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए अथक प्रयास करने होंगे। इस तथ्य को समझ कर ही राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म के साथ*

ही सामाजिक सम्मेलन की स्थापना हुई। जहां कांग्रेस का संबंध देश के राजनीतिक संगठन में कमजोर तथ्यों को परिभाषित करना था, वहां सामाजिक सम्मेलन हिंदू समाज के सामाजिक संगठन में कमजोर बातों को दूर करने में लगा था। कुछ समय कांग्रेस और सम्मेलन ने एक सामान्य क्रियाकलाप के दो अंगों के रूप में कार्य किया और उनके वार्षिक अधिवेशन भी एक ही पंडाल में होते रहे, किंतु शीघ्र ही ये दो अंग दो दलों में बदल गए—एक राजनीतिक सुधार दल दूसरा सामाजिक सुधार दल। दो संस्थाएं, दो विरोधी कैंप बन गए। मुद्दा यह था कि क्या सामाजिक सुधार राजनीतिक सुधारों के पहले होना चाहिए।

अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए पृष्ठ 56 पर डॉ. आंबेडकर कहते हैं, *.........समय के साथ-साथ राजनीतिक सुधार वाले दल की जीत हुई और सामाजिक सम्मेलन गायब हो गया। इलाहाबाद में हुए कांग्रेस के आठवें अधिवेशन के अध्यक्ष के रूप में डब्ल्यू. सी. बनर्जी ने जो भाषण दिया था, वह सामाजिक सम्मेलन की मृत्यु पर पढ़े गए शोक संदेश जैसा लगता है। वह कांग्रेस की प्रवृति का इतना बड़ा द्योतक कि मैं उससे यहां एक उद्धरण दे रहा हूं। श्री बनर्जी ने कहा था, मैं ऐसे लोगों की बात सुनने के लिए तैयार नहीं हूं, जो यह कहते हैं कि हम अपनी सामाजिक प्रणाली में जब तक सुधार नहीं करेंगे, तब तक हम राजनीतिक सुधारों के योग्य नहीं हो पाएंगे। मुझे दोनों के बीच कोई संबंध नहीं दिखाई देता। ...... क्या हम (राजनीतिक सुधार) इसलिए उपयुक्त नहीं हैं, क्योंकि हमारी विधवाएं अविवाहित रह जाती हैं और हमारी लड़कियां अन्य देशों की तुलना में बहुत पहले ही विवाह के सूत्र में बांध दी जाती हैं ? क्योंकि पत्नी और पुत्रियां हमारे मित्रों से मिलने जाने के लिए हमारे साथ कारों में नहीं चलती ? क्योंकि हम अपनी पुत्रियों को ऑक्सफोर्ड और कैंब्रिज नहीं भेजते ?*

डॉ. आंबेडकर श्री बनर्जी की उपरोक्त दांभिक घोषणा का जवाब पृष्ठ 58-59 पर देते हुए कहते हैं, *मैं राजनीतिक प्रवृति के हिंदुओं से पूछता हूं— जब आप अपने ही देश के अछूतों जैसे एक बड़े वर्ग को सार्वजनिक स्कूल का प्रयोग नहीं करने देते, तो क्या आप राजनीतिक सत्ता के योग्य हैं ? जब आप उन्हें सार्वजनिक कुओं का प्रयोग नहीं करने देते, तो क्या आप राजनीतिक सत्ता के योग्य हैं ? जब आप उन्हें आम सड़कों का प्रयोग नहीं करने देते, तो क्या आप राजनीतिक सत्ता के योग्य हैं ? जब आप उन्हें अपनी पसंद के आभूषण और वेशभूषा धारण नहीं करने देते, तो क्या आप राजनीतिक सत्ता के योग्य हैं ? जब आप उन्हें उनकी पंसद का भोजन नहीं करने देते, तो क्या आप राजनीतिक सत्ता के योग्य हैं ?*

डॉ. आंबेडकर सामाजिक सुधार के महत्व पर आलोकपात् करते हुए पृष्ठ 61-62 पर इतिहास से कुछ उद्धरण प्रस्तुत करत हुए कहते हैं, *यह कहा जा सकता है कि इतिहास सामान्यत: इस प्रस्ताव पर बल देता है कि राजनीतिक क्रांतियां हमेशा सामाजिक और धार्मिक क्रांतियों के बाद हुई हैं। लूथर द्वारा आरंभ किया गया धार्मिक सुधार यूरोप के लोगों की राजनीतिक मुक्ति का अग्रदूत था। इंग्लैंड में प्यूरिटनवाद के कारण राजनीतिक स्वतंत्रता की स्थापना हुई। प्यूरिटनवाद ने नए विश्व की स्थापना की।*

प्यूरिटनवाद ने ही अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम को जीता। प्यूरिटनवाद एक धार्मिक

आंदोलन था। यही बात मुस्लिम साम्राज्य के संबंध में भी सत्य है। अरबों के राजनीतिक सत्ता बनने से पहले वे पैगंबर मुहम्मद साहब द्वारा आरंभ संपूर्ण धार्मिक क्रांति से गुजरे थे। यहां तक कि भारतीय इतिहास भी उसी निष्कर्ष का समर्थन करता है। चंद्रगुप्त द्वारा संचालित राजनीतिक क्रांति से पहले भगवान बुद्ध की धार्मिक और सामाजिक क्रांति हुई थी। शिवाजी के नेतृत्व में राजनीतिक क्रांति भी महाराष्ट्र के संतों द्वारा किए गए धार्मिक और सामाजिक सुधारों के बाद ही हुई थी। सिखों की राजनीतिक क्रांति से पहले गुरु नानक द्वारा की गई धार्मिक और सामाजिक क्रांति हुई थी। यहां और दृष्टांत देना अनावश्यक है। इन दृष्टांतों से यह बात प्रकट हो जाएगी कि मन और आत्मा की मुक्ति जनता के राजनीतिक विस्तार के लिए पहली आवश्यकता है।

लेकिन इतिहास से तमाम दृष्टांत देकर भी डॉ. आंबेडकर राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े मुख्यधारा के लोगों को उन सामाजिक बुराइयों के खात्मे के लिए प्रेरित न कर सके, जिनसे हिंदू समाज सदियों से ग्रसित था। स्वराज हासिल करने के जुनून में राष्ट्रीय आंदोलन के नायकों ने न्यायमूर्ति रानाडे और उनके साथियों के उन लक्ष्यों को पूरी तरह भुला दिया, जिसे हिंदू समाज को सशक्त बनाने के इरादे से निर्धारित किया था। स्वाधीनता संग्रामियों की उदासीनता के कारण इतिहास ने सदियों से चली आ रही सामाजिक बुराइयों से लड़ने और जानवरों से भी बदतर जीवन जी रही बहुसंख्यक आबादी की मुक्ति का बोझ डॉ. आंबेडकर के कंधे पर डाल दिया। कहना नहीं होगा कि एक महानायक की भांति आंबेडकर ने इतिहास द्वारा सौंपे गए दायित्व का निर्वाह जीवन-पर्यंत किया। पर, अपनी ऐतिहासिक भूमिका के बावजूद डॉ. आंबेडकर राष्ट्रीय आंदोलन के बड़े नायक के रूप में आदर न पा सके, तो उसका प्रधान कारण यही है कि अरुण शौरी ब्रांड के बुद्धिजीवियों ने उनकी भूमिका को डॉ. डी.आर. जाटव जैसे विद्वानों के नजरिए से परखने के बजाय, उसे विकृत करने में ज्यादा रुचि ली।

डॉ. डी.आर. जाटव अपने ग्रंथ 'राष्ट्रीय आंदोलन में डॉ. आंबेडकर की भूमिका' के उपसंहार में लिखते हैं, *भारतीय समाज के निर्धनतम लोगों के हित में वस्तुत: डॉ. आंबेडकर ने अपनी व्यक्तिगत सुविधा तथा लाभ का परित्याग किया। वह संपूर्ण उत्पीड़ित समुदाय के अभिनंदनीय विद्वान तथा नैतिक नेता थे और उनकी वकालत में सामाजिक समानता एवं राजनीतिक स्वतंत्रता के बीच एवं वास्तविक सहसंबंध था। यह एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी और उसे भलीभांति न समझने के कारण राष्ट्रीय आंदोलन विविधि विरोधी दिशाओं में बह गया। आंदोलन सौदेबाजी की राजनीति में बदल गया, जो वस्तुत: मुक्ति के लिए नहीं थी। इस देश के इतिहास में डॉ. आंबेडकर की भूमिका, आदि से अंत तक बहुत ही महत्वपूर्ण थी और एक सच्चे राष्ट्रवादी के रूप में, किंतु अनिवार्यत: कांग्रेस, लीग, हिंदू, महासभा या फिर उनके विरोधियों की भाषा में नहीं, अपितु अपने ही ढंग से डॉ. आंबेडकर ने अनेक समस्याओं जैसे सांप्रदायिक गतिरोध तथा छूत-अछूत की एकता के लिए समाधान प्रस्तुत किए, जिनसे देश, राजनीतिक और संविधानिक सुधारों के दौरान जूझ रहा था। राष्ट्रीय आंदोलन में उनकी भूमिका उत्पीड़ित हिंदू समुदाय के लिए एक क्रांतिकारी और भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लिए एक विस्फोटक तत्व की थी।*

किसी भी समझदार व्यक्ति को यह उम्मीद नहीं करनी चाहिए थी कि डॉ. आंबेडकर राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान सामाजिक अनुदारवादी बी.जी. तिलक की एकपक्षीय, नरमपंथी-उदारवादी जी.के. गोखले की समझौतावादी,कट्टरपंथी उग्रवादी एम.के. गांधी की विवादास्पद, आदर्शवादी कल्पनावादी, जे.एल. नेहरू की महत्त्वाकांक्षी, एम.ए. जिन्ना की विनाशात्मक, राजगोपालाचारी की अवसरवादी, गांधीवादी भक्त जगजीवनराम की शिक्षित-दीक्षित, हिंदू प्रतिक्रियावादी एम. आर. जयकर तथा वी.एस. मुंजे की संकुचित भूमिकाएं अदा करते अथवा उन भूमिकाओं को लेकर चलते जिन्हें जमींदारों, राजकुमारों और उद्योगपतियों के प्रतिनिधियों ने अदा की। उनकी भूमिका एक मार्गदर्शक तथा मुक्तिदाता की थी।

हिन्दुत्व का दर्शन सिर्फ ब्राह्मणों के लिए : डॉ. आंबेडकर

प्रधानमंत्री अटलजी के गोवा चिंतन के बाद *'हिंदुत्व'* जिस तरह राष्ट्रीय बहस का केंद्र बिंदु बन गया है, उससे हिंदू राष्ट्रवादियों की खुशी का ठिकाना नहीं है। लेकिन एक ऐसे विषय, जो घोरतर अशिक्षा, दरिद्रता, बेरोजगारी भ्रष्टाचार इत्यादि, असंख्य समस्याओं से घिरे राष्ट्रकी प्राथमिकता में महज बौद्धिक विलास का ही विषय हो सकता है, के बहस के केंद्र में आने से राष्ट्रवादी क्यों इतना हर्षित हैं? प्रमुख कारण दो हैं। एक तो राष्ट्रवादी शिरोमणि की जिस आर्थिक नीति के कारण अल्पजन सवर्णो की चांदी एवं राष्ट्र आर्थिक रूप से विदेशियों को गुलाम होने जा रहा है, उससे लोगों का ध्यान हट गया है। दूसरे शूद्र नेता कटियार द्वारा हिंदुत्व के बहस में डॉ. आंबेडकर को घसीट लाने से राष्ट्रवादियों का दुःस्वप्न, *'दलित मुस्लिम एकता'* कुछ बाधित हो गई है। बहरहाल जिस डॉ. अबेडकर को स्वघोषित बजरंगी *सच्चा हिंदू* व *'महान द्रष्टा'* कह कर *'सच्चा हिंदू'* प्रमाणित करने की मुहिम चला रहे हैं, उस बाबा साहेब ने हिंदुत्व के दर्शन की क्या व्याख्या की है, यह बतलाना ही प्रस्तुत लेख का उदेश्य है।

विश्व के महान दार्शनिक डॉ. आंबेडकर ने विभिन्न धर्मो के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर *'हिंदुत्व के दर्शन'* की जो व्याख्या किया है वह *'बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर सम्पूर्ण वांड्मय'* के खंड 6 में एक ग्रन्थ के रूप में लिपिबद्ध है। इस ग्रन्थ के पहले पृष्ठ की शुरूआत में ही बाबा साहेब लिखते हैं, *हिंदुत्व का दर्शन क्या है ? यह ऐसा प्रश्न है, जो अपनी तार्किक विचार श्रृखला में उत्पन्न होता है। परंतु उसकी तार्किक श्रृंखला के अलावा भी इतना महत्व है कि इसे बिना विचार किये छोड़ा नहीं जा सकता। इसके बिना हिंदुत्व के उद्‌देश्यों और आदर्शो को कोई भी समझ नहीं सकता।* वे अन्यान्य धर्मो के साथ 94 पृष्ठ तक हिंदू-धर्म का तुलनात्मक विश्लेषण करते हुए 95 वें पृष्ठ पर निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं। *इस लिए हिंदू धर्म का दर्शन न तो सामाजिक उपयोगिता की कसौटी पर और न ही व्यक्तिगत न्याय की कसौटी पर खरा उतरता है। जो लोग मेरे इस विश्लेषण को स्वीकार करने से इंकार करते हैं, उनके लिए मैं यही कहना चाहूंगा कि उन लोगों की हिंदू धर्म के दर्शन के संबंध में धारणाएं सही नहीं हैं......।* अपनी धारणा का खुलासा करते हुए वे पृष्ठ 96 पर लिखते हैं, *..... इसका कारण यह है कि हिंदू धर्म में मानव समाज के दैवीय प्रशासन का धार्मिक आदर्श एक ऐसा आदर्श है, जो स्वयं एक अलग वर्ग के अन्तर्गत आता है, यह ऐसा आदर्श है, जिसमे व्यक्ति केंद्र की परिधि में नहीं हैं। आदर्श का केंद्र बिंदु न तो एक व्यक्ति है न ही समाज, उसका केंद्र बिंदु एक विशिष्ट वर्ग, महामानवों का वर्ग है, जिन्हे ब्राह्मण कहा जाता है। जो लोग इस महत्वपूर्ण परंतु विध्वंसक सच्चाई को ध्यान में रखेंगे, वे इस बात को समझ सकते*

हैं कि हिंदू-धर्म के दर्शन की प्रतिस्थापना व्यक्ति न्याय अथवा सामाजिक उपयोगिता पर क्यों नहीं है ? हिंदू-धर्म के दर्शन की स्थापना सम्पूर्ण रूप से एक अलग तत्व के आधार पर की गई है। क्या योग्य है अथवा क्या उत्तम है, इस प्रश्न का हिंदू धर्म में एक विचित्र उत्तर मिलता है। इसके अनुसार योग्य अथवा उत्तम कार्य वही है जो इन महामानवों के वर्ग यानी ब्राह्मणों के हितों की रक्षा करता है......। इसके बाद हिंदुत्व का दर्शन ब्राह्मणों के हित में और शूद्रातिशूदों के विरुद्ध में कैसे क्रियाशील है इसके साक्ष्य स्वरूप वे पृष्ठ 96-98 तक मनु के 16 वक्तव्यों का उल्लेख करते हुए, 98 पृष्ठ पर लिखते हैं।.......*मनु के उपरोक्त विधानों से हिंदू- धर्म महामानव (ब्राह्मण) का धर्म है और वह उपदेश देता है कि जो बात महामानव के लिए उचित है, वही नैतिक दृष्टि से सही और उत्तम है।*

उपरोक्त टिप्पणी को आगे बढाते हुए 98 पृष्ठ पर बाबा साहेब लिखते हैं, ...*क्या इसके समानांतर कोई और भी दर्शन है ? उसे बताते हुए भी मुझे धृणा आती है। परंतु बात बिल्कुल साफ है। हिंदु-धर्म के दर्शन का समानांतर केवल नीत्शे में ही मिलता है।.... नीत्शे के दर्शन की पहचान सत्ता की लालसा, हिंसाचार, नैतिक मूल्यों का नकार, महामानव और उसके लिए त्याग, गुलामी और सामान्य मनुष्य की अधोगति के रूप में है।.... उसके दर्शन की प्रशंसा होने के बजाए समय बीतने के साथ-साथ नीत्शे की पीढ़ी के लोगों के मन में जो उपेक्षा तथा डर की भावना थी, वह और बढ़ने लगी। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि नीत्शे के दर्शने में नाजीवाद निर्माण की क्षमता है। नीत्शे ने स्वंय यह बात कही है कि उसके दर्शन में उसने केवल मनु की योजना का अनुसरण ही किया हैं। अपनी 'एंटी क्राईस्ट' पुस्तक में नीत्शे ने कहा है,.....मनु का विधान मौलिक रूप में बाइबिल से सभी प्रकार से भिन्न है, उसके कारण समाज के प्रतिष्ठित वर्ग, दार्शनिक और योद्धा जनता की रक्षा और मार्गदर्शन करते है। वह महान आदर्शो से ओतप्रोत है (पृष्ठ 99)।*

लेकिन नीत्शे का दर्शन भी हिंदुत्व के दर्शन से कुछ बेहतर है, ऐसा मानते हुए डॉ. आंबेडकर पृष्ठ 100 पर कहते हैं, *अगर मनु और नीत्शे में कोई अंतर है, तो वह इस बात में हे कि नीत्शे यथार्थत: एक नई मानवजाति की रचना करना चहता था जो कि वर्तमान मानवजाति की तुलना में महामानवों की जाति हो। इसके विपरित मनु एक ऐसी जाति के विशेषाधिकारों की रक्षा में दिलचस्पी रखता था जो अनाधिकार रूप से महामानव बनने की चेष्टा करते थे। नीत्शे के महामानव उनके गुणों से महामानव थे, मनु के महामानव केवल उनके जन्म के कारण महामानव बनते थे। नीत्शे एक सच्चा नि:स्वार्थी दार्शनिक था। इसके विपरित मनु एक ऐसा भाड़े का दलाल था, जो एक विशेष समुदाय में जन्में लोगों के स्वार्थ की रक्षा करने के लिए रखा गया था जो अपने गुणों को खो भी दें तो भी उनका महामानव का स्तर नहीं खोया जा सकता।* अन्त में हिंदुत्व के दर्शन पर 95 वें पृष्ठ के अपने निष्कर्षो का समापन पृष्ठ 101-102 पर इन शब्दों में करते हैं, *हिंदू-धर्म की रूचि सर्वसाधारण लोगो में नहीं है। हिंदू-धर्म की रूचि पूरे समाज में नहीं है। उसकी रूचि एक वर्ग के हित में केंद्रित है और उसके दर्शन का संबंध भी केवल उस वर्ग के अधिकारों की रक्षा और समर्थन करने*

से है। इसलिए हिंदू धर्म के दर्शन में सामान्य मनुष्य तथा उसके साथ-साथ सम्पूर्ण समाज के हितों को महामानवों (ब्राह्मणों) के वर्ग के हितों के लिए नकारा गया है, दबाया गया है और उनकी बलि चढ़ाई गई है।... संक्षेप में, हिंदू-धर्म का दर्शन ऐसा है कि उसे मानवता का धर्म नही कहा जा सकता। वह महामानव (ब्राह्मण) के लिए स्वर्ग है, तो साधारण मनुष्य के लिए नर्क है।

और अंत में। अगर महान द्रष्टा डॉ. आंबेडकर के अनुसार हिंदुत्व का दर्शन महामानवों के लिए स्वर्ग और साधारणजन के लिए नर्क है, तो विनय कटियार बतायेंगे कि वे और नरेन्द्र मोदी, प्रवीण तोगड़िया, उमा भारती, साध्वी ऋतम्भरा और वैंकेया नायडू जैसे ढेरों शूद्र हिंदुत्व के इतने बड़े उत्तोलक किस लिए बन रहे हैं ?श

हिन्दुराज के मुकाबले के लिए दलित-मुस्लिम एकता : डॉ. आंबेडकर

भारतवर्ष एक ऐसा देश रहा है जहां का समाज सुप्राचीनकाल से वर्ण-व्यवस्था द्वारा परिचालित होता रहा है। कर्म व वर्ण शुद्धता पर आधारित वर्ण-व्यवस्था विश्व की एक ऐसी निराली व्यवस्था है जो एक मात्र भारत में विद्यमान रही। चूंकि इस विचित्र व्यवस्था का विश्लेषण प्रधानत: समाजशास्त्रीय नजरिये से होता रहा है इसलिए इसे सामाजिक विच्छिन्नता, भ्रातृत्वहीनता और असमानता का प्रसारक कहकर ही निंदित किया जाता है। दुर्भाग्य से अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण से इसका अध्ययन बहुत कम हुआ इसलिए यह सत्य प्रधानता नहीं पाया कि यह प्रधानत: राष्ट्र के संसाधनों और पेशों के वितरण की एक व्यवस्था है। जबकि असल सच्चाई यही है कि वर्ण-व्यवस्था मूलत: एक वितरण-व्यवस्था (डिस्ट्रीब्यूसन-सिस्टम) है और इस व्यवस्था को अटूट रखने के सहायक उपादान के तौर पर ही विच्छिन्नता, भ्रातृत्वहीनता व तमाम तरह की असमानता व अमानवीयता का जाल बुना गया है। इसे और स्पष्ट करने के लिए कहा जा सकता है कि प्राचीन वैदिक मनीषियों ने भूमि, शिक्षा, पौरोहित्य, शासन-प्रशासन, पशुपालन, व्यवसाय-वाणिज्य का स्वामित्व ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के मध्य वितरित करने और इनकी निशुल्क सेवा में, दलित (अस्पृश्य-आदिवासियों) एवं पिछड़ों को लगाने के उद्देश्य से ही वर्ण-व्यवस्था का प्रवर्तन किया था।

लेकिन वैदिक काल में शुरू हुई वितरण व्यवस्था आधुनिक भारत में बाधित होने लगी। विशेषकर स्वाधीनोत्तर भारत में जब हजारों भागों में बिखरी वंचित आबादी में विभिन्न उपायों से भ्रातृभाव पैदा कर, कुछ महामानवों ने बहुजन समाज बनाने का उपक्रम शुरू किया। ऐसे लोगों की सोच रही कि जब प्राचीन वितरण-व्यवस्था (वर्ण-व्यवस्था) की खामियों को याद दिलाकर वंचितों को जोड़ा जायेगा तो बहुजन समाज बनेगा। और जब बहुजन समाज बनेगा तो सत्ता की लगाम दलित-पिछड़ों व उनसे धर्मांतरित अल्पसंख्यकों के हाथ में आयेगी ही आयेगी। वैसे में वंचित जातियां सत्ता का लाभ उठाकर वितरण में हुई गड़बड़ियों को ठीक कर लेंगी। वर्ण-व्यवस्था के प्रवर्तकों द्वारा खड़ी की गई घृणा और शत्रुता की दीवार धीरे-धीरे लांघकर वंचित जातियां बहुजन समाज में परिणत होने लगीं। साथ ही इनकी जाति चेतना का राजनीतिकरण भी होने लगा। लेकिन मण्डल कमीशन की रपट प्रकाशित होते ही इस प्रक्रिया में एकाएक भारी उछाल आ गया। मण्डल के बाद वंचितों के ध्रुवीकरण और उनकी जातीय चेतना के जबरदस्त राजनीतिकरण ने राष्ट्र के अधिकांश संसाधनों और लाभकारी पेशों पर कब्जा जमाये अल्पजनों का होश उड़ा दिया। बौद्धोत्तर भारत में इतना बड़ा संकट कभी उनके सामने नहीं आया था। लेकिन इस अभूतपूर्व संकट में भी वैदिकों की वर्तमान पीढ़ी ने अपना मानसिक संतुलन नहीं खोया। उन्होंने बहुजनों की जाति चेतना का मुकाबला धार्मिक चेतना के राजनीतिकरण से करने

के लिए फेका धर्म का वह अमोघ हथियार जिससे मोहग्रस्त होकर बहुजन समाज खुशी-खुशी जानवरों से भी बदतर जिंदगी जीने का अभ्यस्त बना रहा है। हिंदू-धर्म की इस प्रभावकारिता से भलीभांति वाकिफ वैदिकों की वर्तमान पीढ़ी ने मण्डल रिपोर्ट के प्रकाशित होने के बाद, शुरू किया रामराज्य के नाम पर राम जन्मभूमि मुक्ति आंदोलन।

लेकिन रामराज्य के लिए आवश्यक था सुग्रीव, विभिषण और हनुमान जैसे विश्वासघातकों का सक्रिय सहयोग, ऐसा रामराज्य का इतिहास ही बताता है। वास्तव में रामराज्य का इतिहास मूल निवासियों के विश्वासघातकता का इतिहास है, इसका बड़ा ही सटीक साक्ष्य चर्चित इतिहासकार एस. के. विश्वास ने प्रस्तुत किया है। विश्वास साहेब ने *भारत के मूल निवासी और आर्य-आक्रमण'* नामक अपने गंथ के पृष्ठ संख्या 57-58 पर लिखा है, *विश्वासघातकता से भिन्न भारतवर्ष की कभी पराजय नहीं हुई। राम-लक्ष्मण नामक दो भाइयों के हाथों प्रबल प्रतापी रक्षसराज रावण की पराजय कहानी एक विश्वासघातकता की विजय घोषणा मात्र है। रावण के विरुद्ध युद्ध करने के लिए आर्यतनयों ने सैन्य संग्रह करने के लिए अयोध्या या काशी गमन नहीं किया था। अनार्य मूल भारतीयों (कपि, नाग, रक्षस, दानव) का उपयोग उनके ही नायक के विरुद्ध किया था। ... देशद्रोहिता का प्रथम पाठ सिखाया था आर्य युद्धनायकों ने। कथित मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र ने भ्रातृद्रोहिता और देशद्रोहिता से हनुमान, सुग्रीव एवं विभिषण को दीक्षित कर रामराज्य स्थापित किया था।* अत: जब आधुनिक भारत में रामराज्य की नये सिरे से परिकल्पना हुईतो प्रचीन रामराज्य की भांति हनुमान, सुग्रीव और विभिषणों की जरूरत पड़ी। इसके लिए खूब प्रयास भी नहीं करना पड़ा। मण्डल की रिपोर्ट प्रकाशित होने के बाद रामराज्य का आह्वान होते ही कल्याण सिंह, उमा भारती, ऋतम्भरा, गिरिराज किशोर, वेंकैया नायडू, नरेन्द्र मोदी और अब प्रबीण तोगड़िया के रूप में मिल गये ढेरों रामभक्त। जिस तरह प्राचीन रामभक्तों ने पद-प्रतिष्ठा व राज्य पाने की लालसा में अपने ही भ्राताद्रोही राम का बढ़-चढ़ कर साथ दिया था वैसे ही ये आधुनिक रामभक्त करने लगे। यह एक अजीब संयोग ही कहा जायेगा कि ये आधुनिक रामभक्त बहुजन समाज की ही अग्रसर-पिछड़ी जातियों से हैं। ये यह अच्छी तरह जानते हैं कि उनके भाइयों के हित में लागू मण्डल रिपोर्ट को निष्प्रभावी करने के लिए ही रामराज्य का आह्वान किया गया था। उन्हें यह भी मालूम है कि वे जो कर रहे हैं उसके फलस्वरूप केंद्रीय सत्ता अल्पजनों के हाथ में आयेगी, जिसका लाभ उठाकर वे निजीकरण की बाढ़ लायेंगे जिसके फलस्वरूप जिन अल्पजनों का व्यवसाय-वाणिज्य, उद्योग-धन्धों, फिल्म-टी.वी., समस्त संस्थाओं और सांस्कृतिक स्रोतो पर एकाधिकार है उनका नौकरियों में भी वर्चस्व हो जायेगा। लेकिन सारे परिणामों से अवगत होने के बावजूद अगर वे हनुमान, सुग्रीव व विभिषणों की भूमिका में अवत्तीर्ण होने की कोशिश कर रहे हैं तो मात्र इसीलिए कि उनके हिस्से में छोटी-छोटी लंका, किष्किंधा आ जायेगी। ऐसे ही हनुमानों में एक हैं विनय कटियर जो रामराज्य के महत उद्देश्य से मुसलमानों के प्रति डॉ. आंबेडकर की राय से जनगण को अवगत कराने का अभियान चला रहे हैं।

श्री कटियार इन दिनों सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का अलख जगाने के लिए उत्तर-प्रदेश का दौरा कर रहे हैं। 29 दिसंबर से 12 जनवरी तक की अपनी प्रथम चरण की यात्रा में उन्होंने

नरेन्द्र मोदी का क्लोन बन कर मुसलमानों के विरुद्ध जमकर नफरत फैलाने की कोशिश की। उनके विरुद्ध गुजराती हिंदुओं की भांति नफरत की ज्वाला धधक सके, इसके लिए डॉ. आंबेडकर तक को इस्तेमाल कर डाला। उन्होंने कहा, *'आंबेडकर महान द्रष्टा थे। उन्होने सच ही कहा था कि अगर भारत और पाकिस्तान का विभाजन पूरी तरह नहीं होगा तो खून बहता रहेगा।* अब 21 जनवरी से शुरू हुई दूसरे चरण की यात्रा में वे एक नई बात सुना रहे हैं। इस बार कह रहे हैं, डॉ. आंबेडकर सच्चे हिंदू थे और हमेशा सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की मजबूती की वकालत रकते थे। .... आंबेडकर भी विवादास्पद स्थल पर राम मंदिर के ही पक्ष में थे।

जिस आंबेडर ने *'हिंदू-धर्म की पहेलियां'* जैसा विशाल गँथ लिख कर राम और कृष्ण जैसे हिंदू भगवानों को निहायत ही मामूली व अय्यास आदमी साबित कर हिंदू-धर्मज्ञों की बोलती बंद कर दिया; जिस बाबा साहेब के इस घोषणा, *मैं हिंदू के रूप में जरूर पैदा हुआ था क्योंकि वह मेरे बस में नहीं था, लेकिन एक हिंदू के रूप में मरूंगा नहीं* के आघात से हिंदू समाज आज भी पूरी तरह नहीं उबर पाया है; जिनके हिंदू धर्म के परित्याग के आह्वान से भारत में धर्मांतरण की बाढ़ आ रही है, जिसे रोकने के लिए लाचार होकर संघ परिवार कानून बनाने की बात कर रहा है; हिंदुत्व के वैसे महानतम विरोधी को कटियार द्वारा सच्चा हिंदू कहे जाने की बात सुनकर निश्चय ही लोगों को लगेगा कि आधुनिक बजरंगी का मानसिक संतुलन बिगड़ गया है। लेकिन ऐसा नहीं है। वे रामराज्य के निर्माण में हनुमान की भूमिका में पूरी तरह उत्तीर्ण होने के लिए बहुत की ही ठंडे मस्तिष्क से यह प्रचार चला रहे हैं। उन्हें शायद यह भलीभांति विदित है कि रामराज्य अर्थात ब्राह्मणराज कायम करने के लिए, बहुजन समाज को तोड़ने का काम उन जैसे शूद्र को ही करना होगा। क्योंकि अब यह बात छुपी नहीं रह गई है कि संघ का उद्‍देश्य ब्राह्मणों के नेतृत्व में क्षत्रिय-वैश्यों के हितों की रक्षा करना है। ऐसे में कोई जोशी, वाजपेयी, मिश्रा, दीक्षित, शुक्ला यदि यह अपप्रचार करे कि डॉ. आंबेडकर मुस्लिम विरोधी एक सच्चे हिंदू थे, तो लोग ब्राह्मणों की साजिश मानकर उस बात को नजरअंदाज कर देंगे। वही बात जब खुद एक बहुजन समाज का व्यक्ति कहेगा तो लोग जरूर गंभीर होंगे।

लेकिन यही हिसाब-किताब लगा कर अगर कटियार बहुजन समाज को तोड़ने की मुहिम चला रही है तो उन्हें निराशा के सिवाय कुछ नहीं मिलेगा। क्योंकि आज बहुजन साहित्य ने दलितों को बौद्धिक रूप से इनता समृद्ध कर दिया है कि उन्हें किसी बजरंगी की बातें स्पर्श नहीं कर सकती। विशेषकर भारत सरकार द्वारा प्रकाशित आंबेडकर का सम्पूर्ण वाङ्मय तो उनके लिए वेद वाक्य हो गया है। आंबेडकर ने भारत-पाक बंटवारे पर जो राय व्यक्त की है वह *राईटिंग एंड स्पीचेज आफ डा. बी.आर. आंबेडकर* के आठवें खंड में *'पाकिस्तान अथवा पार्टिशन ऑफ इंडिया'* के रूप में लिपिबद्ध है। इस रचना के लेखकीय अंश के अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि डॉ. आंबेडकर की सर्वाधिक बौद्धिक उर्जा इस मुद्‍दे पर ही खर्च हुई थी। इसका मतलब यही हुआ कि उन्होंने समकालीन नेताओं की तुलना में भारत-पाक विभाजन पर ज्यादा चिंतन-मनन किया था। वैसे तो 'पाकिस्तान अथवा पार्टिशन ऑफ इंडिया' डॉ. आंबेडकर की एक बृहद रचना है पर राईटिंग एंड स्पीचेज के

जिस आठवें खंड में यह संग्रहित है उसके पृष्ठ 358, 359 और 363 से 368 एवं 382 के अध्ययन से कटियार के द्वारा प्रचारित आंबेडकर के कथित मुस्लिम विरोधी बयानों की हवा निकल जाती है। इस ग्रन्थ के उपरोक्त उल्लिखित अंशो के पढ़ने पर यह विदित होता है कि डॉ. आंबेडकर मुस्लिम जनभावनाओं का कद्र करते हुए पाकिस्तान बनने का समर्थन करते थे। मुस्लिम भावना का कद्र करते हुए ही वे हिंदुओं के समक्ष सवाल करते हैं क्या वे मुसलमानों पर बंदूक की नाल पर हुकूमत करना चाहते हैं? ऐसा सवाल उठाने के पीछे उनका मकसद हिंदुओं को यह समझाना था कि जब मुसलमानों के एक बड़े तबके के मन में पाकिस्तान के निर्माण की बात घर कर गई है तो उसे बंदूक की नाल पर दबाने का अंजाम खराब हो सकता है। ऐसे में पाकिस्तान के निर्माण को कबूल कर लेना ही बेहतर होगा। अवश्य ही उन्होंने पृष्ठ 364, 365 पर एक अप्रिय सच्चाई कही है लेकिन उसका भी उद्देश्य मुस्लिम भावना का कद्र करते हुए पाकिस्तान के निर्माण को सहजता से स्वीकार कर लेने से प्रेरित था। डॉ. आंबेडकर ने पृष्ठ 364 पर हिंदुओं के विवेक से मुखातिब होते हुए सवाल उठाया है कि यदि भारत पर किसी मुसलमान देश का हमला होता है तो क्या अविभक्त भारत के वे मुसलमान उनके विरुद्ध हथियार उठायेंगे जो पाकिस्तान के निर्माण के प्रति भावनात्मक रूप से जुड़ गये हैं ? लेकिन बहुसंख्यक मुसलमानों की पाकिस्तान निर्माण के प्रति भावनात्मक जुड़ाव के बावजूद उन्होंने इस बात का समर्थन नहीं किया कि पाकिस्तान बनने पर सभी मुसलमानों को वहां जाने के लिए मजबूर कर दिया जाये, इसका साक्ष्य उक्त खंड का पृष्ठ 382 है। इस पृष्ठ पर डॉ. आंबेडकर लिखते हैं, *आबादी की अनिवार्य अदला-बदली प्रथम दृष्टया गलत है। यह एकदम नाजायज होगा कि किसी इंसान को उसकी पुश्तैनी जगह से बेदखल होने के लिए मजबूर कर दिया जाय, जब तक कि यह खुद उसके हित में आवश्यक न हो जाये। बेहतर यही होगा कि वे जायें या न जायें, यह उनकी मर्जी पर छोड़ दिया जाय। इसलिए मेरी राय में आबादी की अदला-बदली जोर जबरदस्ती नहीं होनी चाहिए।*

लेकिन उपरोक्त तथ्यों की रोशनी में यह सोचना भ्रामक होगा कि डॉ. आंबेडकर सिद्धांतत: पाकिस्तान निर्माण के पक्ष में थे। उन्होंने तो मुस्लिम लीग के विरुद्ध जली कटी भाषा का इस्तेमाल किया था। और मुस्लिम लीग के विरोध को यदि कोई समस्त मुसलमानों का विरोध मान ले तो उसकी सोच पर तरस खाने के सिवाय और कुछ नहीं किया जा सकता। यह बात और है कि अन्त में मुस्लिम भावना का कद्र करते हुए अनिच्छा पूर्वक उन्हें पाकिस्तान के निर्माण को स्वीकृति देनी पड़ी। लेकिन पाकिस्तान की मांग उठाने वाली मुस्लिम लीग का उन्होंने तीव्र भर्त्सना इसलिए किया था कि अल्पसंख्यक मुसलमानों की रक्षा के लिए बनी मुस्लिम लीग क्यों हिंदुराज के भय से पाकिस्तान जैसे छोटे मुल्क की मांग उठा रही है ? इस प्रसंग में उठे सवालों के जवाब ढूढ़ने के लिए हम फिर एक बार एस.के. विश्वास को उद्वत करना चाहेंगे। उन्होंने बांग्ला में अपनी रचना *हिंदुराज: वर्तमान अतीत व तार भविष्य* के पृष्ठ 16 पर लिखा है। *साधारण मुसलमान समाज किंतु भारतवर्ष में हिंदुराज की प्रतिष्ठा के बिल्कुल खिलाफ था यह उनके भारत विभाजन के सहमत न होने के सिद्धांत से ही परलिक्षित होता हे। वे हिंदू राष्ट्र में मात्र प्रजा बनकर रहने के लिए इच्छुक नहीं थे। इस भारतवर्ष में क्या मुसलमानों के अतिरिक्त और कोई शक्ति नहीं थी जिसने हिंदू राष्ट्र का*

विरोध किया था ? थी। मुसलमानों से भी ज्यादा संख्या वाले छोटी जाति के अस्पृश्य शूद्रों ने सर्वशक्ति के साथ हिंदुराज की विरोधिता किया था। आज भी वे हिंदुराज की विरोधिता किये जा रहे हैं। हिंदूराष्ट्र अथवा ब्राह्मणों का एकक्षत्र अधिकार प्रतिष्ठा होने से उनकी ही स्वार्थहानि होगी। उनके ही स्वाधीनता का हरण और अधिकारों का अपहरण होगा यह मानकर ही उन्होंने कल भी हिंदूराष्ट्र का विरोध किया था और आज भी कर रहे हैं। भारतवर्ष के 25 प्रतिशत अस्पृश्य जनता के महान नेता आंबेडकर ने वैसे हाल में तत्कालीन पाकिस्तानवादी मुसलमान नेताओं और मुस्लिम समाज के समक्ष यौथ संग्राम के माध्यम से हिंदुराज के अंकुर का विनाश करने का प्रस्ताव रखा था।

विश्वास साहब ने अपने तर्क की पुष्टि के लिए आंबेडकर के जिस कथन को आधार बनाया वह पाकिस्तान अथवा पार्टिशन ऑफ इंडिया के ही वे अंश हैं जो राईटिंग एंड स्पीचेज के खंड 8 के 358 से 359 पृष्ठ पर लिपिबद्ध हैं। यहां डॉ. आंबेडकर कहते हैं, *चूंकि स्वराज हिंदुराज की प्रतिष्ठा करेगा इसलिए पाकिस्तान चाहिए ही ?.... सचमुच यदि हिंदुराज हकीकत का रूप लेता है तो निःसन्देह यह देश के लिए चरम दुर्भाग्यजनक घटना होगी। हिंदू चाहें कुछ कहें हिंदू- धर्म स्वाधीनता, समता और भ्रातृत्व के लिए आफत है। ऐसे में हिंदुराज को हर कीमत पर रोकना होगा। उसके लिए पाकिस्तान ही क्या आखरी समाधान है ?* अपने ही प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रश्न के माध्यम से समाधान देते हैं, *हिंदुराज का भूत हमेशा के लिए दफन करने के लिए सबसे जरूरी है कि मुस्लिम लीग को भंग कर दिया जाय ..... पाकिस्तान तैयार करना नहीं। हिंदू एवं मुसलमानों का एक मिला-जुला राजनीतिक दल तैयार करना होगा। .... भारतवर्ष में हिंदू एवं मुसलमानों का एक मिला-जुला दल तैयार करना बिल्कुल ही कठिन कार्य नहीं है। हिंदूसमाज में जो असंख्य छोटी जातियों की जनता है उसकी सामाजिक, राजनैतिक एवं अर्थनैतिक समस्या बहुजन मुसलमानों (साधारण, मूलभारतीय) जैसी ही है एवं ये बहुजन हिंदू, एक ही मकसद से मुसलमानों के साथ मिलकर एक बड़ा आंदोलन संगठित करने के लिए बहुत आग्रही होंगे। वे (वंचित हिंदू बहुजन) कतई उन उच्चवर्ण हिंदूओं के साथ मिलना पसंद नहीं करेंगे जिन्होंने युगों-युगों से उन्हें मानवीय अधिकारों से वंचित रखा है।* इसके पूर्व 1920 में डॉ. आंबेडकर ने कहा था, *ये सवर्ण हिंदू विदेशी आर्य हैं और सभी धर्मांतरित मुसलमान, ईसाई और बौद्ध भारत के मूल निवासी और इस देश के मालिक हैं। मैं इस देश की सत्ता को असली मालिकों के हाथों में सौंपने के लिए संघर्ष करता रहूंगा।*

आज आंबेडकर के उपरोक्त वेद-वाक्य को ध्यान में रखकर बहुजन समाज के सिद्धांतकार दलित मुस्लिम एकता के माध्यम से उस हिंदूराज अथवा रामराज्य अथवा ब्राह्मणराज को रोकने की आप्राण चेष्टा कर रहे हैं जिसमें कटियार के सजाति शम्बूकों का सिर कलम किया जाता रहा है। और कटियार आज खुद डॉ. आंबेडकर को एक महान युग द्रष्टा मान रहे हैं। क्या वे इस युग द्रष्टा के हिंदूराज के प्रति व्यक्त की गई राय से सहमत हैं ? यदि हैं तो क्या वे विश्वासघाती दास हदुमान की बजाय, स्वाभिमानी शम्बूक की भूमिका में उत्तीण होना पसंद करेंगे ? क्या महान द्रष्टा की बात मानाकर हिंदू-धर्म का भी परित्याग करेंगे ?

बहुजनवाद के सूत्रकार : डा. आंबेडकर

डा. आंबेडकर एक युग द्रष्टा थे', इसका उच्च उद्‌घोष बहुजन समाज तो वर्षों से करता ही रहा है, अब अल्पजन समाज, जिसने कभी डा. आंबेडकर को भीमासुर, शैतान की औलाद व अंग्रेजों के कुत्ते इत्यादि खिताबों से नवाजा था, भी करने लगा है। उसी युग द्रष्टा ने स्वाधीनोतर भारत की भयावह तस्वीर को देखते हुए एक बहुत ही महत्वपूर्ण संदेश, 17 जनवरी 1943 को सूरत की सिविल पायोनियर रैली को संबोधित करने के अगले दिन अर्थात 18 जनवरी 1943 को दिया था। उस दिन उन्होनें मराठा और संबंधित समुदायों की एक सभा को सतकर्तापूर्ण वाणी में संबोधित करते हुए (डा. डी. आर. जाटव, राष्ट्रीय आंदोलनों में डा. आंबेडकर की भूमिका पृ. 170) कहा था, *यदि ब्राह्मणी अल्पमत सत्ता में आ गई तो उसके दलितों के लिए बुरे परिणाम ही निकलेंगे.... यदि भारत में जनतंत्र को सफल बनाना है तो उसे हिंदू अनुदारवादियों द्वारा दुरूपयोग से बचाना है।* (धनंजय कीर, डा. आंबेडकर-लाइफ एण्ड मिशन, पृ-354-355ऋ। उन्होने गैर-ब्राह्मण लोगों को आह्वान किया कि वे पुन: संगठित होकर दल बनाएं ताकि वे भी एक ताकत बन सकें। ''द्धवही, पृ-354-355ऋ। लेकिन युग द्रष्टा की सतर्कता वाणी के बावजूद, आज भी जनतंत्र के लिए घातक अनुदारवादी ब्राह्मणी अल्पमत सत्ता पर काबिज है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि इसे रोकने का प्रयास नहीं हुआ। इसे रोकने का प्रयास खुद डा. आंबेडकर ने किया था। इस संबंध में उनके प्रयासों का विश्वसनीय साक्ष्य, पिछड़े, वर्ग आंदोलन के वयोबृद्ध नेता आर. एल. चन्द्रापुरी की चर्चित कृति, *भारत में ब्राह्मणराज और पिछड़ा वर्ग आंदोलन* में विद्यमान है। इस गंथ के पृष्ठ-70 पर चन्दापुरी लिखते है-

भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद डा. आंबेडकर के सामने अब मूल भारतवासियों की स्वंतंत्रता का प्रश्न उठा खड़ा हुआ था। दलित एवं पिछड़ी जातियों को वोट देने का अधिकार प्राप्त हो गया था, किंतु सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक दृष्टियों से वे ब्राह्मणों एवं सवर्णो के गुलाम थे। परिगणित जातियां एवं जनजातियां अपनी स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ने में सक्षम नहीं थीं और न उनके लिए अकेले यह संभव था। इसलिए डा. आंबेडकर सछूत शूद्रों यानी पिछडी़ जातियों एवं वैसे आंदोलन और नेतृत्व की तलाश में थे जिसकी मदद से वे दलितों, पिछड़ी जातियों तथा अल्प संख्यको की आजादी की लडा़ई में निश्चित रूप से कामयाब होते। जब 6 नवंबर 1951 को देश विभाजन के बाद पहली बार दलित, पिछड़ो और अल्पसंख्यकों के एकत्रित मंच से पटना के गांधी मैदान में डा. आंबेडकर को संबोधित करने का अवसर मिला, उनकी भावना का प्रकटीकरण इन शब्दो में हुआ, *मुझे इस बात से बहुत खुशी है कि महात्मा बुद्ध की पवित्र भूमि से सामाजिक क्रांति का एक बीज फिर से अंकुरित हुआ है। यही वह स्थान है जहां से ज्ञान का प्रकाश सारे विश्व*

में फैला था। देश के शोषितों संगठित हो और आगे बढ़ो। वर्ण-व्यवस्था और जाति-प्रथा के कारण शूद्र, अतिशूद्र, पिछड़े वर्ग तथा अल्पसंख्यकों को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक सुविधाओं से वंचित रहना पड़ रहा है। हिंदुओं की सड़ी-गली सामाजिक-व्यवस्था का मूलोच्छेद कर जब तक नये समाज का निर्माण नहीं किया जाता तब तक समाज के पिछड़े वर्ग के लोगों, पीड़ितों, दलितों तथा आदिवासियों का कल्याण नहीं हो सकता। आज हमे परमुखापेक्षी न होकर अपनी शक्ति पहचाननी है और समाज में अपना गौरवपूर्ण स्थान बनाकर देश की राजनीति एवं शासन संबंधी कार्यो में भाग लेना है। मुट्ठी भर लोगों द्वारा परिगणित जाति के लोगों को उनके पैरों के तले दबे रहने का जमाना लद चुका।..... देश में हम दलित, पिछड़ों, शोषितों और शूद्रों की संख्या नब्बे प्रतिशत है। देश की शासन-सत्ता हम अपने हाथ में लेंगे।..... इसलिए ऐसे मौके पर अपने लोगों को अपना प्रतिनिधि चुनकर विधान सभाओं और संसद में भेजना है। सभी राजनीतिक पार्टियां पूंजीपतियों और मारवाड़ियों के पैसो पर चलती हैं। वे आपको पैसा क्यों देंगे ? आपको यदि उठना है तो आपको अपने बलबूते पर उठना होगा। हमारे लोग आज हमारी बातें नहीं समझ पा रहे हैं। शायद वे इस शताब्दी के अंत तक समझेंगे और तब कहीं वे उठेंगे। हिंदुओं ने जो हमारे साथ अन्याय किया है उसे हम भूल नहीं सकते। हमें अपने शोषणों के लिए उनसे प्रतिशोध नहीं लेना है, लेकिन हां, हम अपने भविष्य के लिए उन पर विश्वास नहीं कर सकते। जिस वृक्ष को हम लगा रहे हैं, उस वृक्ष की छांह में हम उन सवर्णों को भी रखेंगे जिन्होने हमे अपने वृक्ष की छांह से बराबर बाहर रखा है।

लेकिन अल्पमत ब्राह्मणी सत्ता को उखाड फेकने के लिए डा. आंबेडकर ने अस्पृश्य-आदिवासियों, पिछड़ो, एवं धार्मिक अल्पसंख्यकों को संगठित करने की जो योजना बनाई, *वह पंडित नेहरू की तिकड़मी राजनीति* (भारत में ब्राह्मणराज और पिछड़ा वर्ग आंदोलन, पृ. 114) *एवं बाबा साहेब के असामयिक निधन के कारण विफल हो गईं।* सन् 1967 में प्रकाशित *'डा. लोहिया के नाम चंदापुरी का अंतिम पत्र'* में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि, *यदि उस समय डा. आंबेडकर की योजना सफल हो गई होती तो निश्चित रूप से पिछडों के हित में देश की राजनीति में प्रभावकारी परिवर्तन हो गया होता।* (भारत में ब्राह्मणराज और पिछड़ा वर्ग आंदोलन -पृ-144)। लेकिन आर. एल. चन्दापुरी के अनुसार अगर बाबा साहेब ने ब्राह्मणराज के खात्मे के लिए दलित-पिछड़ों के साथ अल्पसंख्यकों को संगठित करने की योजना बनाया था तो लोगों के मन में स्वभाविक रूप से यह प्रश्न उदित हो सकता है कि उन्होंने , दिसंबर 1940 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'पाकिस्तान या भारत का बंटवारा' में निम्न तर्को के आधार पर मुसलमानों के लिए पृथक राष्ट्र का समर्थन ही क्यों किया था ?

'मैं नहीं सोचता पाकिस्तान की मांग मात्र राजनीतिक अस्वस्थता का परिणाम है जो समय आने पर बह जायेगी'। 'मुसलमान' 'एक राष्ट्र हैं, यह बिना किसी नुक्ताचीनी के स्वीकार कर लेनी चाहिए'। 'चूंकि मुसलमानों में एक राष्ट्र के रूप में रहने की इच्छा विकसित हो चुकी है, उन्हे एक ऐसा क्षेत्र मिलना चाहिए जहां वे रह सकें और अपना एक राज्य

स्थापित कर सकें, अर्थात राष्ट्र को सांस्कृतिक घर बना सकें'। 'अनुभव यह सिद्ध कर चुका है कि हिंदू बहुमत मुसलमानों को द्वितीय श्रेणी के नागरिक के रूप में मानने का प्रयास करता है मानों कि वे विदेशी राज्य के हैं। एकता के आसार बन सकते थे, किंतु हिंदू प्रांतों में कांग्रेस सरकार के दो वर्ष तथा तीन माह के शासन ने मुस्लिम नेताओं को पूर्णत: भ्रमित कर दिया और वे कांग्रेस के कटट्र दुश्मन बन बैठे। ...... उनकी कटुता केवल कांग्रेस के प्रति ही नहीं अपितु अन्य लोगों के प्रति भी है। वे मुस्लिम नेता जो गोलमेज परिषद में स्वराज की मांग में सम्मिलित थे, अब स्वराज के कटट्र निर्दयी विरोधी बन गये'।

दरअसल उपरोक्त तर्को की रोशनी में डा. आंबेडकर ने पाकिस्तान के निर्माण का जो समर्थन किया था वह उनके विवेक से प्रेरित युक्ति थी। लेकिन उनके दिल की क्या चाह थी वह *'डा. बाबा साहेब आंबेडकर राइटिंग्स एंड स्पीचेज'* के 8 वें खंड के पृष्ठ 358-359 पर प्रतिबिम्बित हुई है। ये पृष्ठ *पाकिस्तान या भारत का बटवारा* के ही अंश हैं जहां तथ्य, तत्व व युक्ति के आधार पर वे अवाम को समझाने की चेष्टा करते हैं। *चूंकि स्वराज हिंदुराज की प्रतिष्ठा करेगा इसलिए पाकिस्तान चाहिए ही ?........सचमुच यदि हिंदुराज हकीकत का रूप लेता है तो नि:संदेह ही देश के लिए चरम दुर्भाग्यजनक घटना होगी। हिंदू चाहे कुछ भी कहें हिंदुइज्म स्वाधीनता समता और वन्धुत्व के लिए आफत है। इसलिए यह जनतंत्र के भी प्रतिकूल है। ऐसे में हर कीमत पर हिंदुराज को रोकना होगा। उसके लिए क्या पाकिस्तान ही आखिरी समाधान है ?* अपने इस प्रश्न का खुद ही उत्तर देते हुए डा. आंबेडकर समाधान देते है, *हिंदुराज का भूत हमेशा के लिए दफन करने के लिए सबसे जरूरी है कि मुस्लिम लीग को भंग कर दिया जाय...... पाकिस्तान तैयार करना नहीं। भारतवर्ष में हिंदू एवं मुसलमानों का एक मिला जुला दल तैयार करना बिल्कुल ही कठिन कार्य नहीं है। हिंदू समाज में जो असंख्य छोटी जातियों की जनता है उसकी सामाजिक, राजनैतिक, एवं अर्थनैतिक समस्या बहुजन मुसलमानों (मूल भारतीय) जैसी ही है एवं ये बहुजन हिंदू एक ही मकसद से मुसलमानों के साथ मिलकर एक बड़ा आंदोलन संगठित करने के लिए बहुत इच्छुक होंगे। वे (वंचित हिंदू बहुजन) कत्तई उन उच्चवर्ण हिंदुओं के साथ मिलना पसंद नहीं करेंगे जिन्होंने युगों-युगों से उन्हे मानवीय अधिकारों से वंचित रखा है।*

डा. आंबेडकर ने 'पाकिस्तान या भारत का बटवारा' की भूमिका में लिखा है कि उनकी सर्वाधिक बौद्धिक उर्जा भारत विभाजन के मुद्दे पर खर्च हुई थी। लेकिन मेरे ख्याल से वह उर्जा व्यर्थ नहीं गयी क्योंकि इसी से उन्हे हिंदुराज को रोकने का सूत्र मिला था। इसी सूत्र की विफलता का जिक्र चन्दापूरी जी ने 1967 में डा. लोहिया के नाम अपने पत्र में किया था। यही सूत्र ही परवर्तीकाल में कांशीराम की बहुजन थीसिस (अभय कुमार दुबे, कांशीराम, पृ-24) का अन्यतम आधार बना। बहुजन थीसिस विरोधी खेमे से यह शंका उठाई जा सकती है कि क्रूर मुसलमानों के साथ दलित-पिछड़ों की एकता कैसे हो सकती है ? इस अप्रिय सवाल का सामना डा. आंबेडकर ने किया था और जो उत्तर दिया था वह 'बाबा साहेब डा. आंबेडकर सम्पूर्ण वाड्मय खंड-1 के पृष्ठ 74 पर लिपिबद्ध है। बाबा साहेब लिखते है, *हिंदू लोग मुसलमानों की इसलिए आलोचना करते हैं कि उन्होंने*

तलवार के बल पर अपना धर्म फैलाया। वे ईसाई धर्म का भी इसीलिए उपहास करते हैं कि वे धर्म न्यायाधिकरण के आदेश से काम करते है। लेकिन यदि सच पूछा जाय तो हमारे आदर का अधिक पात्र कौन है ? वे मुसलमान या ईसाई जो बलपूर्वक अनिच्छुक व्यक्तियों को वह सब करने के लिए विवश कर देते हैं जिसे वे उनकी मुक्ति के लिए आवश्यक समझते हैं, अथवा वे हिंदू जो ज्ञान का प्रकाश फैलाने नहीं देते, जो दूसरों को अंधेरे में रखने की कोशिश करते रहते हैं, जो अपने बौद्धिक दाय को उन लोगों के साथ मिल-बांटना नहीं चाहते, जो उस दाय को अंगीकृत करने के लिए पूरी तरह इच्छुक है? मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि अगर मुसलमानों को क्रूर माना जाय तो हिंदुओं को निकृष्ट माना जाना चाहिए और निकृष्टता क्रूरता से अधिक निंदनीय है।

वास्तव में दलित-अल्पसंख्यक एकता का जो सूत्र बाबा साहेब ने विकसित किया वह साझा स्वार्थ पर आधारित था और सार्वजनिक जीवन में प्रवेश काल से ही, वे इसके आधार पर अल्पसंख्यकों की हिमायत करते रहे। इसलिए तो 31 दिसंबर 1930 को, अल्पसंख्यक उप-समिति की दूसरी बैठक में उन्होंने जोर गले से कहा था, *वैसे मैं जानता हूं कुछ मामलों में दलित वर्गो की हालत भारत के बाकी अल्पसंख्यकों जैसी ही है। दलित वर्गो की तरह अन्य अल्पसंख्यक वर्गो को यह भय है कि भारत का भावी संविधान इस देश की सत्ता को जिन बहुसंख्यकों के हाथों में सौपेगा, वे और कोई नहीं रूढ़िवादी हिंदू ही होंगे। इन्हें आशंका है कि ये रूढ़िवादी हिंदू अपनी रूढ़ियों और पूर्वाग्रहों को नहीं छोड़ेंगे। और जब तक वे अपनी रूढ़ियों, कट्टरपन और पूर्वाग्रहों को नहीं छोड़ते, अल्पसंख्यकों के लिए न्याय, समानता और विवेक पर आधारित समाज एक सपना ही बना रहेगा। अल्पसंख्यकों को इस बात का खतरा है कि कानून बनाने में, प्रशासनिक कार्यो में या अन्य नागरिक अधिकारों जैसे नागरिकता के मामले में उनके साथ पक्षपात बरता जा सकता है। इसलिए ऐसी व्यवस्था को जानना आवश्यक है, जिससे अल्पसंख्यकों का हितरक्षण हो सके और इनके साथ भविष्य में पक्षपात को खतरा न रहे। इसके लिए अल्पसंख्यकों को विधायिका और कार्यपालिका में प्रतिनिधित्व दिया जाय। देश की सार्वजनिक सेवाओं (नौकरियों) में प्रतिनिधित्व मिलें भविष्य में बहुसंख्यक अपने विधायी अधिकारों का दुरूपयोग करते हुए ऐसा कानून न बनाने पाएं, जो व्यक्ति-व्यक्ति के बीच भेदभाव करता हो। इसके लिए संविधान में ऐसा प्रावधान होना चाहिए , जो भावी केंद्रीय और प्रान्तीय विधान मंडलों में बहुसंख्यकों के विधायी अधिकारों पर अंकुश लगाए, उन्हे ऐसा कानून बनाने से रोके जो अल्पसंख्यकों के प्रति पक्षपात के परिचायक हों। पक्षपात का यह खतरा सभी अल्पसंख्यक वर्गो के समक्ष है। अत: मैं दलित वर्ग के प्रतिनिधि की हैसियत से इस मामले में अन्य अल्पसंख्यक वर्गो की मांगों का समर्थन करता हूं।* (बाबा साहेब आंबेडकर सम्पूर्ण वाड्मय, खंड-5, पृष्ठ-43-44)।

लेकिन बाबा साहेब की अकृत्रिम हिमायत का प्रतिदान देने में अल्पसंख्यकों ने भी खूब कंजूसी नहीं की। महाद तालाब आंदोलन के लिए जब कोई हिंदू जगह देने को तैयार नहीं हुआ, मुसलमानों ने बाबा साहेब को शामियाना लगाने के लिए जगह मुहैया कराई थी। श्री गोविन्द मालवीय की कटु आलोचना के बावजूद, उनके सिद्धार्थ कालेज की स्थापना के लिए

मुसलमान सेठ हुसैन जी ने 50 हजार रूपया चंदा और सर काउसजी जहांगीर ने आवश्यक सहयोग दिया था। लेकिन डा. आंबेंडकर को संविधान सभा में भेजने में मुस्लिम लीग ने जो भूमिका अदा किया उसके परिणाम तो युगांतरकारी साबित हुए। सरदार पटेल ने यह दाम्भिक घोषणा कर रखा था, *डा. आंबेडकर के संविधान सभा में प्रवेश के सारे दरवाजे हमने बंद कर दिये हैं।* लेकिन 19 जुलाई 1946 को जब परिणाम घोषित हुआ, देखा गया कि दलित फेडरेसन के प्रार्थी के रूप में डा. आंबेडकर सर्वाधिक 7 वोट पाकर संविधान सभा के लिए निर्वाचित हो गये हैं। उसका सारा श्रेय मुस्लिम लीग और उसके प्रतिनिधि महाप्राण योगेन्द्र नाथ मंडल को जाता है। अगर बाबा साहेब मुस्लिम लीग की सहायता से संविधान सभा में नहीं पहुचे होते, क्या बहुजन समाज का भाग्योदय मुमकिन होता ?

क्यों होता है बसपा से पाला बदल

दल बदल भारतीय राजनीति का एक पुराना रोग है, जिस पर नियंत्रण लगाने के लिए कानून तक भी बना। फिर भी इस रोग से भारतीय राजनीति पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाई। समय-समय पर सिर्फ छोटे-छोटे दल ही नहीं, राष्ट्रीय स्तर की पार्टियों के विधायक/सांसद भी पाला बदल करते रहते हैं। लेकिन हाल ही में जिस बड़े पैमाने पर बसपा से पाला बदल करके उसके विधायकों ने एक नई सरकार को अस्तित्व में लाने का काम किया है, उससे तय हो गया है कि दल-बदल के महारोग से सर्वाधिक आक्रांत पार्टी बसपा ही है। आज समाज विज्ञानियों के लिए यह सवाल काफी रोचक हो गया है कि क्यों बसपा के विधायक बार-बार बड़े पैमान पर पाला बदल करते रहते हैं ?

इस सवाल का जवाब निष्ठा परिवर्तन किए विधायकों के बयानों में ढूंढा जाए, तो लगेगा कारण मायावती की तानाशाही है। बसपा के अनुसार थैलीशाहों और बाहुबलियों के कारण ही उसके विधायक टूटते हैं। जबकि राजनीति के पंडितों के अनुसार इस महारोग के मूल में विधायकों की सौदेबाजी है। इनके अनुसार चूंकि बसपा के विधायक पैसों से बसपा का टिकट ही नहीं, 'वोट' भी खरीदते हैं, इसलिए अवसर देखकर पाला बदल लेते हैं, ताकि आगे चलकर कमाने का सिलसिला जारी रह सके। लेकिन बसपा के इस महारोग के मूल में चिन्हित किए गए ये कारण अपनी-अपनी जगह ठीक होने के बावजूद अंतिम सत्य नहीं हैं। यह तो महज कारणों का सरलीकरण है बल्कि दूसरे शब्दों में कहा जाए, तो ये गौण कारण हैं। मूल कारण तो कुछ और ही है, जिसकी जड़ें जाति चेतना के राजनीतिकरण की तह में समाई हुई हैं।

यूं तो जाति चेतना के राजनीतिकरण की दिशा में कई हस्तियों ने थोड़ा बहुत योगदान किया है। पर, सच्चे मायने में इसके पायोनियर बने कांशीराम। लेकिन कांशीराम के प्रति चूंकि समाज विज्ञानी जितना चाहिए उतना गंभीर कभी रहे नहीं, इसलिए वे यह नहीं समझ सके कि फुले, आंबेडकर, पेरियार के विचारों से लैस होकर भी उन्होंने डॉ. हेडगेवार की ही मूल परिकल्पना उधार लेकर जाति चेतना की राजनीतिकरण पर अपनी गतिविधियों को केंद्रित रखा। क्या थी डॉ. हेडगेवार की परिकल्पना, जिससे कांशीराम को जाति चेतना के राजनीतिकरण की प्रेरणा मिली ?

जिन दिनों देश के दूसरे नेता स्वाधीनता संग्राम में निमग्न थे, उन दिनों डॉ. हेडगेवार असंख्य विदेशी इतिहासकारों सहित तिलक, नेहरू इत्यादि द्वारा 'ब्राह्मणों को आर्य (विदेशी) चिन्हित किए जाने से परेशान थे। उन्होंने अपनी प्रखर मनीषा से यह जान लिया था कि 'आर्य' होने के कारण पराधीन भारत में ब्राह्मणों को जितना भी लाभ हो, स्वाधीन भारत की संसदीय

प्रणाली में उनका 'विदेशी' होना महंगा पड़ जाएगा। इस परेशानी ने उन्हें तत्कालीन ब्राह्मण मनीषियों के विपरीत 'आर्य समाज' की जगह मुस्लिम विद्वेष के प्रसार और हिंदू-धर्म-संस्कृति के नाम पर आंदोलन चलाकर विशाल 'हिंदू समाज' बनाने के लिए प्रेरित किया, ताकि ब्राह्मणों को उस समाज का अंग बनाया जा सके। इस फार्मूले के पीछे उनकी यह खास सोच थी कि जब धर्म के नाम पर हिंदुओं का ध्रुवीकरण कराया जाएगा, तो नेतृत्व स्वत: ही ब्राह्मणों के हाथ में आएगा।

घर-संसार का मोह विसर्जित कर जब कांशीराम ने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया, तो कुछेक साल उन्होंने विभिन्न आंबेडकरवादी संगठनों के साथ काम किया। पर, बाद में निराश होकर उन्होंने जो स्वाधीन राह चुनी, वह हेडगेवार के रास्ते के समानांतर थी। उन्होंने विशाल हिंदू समाज की तर्ज पर 'बहुजन समाज' बनाने की परिकल्पना की। डॉ. हेडगेवार की योजना ने उन्हें सीख दी कि यदि हिंदू-धर्म-संस्कृति के नाम पर हिंदुओं का ध्रुवीकरण करके ब्राह्मणों के हाथ में सत्ता की लगाम थमाई जा सकती है, तो हिंदू-धर्म-संस्कृति के अंधकार पक्ष अर्थात वर्ण-व्यवस्था की वंचना के नाम पर वंचित जातियों को ध्रुवीकृत करने पर बहुजन समाज बनेगा और नेतृत्व दलित-पिछड़े या अल्पसंख्यकों के हाथ में जाएगा। अपनी सोच को अमली रूप देने के लिए उन्होंने योजनाबद्ध तरीके से पहले दलितों की जाति चेतना का राजनीतिकरण किया, जो धीरे-धीरे पिछड़ों और अल्पसंख्यकों तक प्रसारित हो गई।

कांशीराम द्वारा शुरू किए गए जाति चेतना के राजनीतिकरण के अभियान में मंडल की रपट से अचानक भारी उछाल आ गया। तब यह तय हो गया कि बहुजनों की जाति चेतना के चलते अब द्विजों का चुनाव जीतना कठिन है। वैसे में जाति चेतना का मुकाबला धार्मिक चेतना के राजनीतिकरण से करने के लिए संघ परिवार को हेडगेवार के फार्मूलों पर नए सिरे से मुस्तैद होना पड़ा। शुरू हुआ जाति और धार्मिक चेतना के राजनीतिकरण की चूहा-बिल्ली दौड़। इसके साथ ही मंडलोत्तर भारत की राजनीति बन गई हेडगेवार बनाम कांशीराम के विचारों का अखाड़ा।

जाति और धार्मिक चेतना के राजनीतिकरण के घमासान दौर में संघ के राजनीतिक संगठन के सहयोग से एक बार नहीं तीन बार मुख्यमंत्री बनीं आर.एस.एस. की तर्ज पर बने बामसेफ की प्रशिक्षित कैडर मायावती। चूंकि संघ जानता है कि मुख्य वैचारिक बाधा कांशीराम की बहुजनवादी विचारधारा है इसलिए इसका आत्मसातीकरण करने के लिए तीनों बार अपने सहयोग से मायावती को मुख्यमंत्री बनाया। पर, हर बार मायावती बसपा के जनाधार को एक खास बिंदु पर पहुंचा कर सत्ता से दूर हो गईं। हर बार भाजपा को मिली मायूसी और खोया हुआ जनाधार। लेकिन साधु-संतों, तोगड़िया-सिंघलों की धार्मिक चेतना के राजनीतिकरण के जबरदस्त प्रयासों के बावजूद आर्यावर्त के हृदय स्थल में वे भाजपा का जनाधार हजम करने में इसलिए सफल रहीं कि उन्होंने जमकर गुरु-मंत्र का इस्तेमाल किया। कांशीराम बहुजनों की जाति चेतना का राजनीतिकरण करने में इसलिए सफल रहे कि उन्होंने

अपने सीमित प्रचार माध्यमों के द्वारा मूलनिवासीवाद के साथ इतिहास के गर्त में दफन की गई विभिन्न दबी–कुचली जातियों के नायकों को प्रचारित करने के साथ ही हिंदू–धर्म–संस्कृति के विरुद्ध अभियान चलाया था।

मायावती ने हर बार सत्ता में आते ही राम मंदिर का तोड़ आंबेडकर स्मारक पर विशेष ध्यान देने के साथ ही इतिहास से बेदखल बहुजन नायकों पर जिले, पार्कों, पुरस्कारों इत्यादि का नामकरण करना शुरू किया। इन सांस्कृतिक क्रियाकलापों से भाजपा के जनाधार का क्षरण और बहुजनों की जाति चेतना के राजनीतिकरण की प्रक्रिया तो जरूर तीव्रतर हुई। पर, इससे बसपा के विधायकों की निष्ठा परिवर्तन का बीजारोपड़ भी हुआ।

बसपा से हर बार पाला बदलने वाले प्रायः 75 प्रतिशत विधायक द्विज जातियों से होते हैं, जिनका बसपा के मिशन से कोई सरोकार नहीं होता। लेकिन वे इतने पेशेवर भी नहीं होते कि अपने द्विज समाज के प्रति न्यूनतम प्रतिबद्धता भी न रखें। चूंकि अपने समाज के प्रति उनमें न्यूनतम प्रतिबद्धता रहती है, इसलिए मायावती द्वारा द्विजों के राजनीतिक भविष्य की कब्र खोदना कचोटता है। यही नहीं वे पेशवर चरित्र व आपराधिक प्रवृति के होने के बावजूद हिंदू धर्म व देवी–देवताओं के प्रति पर्याप्त श्रद्धाशील रहते हैं, इसलिए मायावती जब हिंदू देवी–देवताओं से लोगों को अनास्थाशील बनाने की कोशिश करती है, तब उन्हें बसपा में घुटन महसूस होने लगती है। यह घुटन तब और बढ़ जाती है, जब हजारों साल की दास जातियों में आत्मविश्वास भरने के लिए वे अपनी छवि को लौह रूप देती हैं। एक तो नारी ऊपर से दलित लौह–महिला के अधीन काम करना उनके घुटन को और बढ़ा देता है। इसलिए जब उनके सामने विकल्प अवसर आता है, तो अपनी घुटन दूर करने के लिए पाला बदल कर लेते हैं। दूसरे दलों में द्विजों को ऐसी घुटन नहीं महसूस होती, इसलिए वे थोक पैमाने पर दल बदल नहीं करते।

बसपा से दामन छुड़ाने वाले मुस्लिम, ओ.बी.सी. और दलित विधायकों की घुटन का कारण भी मायावती का सांस्कृतिक आंदोलन ही है। मुसलमानों की एक बड़ी समस्या यह है कि उन्हें किसी भी ईश्वर विरोधी की सोहबत में घुटन होती है। पिछड़ों में जाट, गूजर, यादव और दलितों में पासी, दुसाध, खटिक, वाल्मीकियों में हिंदुइज्म के प्रति एक खास दुर्बलता है। इसलिए हिंदूत्व विरोधी माया के साथ रहने में उन्हें भी घुटन ही महसूस होती है। इसलिए अवसर पाकर वे भी द्विजों के साथ पाला बदल लेते हैं। यह ठीक है कि अपने विधायकों के पाला बदल लेने से मायावती के चेहरे पर शिकन नहीं आती, क्योंकि इससे भी जाति चेतना के राजनीतिकरण का उनका मकसद कुछ हद तक पूरा होता है। लेकिन अब ऐसे लोगों को लेकर सर्वजन समाज की नेत्री बनने का प्रयोग उन्हें बन्द कर देना चाहिए। बहुजन समाज का हित उनके विशुद्ध बहुजन नेत्री बनने में ही है।

दलित की पोशाक

हाल ही में एक प्रख्यात बुद्धिजीवी ने, जो जन्मसूत्र से सछूत शूद्र हैं, मायावती के व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए यह लिख डाला है– *अगर मायावती हीन भावना से मुक्त होतीं तो सोने के आभूषण न पहनतीं, सिल्क के सूट न बनवातीं, शहरी मैडम के स्टाइल में बाल न कटवातीं। तब वो इस देश की सबसे सुंदर महिला होतीं।* दरअसल ये महोदय देश के एकमात्र ऐसे बुद्धिजीवी नहीं हैं जिन्हें मायावती के भव्य रहन–सहन में हीन भावना का प्रतिबिंबन दिखता है। ऐसे बुद्धिजीवियों की संख्या तो अनगिनत है। मैंने स्वयं ऐसे ढेरों बुद्धिजीवियों का साक्षात किया है जो मायावती को लौह–महिला के रूप में स्वीकृति (शायद अनिच्छापूर्वक ही) देने के बावजूद उनकी वेश–भूषा पर कटुक्ति करने से स्वयं को रोक नहीं पाते हैं।

बेशक आज की तारीख में मा. कांशीराम और मायावती की वेश–भूषा और भव्य रहन–सहन में हीन भावना की सर्वाधिक झलक दिख रही है। किंतु इस दृष्टि से भी आधुनिक भारत के दलितों में डॉ. आंबेडकर नंबर एक रहे। मुझे ऐसे ढेरों सवर्ण बुद्धिजीवियों को निकट से देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है जो डॉ. आंबेडकर की विद्वता और प्रतिकूलताओं को जय करने की उनकी अद्‌भुत क्षमता का लोहा मानने के बावजूद उनके साहेबी परिधान की कभी प्रशंसा न कर सके। उनका कहना है कि पराधीन भारत के तमाम नेताओं– नेहरू, हेडगेवार, पटेल, गोलवलकर, लोहिया इत्यादि– सहित स्वाधीन भारत के अटल, आडवाणी, एन.डी.तिवारी, मुलायम सिंह वगैरह के पोशाक में जो सादगी रही या है उसकी लेशमात्र भी झलक डॉ. आंबेडकर के परिधान में नहीं रही। जबकि सर्वाधिक अभावग्रस्त लोगों का नेता होने के नाते उसकी नितांत आवश्यकता थी।

दरअसल पोशाक–परिधान का संपर्क व्यक्ति की निजी रुचियों से है। किंतु कोई ऐसा व्यक्ति जो अपनी व्यक्ति सत्ता को जनगण में विलीन कर देता है, उसे अपनी व्यक्तिगत रुचियों का परित्याग कर, ऐसा जीवन जीने के लिए विवश होना पड़ता है जो जनगण के अनुकूल हो। अपनी सत्ता को विलीन करने वाला व्यक्ति, महज एक व्यक्ति न रहकर जनगण की आशा और आकांक्षा का प्रतीक बनने के साथ–साथ उसका नायक भी बन जाता है। तब उसे स्वयं को एक ऐसे मॉडल (प्रतिमान) के रूप में ढालना पड़ता है जिस रूप में वह जनगण को देखना चाहता है या यूं कहें कि ढालना चाहता है। यही कारण है कि गांधी, नेहरू, सुभाष बोस इत्यादि रईसों की संतानें अपने प्रारंभिक जीवन में सूट–बूट, कोट–टाई की अभ्यस्त होकर भी परवर्तीकाल में खादी धारण करने लगीं। जाहिर है ऐसा उन्होंने जनगण में अपनी छवि बनाने के लिए किया था। पोरबंदर के दीवान के सुयोग्य पुत्र महात्मा गांधी ने तो प्राय: पैंतालिस वर्ष की उम्र तक सूट–बूट के अभ्यस्त रहकर, दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटकर धोती धारण कर लिये। उन्हीं की तरह कोट पैंट में आराम महसूस करने वाले पायलट राजीव गांधी ने राजनीति में उतरने के बाद कोट–पैंट का मोह विसर्जित कर कुर्ता–पायजामा धारण कर लिया।

भारतीय राजनीति में सादे पोशाक के सबसे बड़े प्रेरणास्रोत रहे महात्मा गांधी। सादे लिबास का दूसरा नाम खादी तो गांधीजी के लिए एक आंदोलन था। इसके माध्यम से जहां उन्होंने स्वदेशी का संदेश प्रसारित करना चाहा, वहीं लोगों को थोड़े में संतुष्ट रहकर सत्य और न्याय के मार्ग पर चलने का अभ्यस्त भी करना चाहा था। इसके अतिरिक्त वे आकर्षक परिधान का परित्याग इसलिए भी जरूरी मानते थे कि जिस देश की जनता अभावों में जी रही है, उस देश में भड़कीले लिबास जनभावना को आघात पहुंचाएंगे। गांधीजी की प्रेरणा से भारत में राजकीय परिधान का इतिहास ही पलट गया। प्राचीन और मध्य युग के आकर्षक राजकीय परिधान की जगह गांधी के सीधे-सादे परिधान ने ले लिया। स्वाधीनता पूर्व से ही भारत के नेताओं ने सादगी को एक व्रत के रूप में अपना लिया। सिल्क सूट और डेनिम जीन्स धारण करने की आर्थिक क्षमता से पुष्ट होकर भी धोती, सादा कुर्ता-पायजामा धारण करते रहे। भारत में खादी का कुर्ता-पाजामा आज भ्रष्टाचार का प्रतीक बन गया है फिर भी नेता उसे सोत्साह धारण कर रहे हैं ? डॉ. आंबेडकर, मा. कांशीराम, बहन मायावती सादगी की इस जनप्रिय धारा में खुद को प्रवाहित न कर सके। यह बात ही सवर्ण बुद्धिजीवियों को हजम नहीं हो पाती है। इसलिए ही वे इनकी योग्यता का लोहा मानने के बावजूद उनकी शानदार जीवन शैली की आलोचना में रह-रह कर मुखर हो उठते हैं।

लेकिन सवर्ण बुद्धिजीवियों द्वारा डॉ. आंबेडकर, मा.कांशीराम, मायावती की आलोचना की पृष्ठभूमि में क्या यही प्रधान कारण है कि उन्होंने आम नेताओं की तरह सादगी को नहीं अपनाया? नहीं। मुख्य कारण यह है कि उन्होंने दलित छवि (आइडेंटिटी) को तोड़ा है। क्या रही है दलितों की छवि? हिंदू शास्त्रों द्वारा निर्मित छवि में दलित एक ऐसा प्राणी है जिसके तन पर होंगे जीर्ण-शीर्ण वस्त्र। वे टूटी थाली में भोजन करेंगे। काला लोहा ही उनका गहना होगा। हीरे और सोने के आभूषण पहनी, मैडम के स्टाइल में बाल कटवायी और सिल्क के सूट में लिपटी कोई नारी तो दलित नहीं हो सकती? डेनिम जीन्स और सूट टाई धारण किया हुआ आत्मविश्वास से भरपूर व्यक्ति तो कोई दलित नहीं हो सकता? ऐसी आइडेंटिटी तो उनकी होती है जो हिंदू ईश्वर के उत्तमांग से जन्मे हैं। हिंदू ईश्वर के जघन्य अंग पैर से जन्मा दलित तो वह है जो सहस्रों वर्षों से जीर्ण-शीर्ण वस्त्र पहने, नतमस्तक व म्लान मुख समाज के दरवाजे के बाहर खड़ा है। अत: हजारों वर्षों से सवर्णों के जेहन में दलितों की जो छवि स्थापित है, उस छवि को जब कोई आंबेडकर, मा.कांशीराम या मायावती तोड़ते हैं तो उनके विरुद्ध मीडिया, जो जनगण की राय को निर्मित करती है, आलोचना में मुखर होती है। गांवों में, जहां भारत की आत्मा वास करती है, जब कोई दलित अपनी आइडेंटिटी को तोड़ता है तो उसे सवर्णों के विद्रूप से लेकर लाठी-डंडों तक सामना कर पड़ सकता है। प्रख्यात दलित मनीषी चंद्रभान प्रसाद के शब्दों में *दलित अपनी आइडेंटिटी (पहचान) के प्रति हिंदू, मुसलमान, सिख, ईसाइयों की तरह मोहग्रस्त नहीं है। उसकी छवि हिंदू शास्त्रों द्वारा थोपी गई छवि है। इस छवि से निजात पाने का प्रयास ही दलित संघर्ष है।* दलित आइडेंटिटी को तोड़ने का उज्ज्वलतम दृष्टांत डॉ. आंबेडकर, मा. कांशीराम, मायावती ने ही स्थापित किया है।

प्रश्न उठता है कि प्राय: हर मुद्दे पर गांधी से सर्वथा भिन्न मत का पोषण करने वाले

डॉ. आंबेडकर ने गांधीजी के सादगी व संतोष के प्रतीक खादी से इतर अंग्रेजी लिबास क्यों अपनाया? दरअसल अपनी मानवीय सत्ता को विस्मृत कर जो अस्पृश्य समाज नर-पशु में परिणत हो गया था उसके सामने स्वयं को हर तरह के मॉडल (आदर्श) के ही रूप में स्थापित करना चाहा था बाबा साहेब ने। अपने आपको भारत के सर्वकाल के सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी से लेकर मानवता के महान मुक्ति योद्धा के रूप में प्रतिष्ठित करने के पीछे में डॉ. आंबेडकर का अभीष्ट स्वयं को एक मॉडल के रूप में स्थापित करना था। 14 अक्तूबर 1956 को हिंदू-धर्म के परित्याग के पृष्ठ में उनकी वही भावना क्रियाशील थी। अपने चिंतन को धर्म के दर्शन पर ही विकसित करने वाले डॉ. आंबेडकर ने गहन अध्ययन के आधार पर जाना था कि इस देश के शोषितों की समस्या की जड़ कहां है और उन्होंने हिंदू धर्म के पुनर्जन्मवाद में उस जड़ को पा लिया था। उन्होंने पाया था कि पुनर्जन्म में विश्वास के कारण भारत के शोषितों में, वर्तमान जन्म की दुर्दशा से निजात पाने की कोई ललक ही नहीं है। उनमें एक वीभत्स संतोषबोध पैठ गया है। जीर्ण-शीर्ण वस्त्र, टूटी थाली और काले लोहे के गहने पर निर्भर जीवन में परिवर्तन की कोई आकांक्षा ही नहीं है। उन्होंने दलितों में व्याप्त इस वीभत्स संतोषबोध को उग्र-असंतोष में बदलने का आजीवन प्रयास किया। साहेबी सूट भी उस प्रयास का ही एक अंग था। वे गांधी की तरह इस बात से आतंकित नहीं थे कि इससे जीर्ण-शीर्ण वस्त्र पहनने वालों की भावनाएं आहत होंगी। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और सोच का प्रतीक अंग्रेजी सूट पहनने वाले बाबा साहेब उसके विपरीत इस बात के प्रति आश्वस्त थे कि इससे दलितों में साहेबी सूट पहनने की आकांक्षा पनपेगी। और जब आकांक्षा जन्मेगी तब वे इसे साकार करने के लिए उच्चतर शिक्षा, उन्नतर जीवन स्तर को हासिल करने की दिशा में अग्रसर होंगे। अत: दलितों के मुक्तियोद्धा डॉ. आंबेडकर के लिए सूट-बूट हीन भावना को छिपाने का कोई माध्यम न हो कर, मानवीय सत्ता को भूले दलितों में उच्चाकांक्षा की भावना भरने के लिए एक जरूरत थी।

डॉ. आंबेडकर के अंग्रेजी परिधान की तरह बहन मायावती के सोने के आभूषण, सिल्क के सूट और शहरी मैडम के स्टाइल के बाल हीन भावना से मुक्ति का कोई माध्यम न हो कर वीभत्स संतोष के दलदल में फंसे लोगों में उस दलदल से निकलने की भावना जाग्रत करने के लिए एक जरूरत है। इसलिए वे न तो अपने लोगों में सादगी का प्रसार घटित करने के लिए ममता बनर्जी की तरह तांती (हैंडलूम) की साड़ी पहनती हैं, न ही अध्यात्म की ओर उन्हें आकर्षित करने के लिए उमा भारती की तरह गेरुआ वस्त्र धारण करती हैं।

और अन्त में। सौंदर्य प्रतियोगिताओं की पाबंदी पर मायावती के विरोध की आलोचना करने वाले, दलित बुद्धिजीवी चंद्रभान प्रसाद की एक उक्ति का स्मरण कर लें- *पश्चिम से आने वाली हर सांस्कृतिक चीज का दलित स्वागत करेंगे। क्योंकि उससे यहां की प्राचीन परंपराएं ध्वस्त होंगी।*

फील गुड की काट : बहुजनों की सर्वत्र भागेदारी

देश की केंद्रीय सत्ता पर कब्जा जमाने का एक और संघर्ष शुरू हो चुका है। इस सत्ता में संघर्ष का राजनैतिक संगठन 'भारत उदय' और 'फील गुड' का नारा देकर फिलहाल अपने विपक्षियों से काफी आगे चल रहा है। एक तो भाजपा संघ के विपुल प्रचार माध्यमों और वाक्कला के माहिर नेताओं से पहले ही समृद्ध थी। ऊपर से फिल्म, क्रिकेट, माफिया और कॉरपोरेट जगत की कई हस्तियों ने उसके फील गुड का समर्थन कर विपक्षियों को उद्भ्रांत कर दिया है।

लेकिन सवर्णवादी संघ परिवार के नारों से विपक्ष को बौखलाने से काम नहीं चलने वाला है। क्योंकि कथित विकास पुरुष ने देश के दस के हित में, सदियों की गुलामी झेलकर 15 अगस्त 1947 को आजाद हुए एक राष्ट्र के अस्त की बुनियाद मजबूत की है; राष्ट्र को तीसरी गुलामी के जंजीरों में जकड़ने में तत्परता दिखलाया है। लोकसभा का आगामी चुनाव स्वाधीन भारत के इतिहास का सर्वाधिक निर्णायक चुनाव है। इसमें तो रत्ती भर भी संदेह नहीं कि स्वयंसेवियों ने अपनी आर्थिक नीतियों से देश को जहां ठेल दिया है, उससे देश की तीसरी गुलामी अवधारित है। लेकिन यह चुनाव तय करेगा कि तीसरी गुलामी जल्दी आएगी या बहुत देर से। विकास पुरुष कह रहे हैं 2020 तक भारत एक विकसित राष्ट्र बन जाएगा, यदि वे पुनः सत्ता में आते हैं तो। विपक्ष को जानना चाहिए कि स्वयंसेवी सच्चाई को विलोम भाषा में व्यक्त करते हैं। सच्चाई तो यह है कि भाजपा के दुबारा सत्ता में आने पर 2020 तक समस्त सरकारी उपक्रम वाया देशीय उद्योगपति, बहुराष्ट्रीय निगमों के हाथ में जा चुके होंगे, जिससे देश तीसरी गुलामी के जंजीरों में जकड़ चुका होगा। तब तक देश के कुटीर उद्योग पूरी तरह दम तोड़ चुके होंगे और जमींदारी उन्मूलन के सहारे भूस्वामी बने आज के किसान विदेशी जमींदारों की खेतों में मजदूरी करने के लिए मानसिक रूप से प्रस्तुत हो चुके होंगे। उस समय तक आरक्षण के सहारे राष्ट्र की मुख्यधारा के निकट आ रहे दलित आदिवासी, छिटक कर मीलों दूर जा चुके होंगे और मूलतः हुनर वाले कामों पर निर्भर मुसलमान बदहाली के मुकाम पर पहुंच चुके होंगे। ऐसे में भारत प्रेमी हर नागरिक, हर राजनीतिक दल का यह अत्याज्य कर्त्तव्य बनता है कि राष्ट्रवादी का चोला पहने विशुद्ध राष्ट्रद्रोही स्वयंसेवियों को सत्ता में आने से रोके।

भविष्य में आर्थिक रूप से विदेशियों का गुलाम बनने जा रहे भारत नामक अभागे राष्ट्र की निर्णायक घड़ी में ज्यादा जिम्मेदारी बसपा पर आ पड़ी है। क्योंकि बसपा ही एकमात्र दल है, जिसके पास भाजपा के मुकाबले के लिए वैकल्पिक विचारधारा,

सांस्कृतिक आंदोलन और आर.एस.एस. की भांति ही बामसेफ (भले ही एकाधिक घड़ों में बटा हो) जैसा लक्ष्यनिष्ठ व अनुशासित संगठन है। बसपा की जिम्मेवारी इसलिए और बढ़ जाती है, क्योंकि उसके व्यूह को भेदने के लिए ही स्वयंसेवी देश को तीसरी गुलामी की ओर ठेलने के लिए मजबूर हुए हैं। कैस ?

कांशीराम व मायावती ने ही ब्राह्मणों के नेतृत्व वाली अल्पजनवादी सत्ता का विनाश करने के लिए तरत-तरह के वैचारिक व सांस्कृतिक आंदोलन के माध्यम की जाति चेतना के राजनीतिकरण का अभियान चलाया, जिसका विस्फोटक परिणाम मंडल की रपट प्रकाशित होने के बाद आया। मंडल ने फिल्म, टी.वी., मीडिया, संस्थाओं, उद्योग-व्यापार पर प्रायः 90 प्रतिशत जमाए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों को नौकरियों में 27 प्रतिशत अवसरों से ही वंचित नहीं किया, बल्कि सवर्णों के चुनाव जीतने की राह मुश्किल बना दिया। तब बसपा के जाति चेतना का मुकाबला धार्मिक चेतना के राजनीतिकरण से करने के लिए सवर्णवादी संघ ने शुरू किया मंदिर आंदोलन और कई हजार करोड़ की संपदा हानि और असंख्य लोगों की प्राणहानि के रास्ते सत्ता पर काबिज किया विकास पुरुष को। विकास पुरुष देश की बागडोर हाथ में पाकर सर्वशक्ति से अग्रसर हुए संघ का 'गुप्त एजेंडा' पूरा करने की दिशा में। संघ का 'गुप्त ऐजेंडा' हिंदू राष्ट्र नहीं आरक्षण का खत्मा है। क्योंकि आरक्षण न सिर्फ वर्णव्यवस्था के वंचितों को विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिनिधित्व सुलभ कराता है, बल्कि परस्पर शत्रुता से लबरेज दलित-पिछड़ों को जोड़कर बहुजन समाज में परिणित करता है एवं बहुजन समाज बनना अल्पजनवादी सत्ता के लिए घातक है इसलिए स्वयंसेवी पिछले वर्षों से आरक्षण रूपी चिड़िया की आंख पर निशाना साधकर ही अपनी आर्थिक नीतियां तय किए हैं, जिससे उन स्थितियों परिस्थितियों का निर्माण हुआ है, जिसकी चेतावनी वयोवृद्ध संघी, दत्तों पर ठेंगड़ी वर्षों पूर्व इस रूप में देते रहे हैं। *अब जो आर्थिक स्थितियां व परिस्थितियां बन या बनाई जा रही है, उससे देश आर्थिक रूप से विदेशियों का गुलाम बन जाएगा। तब हमें राजनीतिक आजादी की भांति ही आर्थिक आजादी का दूसरा स्वातंत्र्य युद्ध लड़ना होगा।* क्या कोई बता सकता है कि विदेशियों का गुलाम बनने लायक परिस्थितियों के निर्माण में विकास पुरुष ने कोई कोताही बरती है ? क्या ऐसा नहीं लगता कि अस्त होते एक स्वाधीन राष्ट्र का ध्यान भिन्न दिशा में मोड़ने के लिए ही भारत उदय का नारा जोर-शोर से प्रचारित किया जा रहा है ? तीसरी गुलामी के बढ़ते एहसास को सुखानुभूति बताने के लिए ही फील गुड का नारा दिया जा रहा है ?

बहरहाल बसपा के रणव्यूह को भेदने के लिए आरक्षण के खात्में की जो परिस्थितियां स्वयंसेवियों ने पैदा की हैं, तो उनके मंसूबों को ध्वस्त करने करने लायक अचूक हथियार भी बसपा के ही पास हैं। वह अचूक हथियार हैं भागीदारी। बसपा ने 'भागीदारी' के लिए अपने आंदोलनों के इतिहास में दर्जन से अधिक रैलियां निकाली हैं, पर मशहूर है सिर्फ उसकी सत्ता में भागेदारी। देश को तीसरी गुलामी की जंजीरों में जल्दी से जकड़ने से बचाने और निजीकरण के सैलाब से बहुजनों को तिनकों की भांति बहने से बचाने के लिए एक ऐतिहासिक जरूरत है कि वह फिल्म, टी.वी., संस्थाओं, उद्योग-व्यापार के क्षेत्र में जैसे अमेरिका अश्वेतों को

उनकी जनसंख्या के अनुपात में भागेदारी दी गई है, वैसी मांग बहुजनों के लिए लेकर चुनाव में उतरे। वह नारा बुलंद करे कि नौकरियों के साथ सरकारी और निजीक्षेत्र की खरीदारी, तैयार उत्पादों के डीलरशीप, ठेकों, फिल्म, टी.वी., अखबारों, आभिजात्य वर्ग के स्कूलों के प्रवेश इत्यादि में जिसकी जितनी संख्या होगी, उतनी उसकी भागेदारी। इस लेखक का दावा है कि स्वयंसेवियों की साजिश से अपने वजूद के लिए चिंतित बहुजन समाज अपने वोटों से बसपा गठबंधन को लाद देगा। इस नेक काम में बसपा के लिए बाहें फैलाई कांग्रेस से बेहतर कोई संगी भी नहीं हो सकता। क्योंकि सोनिया एकाधिक बार ऐसी भागेदारी की मंशा जाहिर कर चुकी हैं और दिग्विजय सिंह अपने मुख्यमंत्रित्व के दौरान सीमित पैमाने पर इसका प्रयोग भी कर चुके हैं।

मायावती का बर्थ-डे केक

लगता है मायावती जी ने अपने जन्म दिन पर प्रदेश के मंत्रियों, अफसरों और हजारों कार्यकर्ताओं की उपस्थिति में चांदी की छुरी से 50 किलोग्राम का पर्वताकार केक काटकर कोई बड़ा सा गुनाह कर दिया है। गुनाह कर दिया है तभी तो उनके जन्मदिन समारोह में,एलिट बुद्धिजीवियों को उस मेरी आंतोनेत के गुनाह से सौ गुना बडा गुनाह नजर आ रहा है जिसे केक के अभाव में भूख से तड़पती फ्रांसीसी जनता ने फ्रांसीसी क्रान्ति के दौरान गिलोटिन पर लटका दिया था। 15 जनवरी 2003 को मायावती का कृत्य मेरी आंतोनेत जैसा ही था यह साबित करने के लिए वे प्रदेश के वंचित-शोषितों की ठंड, भूख और बीमारी से हुई मौत का आंकडा प्रस्तुत करने में एक दूसरे से होड़ लगा रहे हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है कि देश में एक से एक घोटालेबाज नेता राज्यों से लेकर केंद्र तक के प्रधान रहे और आज भी कई लोग भारत को आर्थिक रूप से विदेशियों को गुलाम बनाने के लिए सर्वशक्ति से क्रियाशील हैं पर, किसी के भी गुनाह की तुलना लुई षष्ठदस या मेरी आंतोनेत से नहीं की गईं। पर, एक चमारिन द्वारा 50 किलोग्राम का केक काटना इतना बड़ा अपराध मान लिया गया कि उसे मेरी आंतोनेत से सौ गुना बड़ा अपराधी घोषित कर दिया गया। और ऐसा करने के जुनून में तो उनके हीरे के आभूषणों की कीमत सम्पूर्ण उत्तर-प्रदेश के जीडीपी. के बराबर आंक दी गई।

लेकिन मायावती की वर्थ डे पार्टी की चर्चा के बहाने एक बड़ी अच्छी बात भी हुई। वह यह कि बुद्धिजीवियों ने मायावती को मेरी आंतोनेत प्रमाणित करने के लिए आर्यावर्त के शोषितों की समस्या की जड़ कहा है, अरसे बाद इसकी भी पड़ताल कर डाली। पर, चूंकि उनकी नीयत सही नहीं थी इसलिए वे उन कारणों को सही तरह से नहीं समझ पाये कि योरोप के लोग जहां माइनस 20 डिग्री सेल्सियस में भी चहकते फिरते हैं वहीं आर्यावत में 2 से 3 डिग्री सेल्सियस की ठंड, भूख और बीमारी से सैकड़ों की तादात में, वंचित-शोषित क्यों मौत के मुंह में समा जाते हैं ? क्या इसके लिए सदियों से लेकर कल तक के लुई और आंतोनेत जिम्मेवार नहीं हैं ? हैं! लेकिन उनसे भी बढ़कर जिम्मेवार है सदियों से जारी वर्ण/जाति-व्यवस्था। जिस जाति/वर्ण-व्यवस्था द्वारा भारत समाज परिचालित होता रहा है वह मूलत: देश की संपदा व लाभकारी पेशों की एक वितरण-व्यवस्था है। इस वितरण-व्यवस्था में भू-स्वामित्व, शिक्षण, पौरोहित्य, शासन-प्रशासन, व्यवसाय-वाणिज्यादि का अधिकार मात्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के मध्य ही वितरित किया गया। शूद्रातिशूद्र बहुजनों के हिस्से में आयी मात्र संपदा के स्वामियों की सेवा, वह भी पारिश्रमिक रहित । लेकिन इस वितरण'-व्यवस्था ने इनका और भी बहुत कुछ हरण कर लिया। संपदा व लाभकारी पेशों के वितरण की इस व्यवस्था को दैविय-कृत प्रमाणित करने के क्रम में इस व्यवस्था के प्रवर्तकों ने कुछ ऐसे उपाय

किये कि वंचित जातियां दैविक-दास (डिवाइन-स्लेव) के रूप में परिणत होकर रह गईं और दैविक-दासत्व (डिवाइन-स्लेवरी) के फलस्वरूप इनमें वीभत्स संतोषबोध (पैथेटिक कन्टेन्मेन्ट) व्याप्त हो गया है।

सुप्रसिद्ध दलित मनीषी एस.के. विश्वास के शब्दों में, *जाति-भेद स्वरूप निर्जिवीकरण (स्टेरीलाइजेसन) पद्धति से इनकी स्वाधीनता की इच्छा, वित्त-वासना, धर्म-वासना लुप्त कर दी गई है। ये लोग टाटा-बिड़ला, हेनरी फोर्ड होना नहीं चाहते न ही चन्द्रगुप्त मौर्य का उत्तरसूरी बनना चाहते हैं। ये कोई पोप या पुरोहित होने का दु:साहसपूर्ण सपना भी नहीं देखते। .... अस्पृश्यता-प्रथा की सहायता से जाति-भेद व्यवस्था में दलितों के विद्रोह के स्वप्न को ही धूलिसात कर दिया गया है। केवल दरिद्रता ही विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित करने में सक्षम नहीं होती। क्रान्ति व समाजद्रोह की मानसिकता अधिकारबोध के जठर से ही जन्म लेती हे। और यह अस्पृश्यता इस अधिकारबोध का ही हरण कर ली है।* वास्तव में क्रांति का सपना देखते-देखत बृद्ध हो चले इस देश के मार्क्स, लेनिन और माओवादियों सहित समाजवादियों ने फ्रांस, रूस और चीन इत्यादि देशों के दरिद्रों (सर्वहारों) को क्रान्ति करते देख, यह मान लिया कि भारत में सदियों के वंचित-शोषितों की भयंकर गरीबी ही उनमें बदलाव के लिए क्रान्ति की ज्वाला भर देगी। वे कभी यह समझ नहीं पाये कि यहां के सर्वस्वहारा पूंजी व सामन्तवाद के दास कम, दैविक-दास ज्यादा हैं। और दैविक-दासत्व से उत्पन्न वीभत्स संतोष बोध ने इनमें ईश्वर के उत्तमांग से जन्मे लोगों के समान जीवन जीने की एस्पिरेशन (आकांक्षा) और लुई-आंतोनेतों के विरुद्ध विद्रोह करने की भावना लोप कर डाली है।

सामाजिक परिवर्तन के राह में एवरेस्ट बनकर खड़े वीभत्स-संतोषबोध और अधिकारबोधशून्यता की उपलब्धि सबसे बेहतर कांशीराम ने की। ऐसे में वीभत्स-संतोषबोध के शिकार लोगों लोगों को बंदूक थमाने के बजाय उन्होंने उनमें शासक बनने की आकांक्षा भरने का अभियान शुरू किया। तब हजारों वर्षों के दासों को शासक बनाने की बात सुनकर इन्हीं बुद्धिजीवियों ने उनका उपहास उठाया था। लेकिन कांशीराम सही और एलिटिस्ट भ्रांत प्रमाणित हुए। दास समाज के रूलर बनने की चाह से आज मायावती आर्यावर्त में मुख्य मंत्री हैं। हजारों वर्षों के इतिहास में यह तो परिवर्तन की हल्की बयार है। आने वाले दिनों में सिन्धु घाटी सभ्यता के सृजनकारों के वंशधरों में ज्यों-ज्यों कांशीरामवाद आकांक्षा भरेगा त्यों-त्यों नई मायावतियां सामने आयेंगी। बुलेट नहीं, बैलेट के सहारे ही वंचित बहुजन समाज सत्ता पर दखल जमा कर, देश की संपदा व लाभकारी पेशों के वितरण में हुई सदियों की गड़बड़ियां ठीक कर ले, यह योजना बनाकर ही कांशीराम ने जाति चेतना के राजनीतिकरण का सिद्धांत रचा। आज जाति चेतना का मुकाबला धार्मिक चेतना के राजनीतिकरण से करने और बहुजनों को दैविक-दासत्व के जंजीरो में जकड़ने के लिए परम्परागत शासक वर्ग राम के नाम पर देश की कई-कई हजार करोड़ की संपदाहानि और असंख्य लोगों की प्राणहानि किये जा रहा है। शासकों की इस चाल को निरस्त करने के लिए जब मायावती क्रान्तिकारी नायकों के नाम पर जिलों व पार्कों इत्यादि का नामकरण एवं घोर रामविरोधी पेरियार को आर्यावर्त में स्थापित करने का उपक्रम चलाती हैं, तब भी संघ विरोधी का ढिंढोरा पीटने वाले यही एलिट

बुद्धिजीवी हाय-तौबा मचाते हैं। शायद वे नहीं चाहते कि दैविक-दास वीभत्स-संतोषबोध से उबर कर सवर्णों की भांति जीवन बसर करने की आकांक्षा पालें। लेकिन मायावती चाहती हैं इसलिए वे शहरी मैडम के स्टाइल में बाल कटवाती हैं, हीरे के आभूषण धारण करती हैं एवं अटल, आडवाणी, सोनिया गांधी और चन्द्रशेखर से भी बड़ा बर्थडे केक काटती हैं। उद्देश्य मात्र एक! जीर्ण-शीर्ण वस्त्र, उच्छिष्ट भोजन, टूटी थाली और लोहे के गहनों पर सदियों से निर्भर रहने वाले समाज में वीभत्स-संतोषबोध की जगह उग्र-असंतोषबोध पनपे। डॉ. आंबेडकर भी यही चाहते थे इसलिए खादीधारियों के कटाक्ष की उपेक्षा कर बराबर सूट-बूट और हैट धारण करते रहे। चूंकि कांशी-माया बसपा के द्वारा सामाजिक क्रान्ति का परमावश्यक तत्व *'उग्र-असंतोषबोध'* फैलाने का काम कर रहे हैं इसलिए बसपा के साथ न तो थैलीशाही को बढ़ावा देने वाले सत्ता के दलाल टाइप के नेता जुड़ते हैं न ही प्रचार के लिए फिल्मी दुनिया की ग्लैमरस हस्तियां सामने आती हैं। ऐसे में इन्हें फण्ड संग्रहित करने के लिए कुछ भिन्न रास्ते अपनाने पड़ते हैं जिसके लिए इन्हें उग्र-असंतोषबोध डरे से लोगों की आलोचना का शिकार बनना पड़ता है।

लेकिन वंचितों में उग्र-असंतोषबोध पैदा करने का जो उपक्रम डॉ. आंबेडकर के बाद कांशीराम, मायावती, वामन मेश्राम जैसे नेता और चन्द्रभान प्रसाद, एस.के विश्वास इत्यादि जैसे दलित बुद्धिजीवी चला रहे हैं, वह गैर-दलित नेता और बुद्धिजीवियों ने कभी नहीं किया। इन्होंने वंचितों के प्रति समवेदना के आंसू तो खूब बहाये। पर, सदियों के वंचित-शोषितों में टाटा-बिड़ला और हेनरी फोर्ड बनने की आंकाक्षा पनपे; ये भी मीडिया, फिल्म, टी. वी., संस्थाओं में जगह बनाने के लिए आकांक्षी हों, इसका रत्ती भर भी प्रयास नहीं किया। यदि ये सचमुच इनके प्रति संवेदनशील हैं तो ज्यादा नहीं मात्र आगामी दस वर्षों तक इनमें उग्र-असंतोषबोध व महत्वकांक्षा पैदा करने का उपक्रम चलावें।

मायाराज के खात्मे का जश्न

ताज प्रकरण में अपने 'आयरनत्व' पर विपक्षी नेताओं एवं बुद्धिजीवियों द्वारा उठाई जा रही शंकाओं का जोखिम भरा जवाब देने के लिए आयरन लेडी ने खुद को बेताज करने का जो निर्णय लिया, उससे आर्यावर्त के हृदय स्थल की फिजा में एक जश्न का माहौल पैदा हो गया है। मायाराज के दहशत भरे दु:स्वप्निल दौर के खात्मे पर हर्षोल्लास की व्याप्ति स्वाभाविक ही है। अपने कारपोरेट जगत के बंधुओं, सत्ता और पैसा का विनिमय कराने में सिद्धहस्त हस्तियों एवं राजा भैया के अनुगामियों के सहयोग से यू.पी. का ताज हासिल करने के लिए निरंतर चलाए गए अभियानों की नाकामी से कुंठित हो चले 'धरतीपुत्र' अप्रत्याशित तौर पर ताज को अपने माथे पर पाकर सुखद आश्चर्य में डूब गए हैं। आज किसानी छोड़कर पूरी तरह राजनीति के पेशे में रम चुके 'यादव' परिवार की बेइंतहा खुशियों का अंदाजा कोई भी लगा सकता है।

ताजपोशी के दिन ही धरतीपुत्र द्वारा निर्दलीय विधायक रघुराज प्रताप सिंह, उनके पिता उदय प्रताप सिंह और विधान परिषद सदस्य अभय प्रताप सिंह पर लगा पोटा हटाने और गैंगस्टर एक्ट व रासुका की पुनर्समीक्षा की घोषणा से प्रदेश के गली-कूंचों से लेकर एयर कंडीशंड महलों तक फैले छोटे-बड़े राजा भैये आज खुशी के जाम टकरा रहे हैं। उन्हें लग रहा है कि एक बेदर्द की जगह यू.पी. का ताज एक ऐसे 'मुलायम हमदर्द' को मिला है, जो अपनी स्वस्थ लोकतांत्रिक प्रतिबद्धता का प्रदर्शन इसी तरह लंबे समय तक करता रहेगा। बेइंतहा खुशी ने आज नौकरशाहों को भी अपने आगोश में ले लिया है। उन्हें इस बात की राहत है कि अब किसी माया का औचक दौरा उनकी नींदें नहीं उड़ाएगा। अब गावों की धूल-मिट्टी फांकने के बजाय वातानुकूलित कमरों में बैठकर शाही अंदाज में काम किया जा सकेगा। जश्न का माहौल उन पूंजीपतियों, सत्ता के दलालों और करोड़ों के विनिमय में कारपोरेटरों के दूत व जनता के मनोरंजन का काम करने वाले फिल्म सितारों में है, जो 'धरतीपुत्र' को पंचसितारा दुनिया की सैर कराते रहे हैं। चूंकि धरतीपुत्र एहसान फरामोश और काइंया फितरत के नहीं हैं, इसलिए वे प्रतिदान देने में कंजूसी नहीं करेंगे, यह सोचकर ही वे किसी पंचसितारा होटल में पार्टी का आयोजन कर रहे होंगे।

धरतीपुत्र की ताजपोशी से न सिर्फ कारपोरेटरों, सत्ता के दलालों, फिल्म सितारों और राजा भैयों में जश्न का माहौल है, बल्कि राजनीतिक दलों में भी अपार खुशी है। मार्क्सवादियों को खुशी है कि आज यू.पी. का ताज एक सच्चे सर्वहारा के सिर पर शोभा पा रहा है। भले ही वह पूंजीवादी संस्कारों से समृद्ध लोगों से घिरा हुआ हो या घिरा रहता हो। बदली हुई फिजा ने तो समाजवादियों को इतना आह्लादित कर दिया है कि धरतीपुत्र के विपक्षी खेमे में पड़े समाजवादियों तक को अपना भूला संस्कार याद आ गया और वे बिन बुलाए ही उन्हें बधाई

देने सैकड़ों मील दूर से चले आए। बेशक कांग्रेस उहापोह का शिकार होकर बदली फिजा का लुत्फ उठाने में पीछे रह गई है। पर, भाजपा में तो हर्ष की लहर दौड़ गई है। हालांकि आयरनलेडी के सहयोग से आगामी लोकसभा चुनाव में विपक्षियों को ध्वस्त करने में उसके मंसूबों को गहरा आघात लगा है। पर, भाजपा को राहत है कि अब नए सिरे से राम मंदिर को तोड़ कोई और आंबेडकर स्मारक नहीं बनेगा। अब वीभत्स संतोषबोध और दैविक-दासत्व (डिवाइन-स्लेवरी) का शिकार बने दलित-पिछड़ों में सामाजिक क्रांति का संदेश देने के लिए कोई फुले, पेरियार, शाहूजी, झलकारीबाई, ऊदा देवी, नारायण गुरु इत्यादि के नाम पर नया उपक्रम नहीं चलाएगा। अब बहुजनों की उस जाति चेतना के राजनीतिकरण की प्रक्रिया भी बाधित होगी, जिसके कारण आयावर्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का चुनाव जीतना क्रमशः दुष्कर होता जा रहा है। सर्वोपरि उसे इस बात की खुशी है कि आज धर्मनिरपेक्षतावादियों के सरताज माने जाने वाले उस व्यक्ति के हाथ में यू.पी. का ताज चला गया है, जो हिंदुओं के ध्रुवीकरण में व्यक्तिगत तौर पर सबसे बड़ा सहायक उपादान रहा है। लेकिन जहां तक यू.पी. के ताज परिवर्तन से मिली खुशी का प्रश्न है मुझे लगता है सर्वाधिक खुशी धर्मनिरपेक्षतावादियों के बौद्धिक तबकों को मिली है।

विगत महीनों से भाजपा से गठबंधन के कारण राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों ने इच्छा या अनिच्छापूर्वक आयरन लेडी के प्रति खासा संयम बरता। यह बुद्धिजीवियों का धर्मनिरपेक्षतावादी तबका था, जो शुरू से ही उस के विरुद्ध मुखर रहा। शुरूआती दौर में इसने सांप्रदायिक भाजपा से गठबंधन करने के लिए जमकर आग उगली। बाद में सदियों से नतमस्तक होकर चुपचाप मार खाने वाले मानवेतरों में जब स्वाभिमान भरने के लिए उसने जुल्मी तबकों के विरुद्ध कठोर कदम उठाया, धर्मनिरपेक्षतावादी कलमकारों ने उसे स्वेच्छाचारी, तानाशाह साबित करने का कोई मौका नहीं छोड़ा। लेकिन सरकार बनाने के कुछ महीनों बाद माया ने मित्र के वेश में शत्रु का कार्य करते हुए जब सवर्ण हितैषी भाजपा का जनाधार खत्म करना शुरू किया, संघ के शत्रु के रूप में कलम से तलवार का काम लेने वाले कथित धर्मनिरपेक्षतावादी, जो प्रधानतः सवर्ण जातियों से हैं, उसके मित्र की भूमिका में अवतीर्ण होकर मायावती सरकार गिराने का आह्वान करने लगे। इसका साक्ष्य निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है।

8 नवंबर 2002 को सपा के एक भूतपूर्व सांसद व बौद्धिक सिद्धांतकार ने 'अवसरवादी राजनीति का हश्र' नामक अपने आलेख के उपसंहार में लिखा था, *कांशीराम ने पुनः अगस्त में कहा है कि हमने कांग्रेस के साथ समझौता कर उत्तर प्रदेश में उसका नाश कर दिया। अब भाजपा को तहस-नहस कर देंगे। लगता है बसपा सुप्रीमां अपने कथन को सच साबित कर देंगे। क्या देश के भाजपाई भविष्य की लिखावट को नहीं देख रहे हैं ? उत्तर प्रदेश का राजनीतिक परिदृश्य भाजपा के समापन की घंटी है।* अपनी समाजवादी प्रतिबद्धता के लिए विख्यात एक और विद्वान स्तंभकार ने आयरन लेडी पर निशाना साधते हुए 'उत्तर प्रदेश के राजनीतिक पेंच' नामक अपने आलेख में लिखा था, *अपने केंद्रीय नेतृत्व के दबाव में भाजपा बसपा के साथ जो जलालत भुगत रही है, उससे उसकी छवि याचकों वाली बन गई है। पिछले*

छह महीनों में उसके कार्यकर्त्ताओं और समर्थकों में गजब की कुंठा और हताशा पैदा हुई है। क्योंकि बतौर पार्टी भाजपा रत्ती भर भी अहसास नहीं करा पाई है कि वह सरकार में है। प्रदेश में भाजपा का राजनीतिक भविष्य चर्चा से ही बाहर हो गया। लोग उस पर चर्चा करने को अप्रासंगिक मानने लगे।

लेकिन ताज प्रकरण में जगमोहन के मामले में आयरन लेडी के मात खाने के बाद धर्मनिरपेक्षता बुद्धिजीवियों ने कलम ही तोड़कर रख दी। 4 अगस्त को 'मायावती की मुश्किलें' नामक लेख में एक धर्मनिरपेक्षतावादी ने भाजपा को चेताते हुए लिखा, *भाजपा के बुजुर्ग नेता भूल जाते हैं कि उत्तर प्रदेश तमिलनाडु नहीं है, जिससे विरक्त होकर कोई पार्टी केंद्र पर कब्जा का सपना भी देख सकती है। उत्तर प्रदेश भाजपा की पूंजी हुआ करती थी, ब्याज नहीं। दूसरी बात यह है कि जया की तरह मायावती की पार्टी और महत्त्वाकांक्षाएं सिर्फ एक प्रदेश तक सीमित नहीं हैं। वे तो खुद एक दिन केंद्र पर काबिज होने का सपना पाले हुई हैं और उत्तर प्रदेश जैसे बड़े प्रांत को धुरी बनाकर शेष भारत में अपना राजनीतिक प्रभाव विस्तार करने में जुटी हैं। उन्होंने शिमला में कहा भी है कि उत्तर प्रदेश को छोड़कर भारतीय जनता पार्टी से वे कहीं भी समझौता या गठजोड़ करने की इच्छुक नहीं हैं।* उन्होंने आयरन लेडी की महत्त्वाकांक्षा पर अंकुश लगाने और भाजपा को बचाने के लिए अपने लेख के शेषांश में भाजपाइयों को यह मूल्यवान टिप्स दिया था, *ऐसे में एक रास्ता यह बचता है कि भाजपा मुख्यमंत्री मायावती के प्रबल प्रतिद्वंदी और उनसे बदला चुकाने को बेचैन समाजवादी पार्टी के नेता मुलायम सिंह यादव को प्रदेश में सरकार बनवाने का मौका दिलवाए। यह काम वह मायावती से सैद्धांतिक आधार पर समर्थन वापस लेकर ही कर सकती है। यह सभी जानते हैं कि मुलायम सिंह मायावती के प्रति कोई नरम सलूक नहीं कर सकते। अपनी सरकार बनने की स्थिति में वे पहले दिन ही बहन जी को जेल में डालने की घोषणा कर चुके हैं। इसलिए इतना तय है कि वे अपनी मनमानी करेंगे और उससे लगभग वैसा ही हाहाकार मचेगा, जैसा आज आमतौर पर माया विरोधियों के बीच मचता ही रहता है। उस स्थिति का फायदा उठाकर भाजपा किसी उचित समय पर हस्तक्षेप कर सकती है और दलित हितों के रक्षक की भूमिका निभाते हुए मायावती को मुलायम से बचाने का सफल नाटक करते हुए दलित समुदाय का दिल जीतने की आखिरी कोशिश कर सकती है। इससे स्थिति उलट जाएगी और मायावती की भाजपा पर निर्भरता बढ़ जाएगी।*

फिलहाल मायावती को जेल भेजने का आदेश तो जारी नहीं हुआ है, अब तक बेशक दलितों के बैकलाग की भरती पर रोक लगा कर कुछ विशेष संदेश दिया गया है। फिर भी काफी हद तक धर्मनिरपेक्षतावादी बुद्धिजीवियों की मनचाही मुरादें पूरी हो गई हैं। श्रीयादव मुख्यमंत्री भी बन गए हैं और राजनीतिक पंडितों की बातों पर विश्वास किया जाए, तो भाजपा ने उन्हें यू.पी. का ताज दिलवाने में सहयोग भी कर दिया है। लेकिन जिस संघ को धर्मनिरपेक्षतावादी राष्ट्र का सबसे बड़ा संकट कहकर शोर मचाते हैं, उसके राजनीतिक संगठन भाजपा को आर्यावर्त के हृदय स्थल में जिस कौशल से माया ने अप्रासंगिक बनाया

है, उसके लिए क्या उनकी विदाई बेला में धन्यवाद के दो शब्द उपहार में नहीं देंगे ? अगर आयरन लेडी की विदाई पर इस कारण वे धन्यवाद नहीं दे सकते, तो कम से कम इस बात के लिए तो धन्यवाद देना ही चाहिए कि उनके द्वारा महासत्तालोलुप के रूप में प्रचारित दलित की बेटी ने उनकी मुरादें पूरी करने के लिए पूरी तरह मोहमुक्त होकर यू.पी. का ताज खुद ही अपने हाथों से उतार कर रख दिया है। लाख कमियों के बावजूद यह तो मानना की पड़ेगा कि आज जहां सत्ता हासिल करने के लिए सिद्धांतों की तिलांजलि देने से लेकर तमाम तरह के हथकंडे अपनाए जा रहे हैं, वहां आयरन लेडी ने ताज के लिए अपने स्वाभिमान से समझौता करने के बजाय ताज को ठुकराना ही अधिक बेहतर समझा और ऐसा करके भी दिखा दिया।

मायावती को अपनाए बिना मुश्किल है नारी-मुक्ति

स्त्री शक्ति और उसके प्रभाव से पूरा विश्व परिचित है। स्त्रियों के आत्मबल, आत्मशक्ति और मानवीय संवेदनाओं को कभी भी खुद को साबित करने की जरूरत नहीं रही, पर यह भी सच है कि विश्व की आधी जनसंख्या लंबे समय से उपेक्षित रही है। सभी भीतर से इस सच को स्वीकारते रहे, पर परिवर्तन पिछले कुछ वर्षों में अचानक ही देखने को मिला है। स्त्रियां जब घर से बाहर निकलीं तो उनकी लड़ाई दोहरे मोर्चे पर थी। जहां एक ओर उन्हें खुद को साबित करते हुए अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़नी थी, वहीं दूसरी तरफ अपने घर का मोर्चा भी संभालना था। ऐसे में स्त्रियों ने खुद को दो खंडों में विभाजित करते हुए स्वयं को हर क्षेत्र में साबित किया। फिल्मी पर्दे पर उनकी उपस्थिति हमेशा रही है। हालांकि यहां उन्हें ग्लैमर का परिचायक ही माना जाता रहा, पर पिछले कुछ वर्षों में स्त्रियों ने निर्देशन जैसे अन्य क्षेत्रों में भी अपना लोहा मनवाया है। तनूजा चंद्रा, पूजा भट्ट, जूही चावला और रवीना टंडन ने संवेदनाओं को बड़े पर्दे पर उतार कर अपनी विशेष उपस्थिति दर्ज कराई है। वहीं छोटे पर्दे पर एकता कपूर का एक छत्र राज्य कायम है।

पिछले एक दशक से साहित्य की दुनिया में परिदृश्य अचानक बदला है। स्त्री लेखन ने तमाम वर्जनाओं को तोड़ते हुए अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है। अरुंधति राय, चित्रा मुद्‌गल, मैत्रेयी पुष्पा और नासिरा शर्मा जैसी लेखिकाओं ने स्त्री लेखन को दायरे से बाहर निकाला है। महाश्वेता देवी और प्रभा खेतान के लेखन ने न केवल विस्तृत कैनवास पर एक नया परिदृश्य खड़ा किया है, बल्कि अपने ऊपर लगे आक्षेप 'घाघरा ब्रिगेड' को भी पूरी तरह नकार दिया है।

भारतीय सौंदर्य को अंतर्राष्ट्रीय पहचान तो मिल ही चुकी थी, अब उसे 'ब्यूटी एंड ब्रेन' के टाइटिल भी मिलने शुरू हो गए हैं। सौंदर्य की दुनिया के अलावा स्त्रियों ने खुद को एक नए रूप में स्थापित किया है। भारत की कल्पना चावला का स्पेस की दुनिया में जाने से कतई न घबराना स्त्रियों के आत्मबल का ही प्रमाण है। किरण बेदी न केवल न्याय का स्तंभ बन कर उभरी हैं, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी सम्मानित की गई हैं। राजनीति में भी विश्व स्तर पर अपना लोहा स्त्रियों ने मनवाया है। इंदिरा गांधी से शुरू हुई परंपरा को आगे बढ़ाते हुए कुछ स्त्रियों ने अपने आपको साबित करते हुए शक्ति व नेतृत्व का प्रमाण दिया है। जय ललिता, सुषमा स्वराज, नजमा हेपतुल्ला, सोनिया गांधी जैसी नेताओं की प्रतिभा किसी से छिपी नहीं है। समाज सेवा के क्षेत्र में जहां समूचे विश्व को मदर टेरेसा ने अपने प्रेम से भिगोया है, सराबोर किया है, वहीं वर्तमान में नफीसा अली, अंजलि राय आदि ने विश्व स्तरीय मुहिम

शुरू करके स्त्रियों के अधिकारों व समस्याओं को विशेष रूप से चिन्हित किया है। खेल की दुनियां में भी महिला हॉकी टीम ने अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है। साथ ही वेट लिफ्टर कुंजू रानी ने यह बता दिया है कि इस क्षेत्र में सिर्फ पुरुषों का ही वर्चस्व नहीं हो सकता।

कुल मिलाकर स्त्री शक्ति ने हर क्षेत्र में नए प्रतिमान स्थापित किए हैं और उन क्षेत्रों में अपनी पहुंच बताई है, जो आज तक उनके लिए निषिद्ध थे। आज हवाई जहाज उड़ाने से लेकर बस और मेट्रो रेल चलाने तक हर कार्य में स्त्रियां सक्षम हैं। अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस मनाने का औचित्य भी अब समझ में आता है, क्योंकि स्त्री शक्ति पर्व को मनाने का अब समय आ चुका है। यह अंत नहीं है, लड़ाई अभी भी जारी है, यात्रा अभी शेष है।

नारी शक्ति और उसके प्रभाव का आइना दिखाते उपरोक्त विचार इस लेखक के नहीं, अनीता वर्मा नामक एक नारीवादी विदुषी के हैं, जो उन्होंने पिछले दिनों अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस के अवसर पर एक राष्ट्रीय समाचार-पत्रों के माध्यम से व्यक्त किए थे। किंतु यह लेखक उनके पूरे लेख को एक विशेष उद्देश्य से यहां उद्धृत कर रहा है और ऐसा करने का उद्देश्य महिला मुक्ति आंदोलन से जुड़ी विशिष्ट हस्तियों की मनुवादी मानसिकता को उजागर करना है। यह लेखक पिछले कुछ सालों से गौर कर रहा है कि अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस के अवसर पर विभिन्न विदुषियां प्रायः उपरोक्त लेखिका की भांति ही लेख लिखकर नारी आंदोलनों का आइना दिखलातीं हैं। इस वर्ष इससे मिलते-जुलते कई लेख इस लेखक की नजरों से गुजरे, जिनमें हाल के वर्षों में 'घाघरा ब्रिगेड' की विभिन्न क्षेत्रों में उपलब्धियों को उपरोक्त लेख की भांति ही सोत्साह गिनाया गया। पर सभी के विचारों में जो सबसे बड़ी साम्यता इस लेखक को नजर आई है, वह यह कि किसी भी नारीवादी विदुषी ने मायावती को इस काबिल नहीं समझा कि उन्हें अपने पसंद की कुछ गिनी-चुनी सर्वश्रेष्ठ महिलाओं में स्थान दिया जा सके। इनके लेखों के साथ सामंजस्य बिठाकर छापी गई तस्वीरों में शहनाज हुसैन, रितु बेरी जैसी महिलाओं की चमकती तस्वीरें तो दिखती हैं, पर मायावती की नहीं।

वास्तव में मायावती के प्रति भारत की प्रगतिशील महिलाओं की अरुचि में उस मानसिकता की ही झलक मिलती है, जिसका प्रतिबिंबन आंबेडकरवाद के प्रति सवर्ण बुद्धिजीवियों की सोच में अक्सर दिखाई देता है। जिस भारतरत्न को पंडित नेहरू अपने मंत्रिमंडल का रत्न कहते नहीं थकते थे, जिस बाबा साहेब को अमेरिका के राष्ट्रपति आइजन हावर ने दुनिया के पांच सर्वश्रेष्ठ मनीषियों में से एक घोषित किया था, भारत के जिस मोजेज के निधन के बाद ब्रिटेन की एक पत्रिका ने यह कहा था कि पूरी दुनिया में उनकी बुद्धि का कोई सानी नहीं था, उस डॉ. आंबेडकर के प्रति यहां के बुद्धिजीवियों में बराबर एक तिरस्कार का भाव रहा है। इसीलिए आज भी हम सभी सवर्ण बुद्धिजीवियों को गांधीवादी, मार्क्सवादी, लोहियावादी और राष्ट्रवादी खेमों में ही बंटा हुआ पाते हैं, विरले ही इनमें कोई आंबेडकरवादी खेमे में नजर आता है। पर चूंकि प्रगतिशील महिलाएं नारी और दलितों को एक बराबर मानती हैं, इसलिए जिस अस्पृश्य महिला ने भारत के हजारों वर्षों के ज्ञात इतिहास में पहली बार एक विशाल सूबे का हुक्मरान बनने का रिकार्ड बनाया एवं जिसकी उपलब्धियों ने दुनियां

भर के समाज विज्ञानियों को अध्ययन का भारी सामान मुहैया करा दिया है, उसके प्रति इनकी अरुचि खुद में एक समाज-शास्त्रीय अध्ययन का विषय बन जाती है।

फैशन, फिल्म, टी.वी इत्यादि सतही क्षेत्रों को छोड़ ही दिया जाए, अगर सोनिया गांधी, सुषमा स्वराज, शीला दीक्षित, जय ललिता जैसी राजनीतिक क्षेत्र की हस्तियां अपनी उपलब्धियों से भारतीय फेमिनिस्टों को विस्मित कर सकती हैं, तो मायावती में ही क्या कमी है, जो वे इनमें किसी का आदर्श तक नहीं बन सकतीं। इंदिरा गांधी से लेकर सोनिया गांधी, शीला दीक्षित, जय ललिता, सुषमा स्वराज इत्यादि जिन ढेरों महिलाओं ने राजनीति में विशेष छाप छोड़ी है, उनके साथ यह सुखद संयोग रहा कि उनके पीछे स्थापित दलों का विशाल समर्थक वर्ग रहा, यही नहीं इनमें कइयों की पारिवारिक पृष्ठभूमि ने इन्हें बना-बनाया ऐसा विशाल प्लेटफार्म सुलभ करा दिया था, जहां से राजनीति की बुलंदियों को न छूना ही आश्चर्य का विषय होता। इनके विपरीत मायावती का राजनीतिक सफर अबला कही जाने वाली भारतीय नारी के संघर्ष की एक महागाथा है। मायावती का निर्माण खुद मायावती की असाधारण कृति है।

मायावती ने आई.ए.एस. बनने का ख्वाब छोड़ कर जब आई.ए.एस. को निर्देश देने लायक क्षमता हासिल करने के लिए भारत के सर्वकाल के सर्वश्रेष्ठ राजनीतिज्ञ का अनुगामिनी बनने का संकल्प लिया, उस समय कांशीराम, पंडित नेहरू, राजीव गांधी या एम. जी. रामचंद्रन की भांति विराट राजनीतिक मंच के स्वामी नहीं थे।

लेकिन 1978 में बामसेफ नामक एक अख्यात संगठन के एक साधारण कैडर के रूप में अपना राजनीतिक कैरियर शुरू करते हुए 1995 में उत्तर प्रदेश का हुक्मरान बनने तक मायावती ने अपनी स्वतंत्र छवि स्थापित कर ली थी। वे क्रमश: कांशीराम की विशाल छाया से मुक्त होकर 'आयरन लेडी' के रूप में खुद को रूपांतरित करती गईं। यह रूपांतरण इतना सबल रहा कि तीन बार भाजपा के सहयोग से मुख्यमंत्री बनने के बावजूद उसके प्रदेश व केंद्र स्तर के बड़े से बड़े नेता भी कभी उस पर अपना व्यक्तित्व न थोप सके। अपनी सांगठनिक शक्ति और राजनीतिक चातुर्थ्य के सहारे एक दलित की बेटी ने खुद को उस मुकाम पर पहुंचा दिया है, जहां से खड़े होकर आज वह भारतीय राजनीति को मनचाही दिशा दे सकती है। इस आयरन लेडी ने जब पिछले दिनों कुंडा की राजशाही पर लोकशाही का वार किया था, तब अमेरिका से आए इस लेखक के एक मित्र ने कहा था–''आज मायावती यदि अमेरिका में होतीं, तो वह 'आइकन' बन जातीं।'' उनके लौह नेतृत्व के कारण ही सदियों से नतमस्तक होकर मार खाने वाली देश की एक चौथाई आबादी की मानसिकता में ऐसा बदलाव आया है कि वह पलट कर मारने का जज्बा दिखाने लगी है। मानवेतरों का यह भावांतरण, वह भी एक नारी के नेतृत्व में इतिहास की एक इतनी बड़ी घटना है, जिस पर समाजशास्त्री लंबे समय तक गवेषणा कार्य चलाते रहेंगे।

वास्तव में हिंदू शास्त्रों और 'आंचल में है दूध और आंखों में पानी' कहकर भारतीय महिलाओं को गौरवान्वित करने वाले कवियों के सौजन्य से नारियों की जो अबला छवि निर्मित

हुई है, उसे जिस ऐतिहासिक अंदाज में एक दलित की बेटी ने ध्वस्त किया है, वह एक अद्वितीय दृष्टांत है। इस आधार पर मायावती को भारतीय फेमिनिस्टों की आदर्श नारियों की तालिका में शीर्ष पर रहना चाहिए। पर वे तो तालिका से ही पूरी तरह बहिष्कृत हैं, ऐसा क्यों? लोग कहेंगे, चूंकि भारत में नारी मुक्ति आंदोलन को नेतृत्व प्रदान करने वाली प्रगतिशील महिलाएं बहुधा द्विज समाज से हैं, इसलिए एक अस्पृश्य महिला को आदर्श मानने की मानसिकता से पुष्ट नहीं हैं। इस तर्क को खारिज नहीं किया जा सकता। पर इस लेखक के हिसाब से कारण कुछ और है। वह कारण यह है कि चूंकि भारत की प्रगतिशील नारियां न तो हिंदू देवी-देवताओं के भय से मुक्त हैं, न ही शास्त्र विरोधी मानसिकता से पुष्ट। इसलिए फुले, पेरियार, आंबेडकर की भांति हिंदू देवी-देवताओं और शास्त्रों के विरुद्ध चेतना का प्रसार करने वाली दलित की बेटी को अपना आदर्श मानने में उन्हें असुविधा होती है।

वास्तव में सोनिया गांधी, शीला दीक्षित, सुषमा स्वराज, तनूजा चंद्रा, रवीना टंडन, जूही चावला, अरुंधति राय, चित्रा मुद्गल, प्रभा खेतान, कूंजु रानी, रितु बेरी, एकता कपूर, हेमा मालिनी, अंजलि राय, ऐश्वर्या राय इत्यादि को अपना आदर्श मानने में आज की क्रांतिकारी नारियों को कहीं से असुविधा नहीं है। इन्हें आदर्श मानते हुए चाहें तो करवा-चौथ का व्रत रख सकती हैं, समय निकाल कर वैष्णो देवी के दर्शन और मुरारी बापू, सुधांशु महाराज या आशाराम बापू के दर्शन का सान्निध्य लाभ भी उठा सकती हैं। क्योंकि इनकी 'रोल मॉडेल' भी वैसा करती हैं। लेकिन मायावती का गुणानुरागी बनकर इन सुविधाओं का लाभ उठाने में विवेक दंशन होगा। वैसे देवी-देवता व शास्त्र विरोधी मायावती का फैन न बन पाने के लिए फेमिनिस्टों को दोष भी नहीं दिया जा सकता। जब जिगर वाले प्रगतिशील बुद्धिजीवियों में ईश्वर विरोधी पेरियार को अपना आदर्श मानने का आत्मबल नहीं है, तो अबला की छवि में लिपटी नारी से यह प्रत्याशा करना ज्यादती ही होगी कि वह पेरियारवादी एक दलित महिला को अपना आदर्श माने।

लेकिन सामाजिक मर्यादा में खुद को दलित कहने वाली नारियों को यह नहीं भूलना होगा कि भारतीय नारी राजनीति, लेखन, विज्ञान, उद्यमिता, फिल्म-टी.वी., फैशन-मॉडलिंग में चाहे जितनी भी ऊंचाई छू ले, जब तक वह मायावती के ईश्वर व शास्त्र विरोधी रूप का अनुसरण नहीं करेगी, नारी मुक्ति आंदोलन को लक्ष्य तक पहुंचाना एक दिवा-स्वप्न बना रहेगा। फेमिनिस्टों को यह बात गांठ बांध लेनी होगी कि भारत में दलित और नारियों की दुर्दशा के मूल में हैं हिंदू देवी-देवता और शास्त्र। वह अगर अपनी दृष्टि प्रसारित कर ध्यान से देखें, तो स्पष्ट दृष्टिगोचर होगा कि वे जिस गुलामी से मुक्ति पाने के लिए आंदोलनरत हैं, वह शास्त्र और भगवानों द्वारा ही थोपी गई है। पढ़े-लिखे दलितों ने हिंदू धर्म-संस्कृति के ध्वंस में अपनी मुक्ति की राह ढूंढ ली है। अगर देश की प्रगतिशील महिलाएं सचमुच नारी-मुक्ति के प्रति गंभीर हैं, तो उन्हें मायावती का अनुसरण करना ही होगा।

सामाजिक परिवर्तन की कसौटी पर : पेरियारवाद

17 सितम्बर 1879 को तमिलनाडु के इरोड में जन्मे इरोड वेंकटा नायकर रामास्वामी भारत में जन्मे उन दो चार व्यक्तियों में एक थे जिनके नाम के साथ 'क्रान्तिकारी' का विशेषण द्विधामुक्त होकर लगाया जा सकता है। क्रान्तिकारी का मतलब ही तो ऐसे व्यक्ति से होता है जो परम्परागत सामाजिक व शासन-व्यवस्था में, बहुजन के हित व सुख के लिए आमूल बदलाव का सपना देखता है और उसका सपना बहुजन का सपना बन जाता है। जन्मसूत्र से शूद्र किन्तु नाटकीय परिस्थितियों के मध्य करोड़पति व्यवसायी बने वेंटप्पा नायकर के द्वितीय पुत्र, जिसने चौथी कक्षा के बाद ही स्कूल जीवन का हमेशा के लिए इसलिए परित्याग कर दिया था कि वहां उसके अस्पृश्य साथियों का अनादर होता था, ने तत्कालीन मद्रास में आमूल परिवर्तन का एक सपना देखा था। मनुष्यों का जयगान, मानवता का ध्वजात्तोलन एवं मानवीय शक्ति पर निर्भर कर नायकर रामास्वामी ने भाग्य परिवर्तन का जो सपना देखा था, उसी महान सपने ने जन्म दिया, तमिलनाडु-मद्रास का नया, नया समाज। समाज उन्नयन में उनके आभार से दबे उनके देशवासियों ने उन्हें थंथाई (पिता) पेरियार (दि ग्रेट) से विभूषित किया। रामास्वामी इस सम्मान के अधिकारी थे क्योंकि मद्रास के तमिलनाडु में परिवर्तन के बाद ही वहां आमूल परिवर्तन अर्थात् ब्राह्मण सत्ता का विनाश और अब्राह्मण राजनैतिक शक्ति और स्वतंत्रता का वर्चस्व स्थापित हुआ था।

क्रान्तिकारी रामास्वामी, थंथाई पेरियार ही नहीं और कई भूषणों से अलंकृत हुए थे। उन्हें जानने वाले उन्हें हर किस्म के अत्याचार, अन्याय और अमानवीयता के खिलाफ साक्षात् यम के रूप में जानते थे। विशेषकर ब्राह्मणवाद के यम के रूप में वे शिखर पुरूष रहे। पेरियार ने अस्पृश्यता के मुद्दों पर त्रिवान्कूर के राजा व महात्मा गांधी को झुकाकर 'वाइकोम' के रास्तों पर अस्पृश्यों को चलने-फिरने का अधिकार दिलाने में जिस प्रबल पराक्रम का परिचय दिया उससे उन्हें 'वाइकोम का वीर' का खिताब भी आसानी से मिल गया। और तो और पेरियार 'दक्षिण पूर्व एशिया का सुकरात' के विभूषण से भी भूषित हुए थे। उन्हें यह सम्मान आत्मसम्मान का आंदोलन और 'द्रविड़ कझगम' के संचालन करने के उपलक्ष में यूनेस्कों ने प्रदान किया था। मृत्योपरान्त यूनस्कों ने उन्हें जो शील्ड प्रदान किया था उस पर लिखा था- *पेरियार, नये जमाने का पैगम्बर, दक्षिण पूर्व एशिया का सुकरात, समाज सुधार का जनक और अज्ञानता, अंधविश्वास व निरर्थक प्रथाओं का यम*। लेकिन जिस क्रान्तिकारी की दहाड़ ने बंगोप सागर की लहरों की भी गर्जना को म्लान कर दिया था उस पेरियार से उत्तर भारत प्राय: अप्रभावित रहा। अवश्य ही पेरियार की जीवितावस्था में ही उनकी क्रान्तिकारी चेतना से उत्तर-भारत को झकझोरने का एक विशेष उद्योग में ललई सिंह यादव 'पेरियार' ने लिया था पर, उसका असर कुछ खास नहीं पड़ा।

पता नहीं पेरियार को महामना फुले की भांति किसी चित्तपावन ब्राह्मण विष्णु शास्त्री चिपलूणकर की ऐसी उपेक्षापूर्ण कटाक्ष– 'फुले को कौन जानता है? उसका नाम तो सिर्फ माम्बुर्डा से हड़पसर (तत्कालीन पूणे की दो शूद्र बस्तियां) तक ही सीमित है'– का कभी सामना करना पड़ा या नहीं। किन्तु यह सत्य है कि सामाजिक परिवर्तन के अपने लक्ष्य को साधने के उद्देश्य से जिस तरह बामसेफ के संस्थापक कांशीराम ने फुले की महाराष्ट्र की सीमित दायरे में फैली विचारधारा को वहां से लाकर उत्तर भारत, विशेषकर राष्ट्र की राजनीति की दिशा निर्धारित करने वाले सर्वाधिक लोकसंख्या बहुल उत्तर प्रदेश के परिवर्तनकामी लोगों के मध्य प्रसारित किया ठीक उसी तरह आर्यावर्त में पेरियार की क्रान्तिकारी चेतना को भी फैलाया। कांशीराम के सीमित प्रचार माध्यमों की अविराम सक्रियता से हमने जाना कि शूद्र फुले भारत में सामाजिक क्रांति के पितामह थे तो पेरियार नये जमाने के पैगम्बर, दक्षिण पूर्व एशिया के सुकरात और ब्राह्मण व ब्राह्मणवाद के यम। कांशीराम की पेरियार के प्रति इतनी दुर्बलता रही कि उनके जिस बामसेफ ने परवर्तीकाल में बी.एस.पी. का रूप लिया उसकी नेत्री व कांशीराम की एकनिष्ठ अनुगामिनी कुमारी मायावती ने मुख्यमंत्री के रूप में बड़ी मुश्किलों से मिली गद्दी को तीनों बार ही पेरियार के नाम पर दांव पर लगा दिया। और एक बार तो सत्ता खो भी दिया। पेरियार के सवाल पर मायावती द्वारा राजनीतिक लिहाज से देश के सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रदेश के सत्ता की कुर्बानी आज भी ढेरों समाज विज्ञानियों को विस्मित करती है। और जो लोग मायावती को दलित की नहीं, दौलत की बेटी व महासत्तालोलुप समझते हैं उन्हें तो पेरियार के नाम पर बार–बार सत्ता जोखिम उठाने का काम, मूर्खता से भिन्न कुछ नजर ही नहीं आता।

बहरहाल जिस पेरियार ने कांशीराम के सौजन्य से आज उत्तर भारत के परिवर्तनकामी लोगों, विशेषकर दलित एक्टिविस्ट व बुद्धिजीवियों के मध्य फुले और आंबेडकर की पंक्ति में अपना सम्मानजनक स्थान बना लिया है दक्षिण पूर्व एशिया के उस सुकरात की इस वर्ष 125 वीं जयंती है। उम्मीद है पूरे वर्ष पेरियार की 125 वीं जयंती के विशेष अवसर पर सभा–संगोष्ठियों का दौर चलता रहेगा। पेरियारवाद की उपयोगिता पर चर्चा चलती रहेगी। लेकिन इस अवसर पर शुरूआती दौर में चर्चाओं का जो रूझान नजर आ रहा है उससे लगता है कि नई सदी में पेरियार की प्रासंगिकता पर ढेरों सवाल उठने जा रहे हैं। ये सवाल इतने वजनीय हें कि इससे कईयों का पेरियारवाद से विचलन तक हो सकता है। ऐसे सवालों की बानगी इस बार पेरियार के 125 वीं जयंती वाले सप्ताह में प्रकाशित एक बहुपठित अंग्रेजी साप्ताहिक पत्र में कोई भी देख सकता है। अवश्य ही ई.वी. रामास्वामी की प्रासंगिकता पर प्रश्नचिन्ह खड़ा करने वाले लेखक जाति सूत्र से ब्राह्मण हैं।

वे लिखते हैं– *मायावती पेरियार की मूर्ति स्थापित कर व मेले लगा कर जितना भी उनका महिमा मंडन करें, खुद पेरियार के अपने राज्य में उन्हें मानने वाले नगण्य हैं। उन्होंने अंधविश्वास के खिलाफ आंदोलन चलाया पर तमिलनाडु में अंधविश्वास बढ़ता ही जा रहा है; एम. करूणानिधि और जयललिता जैसे नेता उनकी ही पार्टी की उपज हैं जो अंधविश्वास के शिकार हैं; दलितों को वहां कल्पनातीत रूप से वीभत्स उत्पीड़न का सामना करना पड़ता*

है। उनके लेखन व भाषण की जो पुस्तकें तीन खंडों में प्रकाशित हुईं उनका दुबारा कोई उस तरह संस्करण नहीं निकला जैसा कि फुले और आंबेडकर की रचनाओं का निकला। पेरियार सिर्फ ब्राह्मणों की वर्चस्वता को बदलने में कामयाब रहे, पर अंधविश्वास, नास्तिकता युक्तिवादी मानवतावाद के मोर्चे पर विफल रहे। लेखक महोदय एक अन्य बुद्धिजीवी को उद्धृत करते हुए आरोप लगाते हैं कि पेरियार के पास दलितों के लिए कोई अलग से एजेण्डा नहीं था। भारत के सर्वाधिक चर्चित दलित स्तम्भकार की कई बार छप चुकी टिप्पणी को उद्धृत करते हुए वे लिखते हैं – *तमिलनाडु में चाय की दुकानों में आज भी दलितों को अलग कप में चाय दिया जाता है। नाई दलितों के बाल नहीं काटते। दलितों के स्पर्श से आज भी लोग बचते हैं। तमिलनाडु इस बात का प्रमाण है कि क्षमता पाने पर शूद्र ब्राह्मणों की तुलना में सामाजिक रूप से ज्यादा हिंसक होता है।* सिर्फ इतना ही नहीं पेरियार की प्रासंगिकता पर सवाल खड़ा करते हुए एक मशहूर दैनिक पत्र की संपादकीय पृष्ठ पर किसी ने लिखा था कि पेरियार ने एक बार शूद्रों को संबोधित करते हुए कहा था कि, *यदि साहिबों (मुसलमान) को उनकी संख्यानुपात में सरकार विभिन्न क्षेत्रों में अवसर प्रदान कर देती है, अस्पृश्यों को नौकरियों और शिक्षा के क्षेत्र में प्रतिनिधित्व मिल जाता है और बाकी पर ब्राह्मणों का वर्चस्व रहता है, हे! शूद्रों सोचो तुम्हारा भविष्य क्या होगा?* ऐसी बातों के अतिरिक्त बहुत ही कौशल पूर्वक इन दिनों यह प्रचाराभियान चलाया जा रहा है कि पेरियार सिर्फ शूद्रों के हितैषी थे और वे सिर्फ ब्राह्मण ही नहीं मुसलमान, ईसाई, अस्पृश्यादि सभी गैर-शूद्रों के घोर दुश्मन थे।

पेरियार के सवा सौवी जयंती वर्ष में जहां हम यह उम्मीद कर रहें थे कि पेरियारवाद एक नई उछाल लेगा वहां ऐसे प्रश्नों का समूह एक विराट अवरोध बन कर हमें चुनौती देने जा रहा है। हम इन सवालों से यह कह कर नहीं भाग सकते कि बहुजन एकता में दरार पैदा करने के लिए ही भारत का बुद्धिजीवी वर्ग (स्मरण रहे डा. आंबेडकर के अनुसार ब्राह्मण ही भारत का बुद्धिजीवी वर्ग हैं) सुपरिकल्पित तरीके से ऐसे विवादस्पद सवाल उठा रहा है। हालाकि यह सही है कि देश के बुद्धिजीवी वर्ग के समक्ष सबसे खौफनाक परिघटना आर्यावर्त में दृढ़तर रुप लेती बहुजन एकता ही है। ऐसे में प्रचार माध्यमों की अधिकाधिक सुविधाओं से लैस यह वर्ग उस एकता को कमजोर करने का कोई अवसर गंवाएगा नहीं, यही स्वभाविक है। लेकिन बहुजन समाज का वह बुद्धिजीवी, जो दिल से यह मानता है कि पेरियार नये जमाने के पैगम्बर, दक्षिण पूर्व एसिया के सुकरात व ब्राह्मणवाद के यम थे, अगर ऐसे अप्रिय सवालों को परंपरागत बुद्धिजीवी वर्ग की कुत्सित साजिस मानकर चुप्पी साध लेता है तो निश्चय ही वह दायित्व ज्ञानहीनता का परिचायक होगा। हमारी चुप्पी का लाभ उठाकर वह कल पेरियारवाद की भांति ही आंबेडकर और फुलेवाद को भी विकृत करने के लिए अपने बौद्धिक संसाधनों का उपयोग करेगा।

कला, साहित्य, चिंतन, फैशनादि में वर्षों से पश्चिम का अनुकरण करने का अभिशप्त रहा भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग की एक करूणं त्रासदी यह रही कि वह भारत के साधारण

से लेकर विशिष्ट महामानवों तक के मूल्यांयन करने में पश्चिम के मापदडों को ही आधार बनाता रहा है। इस क्रम में वह बराबर से यह तथ्य विस्मृत करता रहा है कि कायिक वैशिष्ट्य में मनुष्य जैसा होने के बावजूद भारत में मनुष्य नहीं, मनुष्यों की दस हजार प्रजातियां वास करती है; विशुद्ध मनुष्य तो श्रेणी समाजों में वास करते हैं। इन दस हजार मानव प्रजातियों का अवस्थान भारतीय समाज में पिरामिडनुमा है। इनमें प्रत्येक प्रजाति की सोच ही उसकी प्रस्थिति में विद्यमान परिथितियों से निर्मित होती है। उसकी सोच सामान्यतया उसकी स्व-प्रजाति (जाति) की स्वार्थ के मध्य ही घूर्णित होती है। अपनी जाति के बाहर के लोगों से उसका सरोकार नहीं के बराबर होता है। ऐसे जातिवादी मानव प्रजातियों को जब हम श्रेणी समाजों में वास करने वाले मनुष्यों की भांति समझकर उसके क्रियाकलापों का बृहतर समाज के हित में मूल्यांयन करते हैं, तब निराशा होती क्योंकि भारत के जाति समाज में निर्मित सोच के कारण बड़े से बड़े लोग भी सर्व वर्ग के हित की कसौटी पर खरा नहीं उतर पाते। ऐसे में हम उनकी सीमाओं के प्रति कुछ सहानुभूतिशील होने के बजाए, उनके आलोचक बन जाते हैं। जातिवादी भारतीयों की सीमाओं को समाजशास्त्री डॉ. आंबेडकर ने औरों से बेहतर समझा था। यदि हम डॉ. आंबेडकर के निष्कर्षों को आधार बनाकर किसी महामानव के कार्यकलापों का अध्ययन करें तो निश्चय ही उसकी सोच की सीमाबद्धता का मजाक नहीं उड़ायेंगे।

डॉ. आंबेडकर ने 'जाति का उन्मूलन' नामक अपनी रचना में लिखा है – *हिन्दुओं में उस चेतना का सर्वथा अभाव है जिसे समाज विज्ञानी 'सर्व वर्ग की चेतना' कहते हैं। उनकी चेतना सर्व वर्ग से संबंधित है। हर हिन्दू में जो चेतना पाई जाती है, वह उसकी अपनी जाति के बारे में होती है। जब भी कोई समुदाय अपने स्वार्थ की रक्षा की भावना से प्रेरित होता है तो उसमें असामाजिक की भावना पैदा हो जाती है। यह असामाजिकता की भावना ही अर्थात् अपने स्वार्थ की रक्षा के भावना विभिन्न जातियों के एक-दूसरे से अलग होने का ऐसा ही विशिष्ट लक्षण है, जैसा कि अलग-अलग राष्ट्र का। ब्राह्मणों का मुख्य उद्देश्य यह है कि गैर-ब्राह्मणों के विरूद्ध अपने स्वार्थ की रक्षा करें और गैर-ब्राह्मणों का मुख्य उद्देश्य यह है कि ब्राह्मणों के विरूद्ध अपने स्वार्थ की रक्षा करें। इसलिए हिन्दू समुदाय विभिन्न जातियों का संग्रह मात्र नहीं है, बल्कि वह शत्रुओं का समुदाय है। उसका हर विरोधी वर्ग स्वयं अपने लिए और अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए जीना चाहता है।*

यह है जाति समाज में जन्में व्यक्ति की सोच की सीमा। सदियों से जाति समाज में जन्में व्यक्ति, चाहे वे महामानव की श्रेणी में उत्तीर्ण व्यक्ति ही क्यों न हो, सर्व वर्ग की चेतना से दरिद्र रहे। हां, फर्क इतना रहा है कि एक आम व्यक्ति की सोच जहां स्व-जाति तक सीमित रही वहीं महापुरूष स्व-जाति के प्रति विशेष दुर्बल पोषण करने के बावजूद अपनी चेतना को स्व-वर्ण तक प्रसारित में सफल रहे। लेकिन अपवाद रूप से गौतमबुद्ध को छोड़कर समग्र वर्ग की चेतना की कसौटी पर पूरी तरह खरा उतरने वाला एक भी व्यक्ति पैदा नहीं हुआ। समग्र वर्ग की चेतना के अभाव के कारण ही राजाराम मोहन राय और पंडित विद्यासागर जैसे महामानवों ने अपनी अधिक ऊर्जा का उपयोग क्रमश: सती और विधवा प्रथा जैसी उन समस्याओं के निराकरण में किया, जो खुद उनके निज समाज की समस्यायें थीं। इस चेतना

अभाव में ही विगत दिनों प्रधानमंत्री की कुर्सी पर बैठे अटल बिहारी वाजपेयी ने अब्राह्मण वर्ग के विरूद्ध अपने ब्राह्मण अर्थात सवर्ण वर्ग की स्वार्थ रक्षा के लिए, देश की सुरक्षा तक से जुड़े सरकारी उद्यकम्रों को बेचने जैसा राष्ट्रीय अपराध कर डाला। ऐसी चेतना की कंगालियत के कारण मंडलोत्तर भारत में जब ब्राह्मण सत्ता के विनाश की सम्भावना उज्जवलतर हुई, संसार त्याग का व्रत लिए संत्तों के वेश में छिपे ब्राह्मणों ने राम जन्मभूमि मुक्ति के नाम पर आंदोलन खड़ा कर कई हजार करोड़ की संपदा व असंख्य लोगों की प्राणहानि करा दिया। समग्र वर्ग की चेतना से पूरी तरह समृद्ध न होने के कारण ही प्रेमचंद, निराला, मुक्तिबोध जैसे साहित्यकार भी बहुजन समाज की प्रत्याश पूरी न कर सके।

ऐसा नहीं है कि सवर्ण वर्ग के समाज सुधारक, राजनेता, साधु-संत, लेखक, पत्रकार ही समग्र वर्ग की चेतना से अधूरे रहे, हमारे बहुजन नायक फुले, शाहूजी, आंबेडकर इत्यादि भी इस मामले में प्रश्नतीत नहीं रहे। आंबेडकर को तो महारों का नेता होने का खुला आरोप झेलना पड़ा था लेकिन जैसा कि पूर्व पंक्तियों में बताया गया है कि आम आदमी की सोच स्व-जाति तक सीमित रहने के बावजूद महामानव अपनी सोच स्व-वर्ण/वर्ग तक प्रसारित करने में सफल रहे। हमारे बहुजन महापुरूष अपनी-अपनी जाति के प्रति दुर्बलता रखने के बावजूद अपनी चेतना को शूद्रातिशूद्र वर्ग तक प्रसारित करने में सफल रहे। लेकिन पेरियार के साथ शायद सुखद संयोग यह है कि डॉ. आंबेडकर पर जैसे महार हितैषी होने का आरोप लगा, वैसा रामास्वामी को नायकरों के प्रति विशेष दुर्बलता प्रदर्शित करने के तोहमत का सामना नहीं करना पड़ा। मृत्योपरान्त उनके विरोधी उन पर शूद्र हितैषी होने का ही आरोप लगा पा रहें है। इसका मतलब पेरियार जातिवादी नहीं वर्णवादी थे अर्थात बड़े दिलवाले। लेकिन पेरियार अगर विशाल शूद्र समाज के प्रति दुर्बल थे तो भी वे साधुजी, फुले, आंबेडकर की भांति अपनी सोच को शूद्रातिशूद्र बहुजन समाज तक प्रसारित करने में सफल हुए थे, ऐसा उनके एकनिष्ठ अनुगामियों का मानना है।

बहरहाल जो पेरियार विरोधी बसपा अध्यक्ष मायावती द्वारा पेरियार के महिमामंडन करने पर विस्मय प्रकट कर रहे हैं, क्या उन्हें पता है कि आयावर्त में बहुजनवादी आंदोलन का लक्ष्य भारत के जड़ समाज में सामाजिक परिवर्तन लाना है और इस लक्ष्य में सहायक बनने के लिए ही फुले, शाहूजी, नारायण गुरू और आंबेडकर के साथ पेरियार की छवि को स्थापित करने का उपक्रम चलाया जा रहा है? अत: वास्तव में यदि पेरियार की प्रासंगिकता पर उनके विरोधी बहस चलाना चाहते हैं तो उन्हें सामाजिक परिवर्तन की कसौटी पर पेरियारवाद को परखने के लिए सामने आना होगा। वास्तव में सिर्फ पेरियार ही नहीं आधुनिक दलितवादी नजरिये से गौतमबुद्ध से लेकर शंकराचार्य; सूर, तुलसी से लेकर रैदास-नंदनार-कबीर; गांधी, सुभाष, लोहिया, हेडगेवार से लेकर फुले, आंबडेकर, कांशीराम; प्रेमचंद, निराला, मुक्तिबोध, जयशंकर प्रसाद से लेकर ओम प्रकाश वाल्मिकी, डॉ.धर्मवीर, चन्द्रभान प्रसाद, डॉ. विवेक कुमार इत्यादि की परख भी सामाजिक परितर्वन में उनके कार्यो के आधार पर होनी चाहिए। सामाजिक परिवर्तन ही वह बुनियादी मापदंड है जिसे आधार बनाकर हम किसी भी भारतीय महापुरुष का मूल्यायन कर सकते हैं।

भारत में बहुमंजिली इमारतों के रूप में फैलते पत्थरों के जंगल, तेजी से निर्मित होती चार-चार लेन वाली सड़कें, इंटरनेट, मोबाइल, टी.वी., फ्रीज इत्यादि इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों के बढ़ते प्रयोग, सेन-ऐश-चोपड़ा इत्यादि विश्व सुन्दरियों की उपस्थिति और मल्लिका शेरावतों की कायिक उन्मुक्तता देखकर बहुत को यकीन नहीं होगा भारत मूलतः एक जड़ समाज है। जहां का बाह्य रूप कुछ परिवर्तित जरूर हुआ है पर, वह परिवर्तन जिसे सामाजिक परिवर्तन कहते हैं नहीं हुआ। सामाजिक परिवर्तन अर्थात् निम्नतर अवस्था में पड़े लोगों का उन्नततर दशा में उन्नयन अर्थात् Sub Stream में पड़े लोगों का Main Stream में प्रवेश जितना चाहिए उसकी तुलना में न्यूनतम हुआ इसलिए दुनिया भर के समाज विज्ञानी इसे जड़ व अपरितर्वनीय समाज कह कर निंदित करते हैं। इस समाज की अपरिवर्तनशीलता मानव विकास के एक विस्मयकर व्यक्तिक्रम के रूप में इस धरा पर विद्यमान है। इसका यह रूप देखकर ही मार्क्स ने लिखा था - *भारत के अतीत का राजनैतिक स्वरूप जितना भी परिवर्तनशील क्यों न रहा हो; सुदूर पुराकाल से लेकर वर्तमान तक इसके सामाजिक रूप में रत्ती भर भी परिवर्तन नहीं आया है, एकदम अपरिवर्तित रह गया है। इस समाज की आर्थिक संरचना को कोई भी परिवर्तन बदल नहीं पाया है। परिणाम स्वरूप दूसरे देशों के प्राचीन व मध्ययुग के राजा, बैरंस, नाइट्स, गिल्ड मास्टर्स, भूमिदास इत्यादि का जहां समाज में आज कोई अस्तित्व नहीं, यह सब परिभाषायें श्रेणी समाज वाले देशों में अर्थहीन एवं अतीत का इतिहास मात्र रह गई हैं; भारत समाज के प्रागैतिहासिक ब्राह्मण, शूद्रादि आज भी वही आदिम माहात्म लिए स्वमहिमा विद्यमान एवं संपूर्ण शक्ति से क्रियाशील हैं।*

यह विचित्र बात है कि मार्क्सवाद के मंत्र से दीक्षित भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग ने भारतीय समाज को मार्क्स की भाषा में परिभाषित नहीं किया लेकिन पेरियार ने प्रायः मार्क्स के शब्दों में ही इसकी अपरिवर्तनीयता को चिन्हित करते हुए कहा था- *कुख्यात वर्णाश्रम धर्म भारत में आज भी है। 2000 साल पहले जो शूद्र थे वे आज भी शूद्र कहे जाते हैं। इसी तरह 2000 साल पहले जो ब्राह्मण थे, वे आज भी ब्राह्मण ही हैं। सदियों पहले अछूत पैदा हुए लोग आज भी उसी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में हैं।* बहरहाल रोम के प्राचीन समाज के पैट्रिशियन, प्लेबियन, नाइट्स और दास का परवर्ती रूप यूरोप की जिस सामंतवादी व्यवस्था में राजा, लार्ड्स, बैरन्स, नाइट्स और कृषि दासों के रूप में सामने आया वे भारत के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रातिशूद्रों के समान ही मानव की स्तरीभूत श्रेणियां थीं जिनका क्रमिक अवस्थान देश की संपदा, संसाधनों और लाभकारी पेशों के स्वामित्व के अनुरूप ही निर्धारित रहा। समय के परिवर्तन के साथ सामंतीवादी व्यवस्था की स्तरीभूत श्रेणियां अतीत के गर्भ में विलिन हो गयीं। रोम से शुरू हुए सामाजिक परिवर्तन पर विहंगम दृष्टिपात करने पर ऐसा लगता है जो वहां के दास-भूमिदास थे वे ही परवर्तीकाल में वहां के शासक-मालिक श्रेणी में तब्दील हो गये। वहां के सामाजिक परिवर्तनों को देखकर ऐसा लगता है जैसे समय के विकासक्रम में डर्विन का पालित बन्दर मनुष्य का रूप अख्तियार कर लिया। लेकिन राजा, अर्ल-ड्यूक, बैरन्स और दास-भूमिदासों के भारतीय संस्करण ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य और शूद्रातिशूद्रों का वजूद अटूट रहा इसलिए मार्क्स जैसे समाज विज्ञानी खिन्न हुए थे। चूंकि मार्क्स हर बात को आर्थिक नजरिये

से देखते थे इसलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रातिशूद्रों में फर्क वे संसाधनों के स्वामित्व के आधार पर ही किया था।

क्यों प्रागैतिहासिक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की स्थिति पूर्ववत रही? कारण यह रहा कि ये मानव श्रेणियां एक ऐसी वितरण व्यवस्था, जिसे पेरियार के शब्दों में वर्णाश्रम धर्म कहेंगे, की उत्पति थीं जिसमें संपदा, संसाधनों और लाभकारी पेशों का स्वामित्व कठोरता पूर्वक अपरिवर्तित रखा गया था। इसमें ब्राह्मणों के लिए शैक्षणिक पेशे, पौरोहित्य, राज्य संचालन में मंत्रणादान, मंत्रोंपचार; क्षत्रियों के लिए भू-स्वामित्व, राज्य संचालन व सैन्य कार्य एवं वैश्यों के लिए पशुपालन, व्यापार-वाणिज्यादि के अधिकार वितरित किये गये थे। इसमें शूद्रातिशूद्रों के लिए वितरित हुए मात्र कर्तव्य, उच्चतर वर्णों की सेवा। पर, सेवा के विनिमय में पारिश्रमिक मांगने का कोई हक नहीं। चूंकि इसमें दूसरे मानव समूहों (वर्णों) के तयशुदा अधिकार क्षेत्र में किसी और का प्रवेश कठोरता पूर्वक निषद्ध रहा इसलिए इसमें भिन्न पेशे भिन्न-भिन्न मानव समूहों के लिए आरक्षित होकर रह गये और वितरणवादी वर्ण व्यवस्था ने ले लिया एक आरक्षण व्यवस्था का रूप। इस हिन्दू आरक्षण व्यवस्था में शूद्रातिशूद्रों के लिए भू-स्वामी, शिक्षक, पुरोहित, राजा, व्यापारी बनने का सदियों से कोई अवसर नहीं। फलतः सामाजिक परिवर्तन का मार्ग हो या सदा के लिए रूद्ध।

एक सुखद संयोग कहा जायेगा कि 19 वीं सदी के पूर्वार्द्ध के शेष में जिन दिनों प्रागैतिहासिक ब्राह्मण-शूद्रादि की विद्यमानता पर माथा पीटते हुए कार्ल मार्क्स सर्वहारा वर्ग की मुक्ति के लिए निर्णायक सूत्र रचने में निम्नग्न थे, उन्हीं दिनों यूरोप से हजारों मील दूर भारत के पूना में एक शूद्र सामाजिक परिवर्तन का सूत्र खोजने में व्यस्त था। जब सामाजिक क्रान्ति के पितामह फुले ने सामाजिक परिवर्तन की बाधाओं के प्रतिकार में निमग्न किया तो उन्हें बाधा के रूप में नजर आई हिन्दू आरक्षण उर्फ वर्ण-व्यवस्था। उन्होंने हिन्दू आरक्षण को सामाजिक परिवर्तन की बाधा और शूद्रातिशूद्रों की दुर्दशा का मूल कारण मान कर एक वैकल्पिक-व्यवस्था, आरक्षण का सूत्र इजाद किया। आरक्षण मतलब दया-खैरात नहीं; शूद्रातिशूद्रों के लिए उनकी संख्यानुपात में सरकारी नौकरियों में भागीदारी। पेरियार विरोधी एक दिन मुमकिन है फुले को भी निशाने पर लेते हुए यह आरोप लगा दें कि क्यों नहीं शूद्र फुले ने दलितों के लिए अलग से एजेण्डा तैयार किया। बहरहाल फुले ने आरक्षण नामक जिस विचार प्रणाली को जन्म दिया उसे सबसे पहले 26 जुलाई 1902 को एक और शूद्र शाहूजी ने अपनी रियासत कोल्हापुर में लागू करवाया। पर, सामाजिक परिवर्तन का आरक्षण रूपी औजार ज्यादा प्रभावी होकर तब उभरा जब डॉ. आंबेडकर ने इसे अपने बौद्धिक कौशल से व्यापकतर रूप दिया। आंबेडकरी आरक्षण से शुरू हुई सामाजिक परिवर्तन अर्थात् ैनइ ैजतमंउ में पड़े लोगों की डंपद ैजतमंउ में जाने की प्रभावी प्रक्रिया। सामाजिक परिवर्तन में आरक्षण अर्थात् भागीदारी की प्रभावकारिता को देखकर ही आज आरक्षण के और व्यापक रूप, अमेरिकी 'डाइवर्सिटी' को लागू करवाने की मुहिम दलित बुद्धिजीवी छेड़ने जा रहे हैं।

लेकिन आरक्षण अगर भारत में सामाजिक परिवर्तन का माकूल औजार साबित हुआ है

तो क्या पेरियार इसके प्रयोग से खुद को दूर रखे? और किया तो क्या कथित शूद्रवादी ने इसके सुफल से दलितों को वंचित रखा? नहीं ! आंबेडकर से बहुत पहले प्रायः अनपढ़ पेरियार ने सदियों से ब्राह्मणों के शोषण और वंचना के फलस्वरूप जो कोटि-कोटि अब्राह्मण, जाहिर है इनमें दलित भी थे, शिक्षा, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक अधिकार से वंचित कर दिये गये थे उनके लिए सरकारी नौकरियों एवं शिक्षा प्रतिष्ठानों में आरक्षण के लिए प्रचाराभियान शुरू किया। उन्होंने 1925 कांग्रेस के कांचीपुरम अधिवेशन में अब्राह्मणों के लिए आरक्षण का प्रस्ताव पेश करने की तैयारी कर रखी थी पर, वह प्रस्ताव पेश करने ही नहीं दिया गया। इसके प्रतिवाद स्वरूप पेरियार ने परित्याग किया था सदा के लिए कांग्रेस का विशाल मंच और शुरू किया आत्म-सम्मान का आंदोलन। उस आंदोलन के विषय में पेरियार ने घोषाणा किया था कि- *आत्मसम्मान के आंदोलन का उद्देश्य एक ऐसे समाज की स्थापना करना है जो होगा श्रेणीहीन, जातिहीन एवं साम्य अधिकार से समृद्ध; अन्धविश्वासहीन सब सामाजिक व्याधियों से मुक्त समाज। इस समाज का लक्ष्य पुरूषों के समान नारियों के अधिकार की प्रतिष्ठा, नारियों का संपत्ति में अधिकार, नारी शिक्षा का प्रसार एवं विधवा विवाह करवाना।*

पेरियार के आत्मसम्मान का आंदोलन अवश्य ही अपना पूरा लक्ष्य नहीं प्राप्त कर सका। बाबा साहेब का पूरे भारत को बौद्धमय बनाने का सपना जिस तरह उनके अनुसरणकारियों की नालायकियत के कारण अपने लक्ष्य से कोसों दूर रह गया वैसे ही पेरियार के अनुसरणकारियों के निकम्मेपन के कारण आत्मसम्मान का आंदोलन सामाजिक समता के क्षेत्र में अपना इच्छित लक्ष्य न पा सका। लेकिन पेरियार के संघर्ष व आंदोलन के फलस्वरूप मद्रास प्रान्त में 27 दिसम्बर 1929 को जस्टिस पार्टी के तत्वाधान में दलित एवं पिछड़ों को जनसंख्यानुपात में 70 प्रतिशत भागीदारी सरकारी नौकरियों में मिली। भारत में कानूनन आरक्षण की यह पहली व्यवस्था थी। यह अध्यादेश तमिलनाडू के इतिहास में communal g.o के नाम से मशहूर है।

पेरियार सामाजिक परिवर्तन के लिए महज आरक्षण नामक औजार का प्रयोग कराकर चुप न बैठ सके। श्रेणी समाजों में सामाजिक बदलाव सिर्फ आर्थिक स्थिति में परिवर्तन से ही मुक्कमल होता रहा है। लेकिन भारत जाति समाज है जहां सर्वनिम्न में अवस्थित लोगों को न सिर्फ आर्थिक रुप से वंचित किया गया है बल्कि हिन्दू ईश्वर और शास्त्रों के साजिश से उन्हें मानवेतर भी बनाया गया है हिन्दू ईश्व और शास्त्रों के प्रयोग से कर्म संकरता का निषेध कर मानवेतरों को सदियों से संपदा-संसाधनों, शिक्षा और भूमि से वंचित किया गया था। हिन्दू, ईश्वर और शास्त्रों को हथियार बनाकर वर्ण-संकरता से समाज को बचाने के लिए जाति-व्यवस्था के पर्वतकों ने सती-विधवा व बालिका विवाह प्रथा के रास्ते समग्र भारत के इतिहास में सवा करोड़ नारियों को अग्निदग्ध, अरबों को जिल्दा लाश में परिणत तो कई करोड़ बच्चियों को बाल्यावस्था से सीधे युवावस्था में प्रविष्ट करा दिया था। हिन्दू ईश्वर और शास्त्रों के सौजन्य से संदियों से शूद्रातिशूद्रों को दैविक दास (divine slave) में परिणत करके रखा गया था। डिवाइन स्लेवरी के फलस्वरूप इनमे एक वीभत्स-संतोषबोध सदा के लिए पैदा

हो गया था। इस संतोषबोध ने इनमें सवर्णों की भांति सुखमय जीवन जीने की महत्वाकांक्षा कपूर की भांति उड़ा रखी थी। वे अगले जन्म में बेहतर जीवन की चाह में वर्तमान जन्म को दुरावस्था चुपचाप सहे जा रहे थे। अत: जिस हिन्दू ईश्वर और धर्मशास्त्राों ने शूद्रातिशूद्र और नारियों का जीवन नारकीय बना रखा था उनके खिलाफ कोई भी मानवतावादी कैसे संघर्ष छेड़ने से खुद को रोक सकता था? इस मामले में पेरियार बने थे भारत ही नहीं सम्भवत: समग्र विश्व इतिहास के सबसे कद्दावर व्यक्ति। वास्तव में इस पर खोज होनी चाहिए कि क्या दुनिया के ज्ञात इतिहास में किसी भी धर्म के अनुयायी ने समाजिक सरोकार से प्रेरित होकर ईश्वर व धर्मशास्त्रों के विरूद्ध पेरियार जैसा साहसिक संग्राम छेड़ा है ?

इसे इतिहास का एक विराट क्रान्तिकारी योग ही कहा जायेगा कि दुनिया के कई देशों की मिलित आबादी के बराबर जिस बहुजन समाज के लोग डिवाइन स्लेव बनकर अपनी जिन्दगी जानवरों से भी बदतर कर लिए थे उसी समाज से प्राय: थोड़े से अन्तराल में जन्मी दो हस्तियों ने 'डिवानिटी' के खिलाफ जेहाद छेड़ने में विश्व के सारे रिकार्ड ध्वस्त कर डाले। इनमें डा. आंबेडकर थे सर्वकाल के सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी। उन्होंने अपनी लेखनी को तलवार बनाकर, वैदिक काल से निर्मित हुई हिन्दू भगवानों की छवि और शास्त्रों की अभ्रान्ता और अपौरूषेयता को टुकड़े-टुकड़े कर डाला। शास्त्रों और भगवानों की छवि बलिष्ठतापूर्वक ध्वस्त होने के बाद जरूरत थी व्यवहारिक जीवन में शास्त्रों और भगवानों के ठुकराने की। पेरियार ने उस जरूरत को ऐतिहासिक अंदाज में नायकोचित तरीके से पूरा किया।

पेरियार ने कहा था - *धर्म एवं ईश्वर की खोज केवल मात्र मनुष्य प्राणियों के लिए बना है; अन्य प्राणियों के लिए धर्म का प्रचार नहीं। यदि वास्तव में धर्म एवं ईश्वर का वजूद होता तो समाज में विराज करता, साम्य। यदि संसार से मिटा दिया जाय गरीब-अमीर शासक-शोषक और उँच-नीच का भेद तो वास्तव में विलिन हो जायेगा अस्तित्व ईश्वर और धर्म का।* इसलिए उन्होंने रोष के साथ कहा था,*किसी पत्थर के टुकड़े को मंदिर में प्रतिष्ठित एवं तथाकथित प्राण-प्रतिष्ठा कर ईश्वर के रुप में प्रचारित करने, उसे मुग्ध करने के लिए देवदासियों के नृत्य, गीत इत्यादि के आयोजन के पीछे कोई युक्ति का दशर्न मिलता है?* ऐसे में उन्होंने ललकारते हुए कहा था, *अगर ईंट-पत्थरों के बने मन्दिरों में ईश्वर रहता है तो वह सामने आकर बताये कि उसने छोटा-बड़ा आदमी नहीं बनाया।* उन्होंने गहरी समवेदना के साथ मानवता को आह्वान करते हुए कहा था, *ईश्वर नहीं है; अवश्य ही ईश्वर नहीं है! जो: ईश्वर का प्रचार करता है वह दुष्ट है; जो ईश्वर को पूजते हैं वे बर्बर हैं।*

आश्चर्यजनक धातु के बने पेरियार सिर्फ मंचो पर ईश्वर के अस्तित्व को नकार कर चुप नहीं रहे; स्वयं हिन्दू ईश्वर के समक्ष हिमालय की तरह चुनौती बनकर खड़े हुए थे। उन्होंने हिन्दू ईश्वर व धर्म और कुसंस्कार के विरूद्ध संग्राम चलाने के लिए डेढ़ करोड़ रूपये से ज्यादा की अपनी संपत्ति दान कर दिया था। उन्होंने खुद ही नहीं अपनी स्त्री-पुत्र-परिजन सभी को युक्तिहीन सामाजिक व धर्मीय कदाचारों के उर्द्ध जीवनयापन करने के लिए प्रेरित किया था। अपने पुत्र की शादी में शहनाई की जगह शोक-संगीत बजवाया था। शादी उन्होंने

हिन्दू धर्मानुसार अति अशुभ लग्न में करवाया था। उस शादी में पुरोहितों की जगह विधवाओं से काम लिया था। न भूतों, न भविष्यते। वह एक अद्‌भूत व आश्चर्यतम दृश्य था जिसे लोगों ने दीदे फाड़कर देखा था- ट्रक पर सवार पेरियार, उस पर रखी सीता-राम, राधा-कृष्ण, शिव पार्वती, गणेश आदि की मूर्तियों पर झाड़ू और जूतों की बरसात करते हुए पेरियार कह रहे थे- *देखो ! इन देवी-देवताओं में कोई शक्ति नहीं है, ये मेरा कुछ नहीं बिगाड़ पा रहे हें।* सचमुच पेरियार ने अपने व्यवहारिक जीवन द्वारा प्रमाणित कर दिया था कि ईश्वर जैसी कोई सत्ता नहीं है। यह प्रमाणित कर उन्हें असीम तृप्ति हुई थी जिसकी अभिव्यक्ति उन्होंने अपने 93 वें जन्मदिन पर अपनी पत्रिका विदूतलै में लेख लिखकर किया था। उन्होंने लिखा था- *मैं अब भी एक स्वयंसेवक हूं तथा समताधारित समाज की स्थापना के लिए कार्य कर रहा हूं जिसका प्रयोजन है जाति व्यवस्था पर आधारित समाज को सर्वथा के लिए समाप्त कर देना। अपने प्रचार द्वारा मैं अपनी इस घोषणा में सफल हो गया हूं कि ईश्वर नहीं है। मेरे इस विचार को लोग स्पष्ट रूप से समझ सके, इसके लिए मैंने अपने अनुयायियों को निर्देश दिया है कि वे चप्पलों से ईश्वर को पीटें। इस संबंध में यहां तक जा चुका हूं कि यदि ईश्वर होता तो क्या वह मुझे इतनी लम्बी उम्र तक जिन्दा रखता? यह सत्य है कि मेरे प्रयास का प्रथम प्रयोजन जाति प्रथा को समूल नष्ट करना हैं। किन्तु इस जाति प्रथा के उच्छेदन के प्रयत्न ने मुझसे इस देश से ईश्वर, धर्म-शास्त्र और ब्राह्मणवाद को समाप्त करने की बात भी कहलवा दी है। हो सकता है हम आधुनिक युग की संगति में भले ही जाति समाप्त करने का समर्थन करने लगे किन्तु ईश्वर, धर्म, शास्त्र और ब्राह्मणवाद इन चारों की समाप्ति की बात करने से खौफ खायेंगे। जातियां तब तक समाप्त नहीं होगी जब तक स्वतंत्र चिंतन और यथेष्ट ज्ञान नहीं अर्जित कर लेते हैं। जाति ने हममें मूर्खता का भाव उत्पन्न कर दिया है तथा हमारी गुलामी की मनोवृत्ति का पोषण किया है। उक्त चारों दुश्शक्तियों ने जाति-प्रथा बरकरार रखने को अपना परम कर्तव्य समझा है।*

यदि कोई व्यक्ति ईमानदारी से कहता है कि जातियां समाप्त होनी चाहिए तो उसे यह कहने के लिए तैयार रहना चाहिए कि उक्त चारों अर्थात् ईश्वर, धर्म, शास्त्र और ब्राह्मणवाद को सबसे पहले समाप्त होना चाहिए। मैं यह देखकर परमानन्द और उत्साह का अनुभव कर रहा हूं कि वे लोग मेरा अनुगमन करने तथा मेरी बात सुनने के लिए तैयार हैं। सलेम के सम्मेलन ने मेरी चिन्तन पद्धति को और सुदृढ़ किया है। इससे मेरा पथ प्रशस्त हुआ है। मेरी जाति प्रथा को समाप्त करने का कोई विरोधी नहीं है। ऐसी परिस्थिति में मेरा लोगों से अनुरोध है कि वे न तो मंदिर जाएं, न धार्मिक त्योहारों में भाग लें, न धार्मिक उत्सव मनाएं और न अपने मस्तक पर टीका (लेप) लगाएं।

अब तमिलनाडु में कुसंस्कार में बेतहासा वृद्धि और दलितों के प्रति अमानवीय व्यवहार के लिए छाती पीटने वाले पेरियार विरोधी ही बलतावें कुसंस्कार और जाति प्रथा के ध्वंस के लिए पेरियार जिस सीमा तक आगे बढ़े थे, उससे आगे भी कुछ बचता है? फुले, नारायण गुरू, शाहूजी और आंबेडकर को झेल लेने वाले आर्यावर्त के कृष्ण और राम भक्त आखिर

क्यों पेरियार की मूर्ति को ही नाले में डुबोने का संकल्प बार-बार दोहराते हैं? कहीं उत्तर भारत की सवर्णवादी शक्तियां इसलिए तो नहीं आतंकित हैं कि देश की राजनीति की दिशा निर्धारित करने वाले अंचल में यदि पेरियार नामक यम दलित एक्टिविस्टों के सीमित दायरे से निकल कर आम जनता के बीच पहुंच गया तो हिन्दू-धर्म-संस्कृति के नाम पर शूद्रातिशूद्रों को उद्वेलित कर केन्द्रीय सत्ता कब्जाने का मार्ग रूद्ध हो जायेगा? और पेरियार विरोधी बुद्धिजीवी क्या इसलिए ही चिंतित है कि आर्यावर्त में पेरियारवाद के प्रसार से अंधविश्वास और दलित उत्पीड़न में इजाफा हो जायगा या कोई और कारण है? मायावती भी पेरियार की ताकत को जानती है इसलिए वे पेरियार के सवाल पर जोखिम उठाती हैं और जब तक उनमें सामाजिक परिवर्तन की आग है, उम्मीद करनी चाहिए कि ईश्वर, धर्म, शास्त्र और ब्राह्मणवाद के यम को एक और भी कारण से वे प्रचारित करने में सर्वशक्ति लगाती रहेंगी।

पेरियार के प्रति बसपाध्यक्ष की अतिरिक्त दुर्बलता का एक अन्यतम कारण उनके द्वारा इस्तेमाल किया गया 'मूलनिवासीवाद' का हथियार है। प्रधानत: इसी हथियार का इस्तेमाल कर थंथाई पेरियार ने दक्षिण भारत में ब्राह्मण सत्ता का विनाश कर डाला था। वैसे आरक्षण की भांति ही मूलनिवासीवाद को संकल्पना पेरियार ने फुले के चिंतन से ही लिया था। लेकिन 1922 में सिन्धु घाटी सभ्यता के उत्खनन से जब विदेशागत लोगों के भारत में प्रवेश की पुष्टि हो गयी तब पेरियार ने द्रविड़ों को आह्वान करते हुए कहा था - *ब्राह्मण और ब्राह्मणवाद, हिन्दू-धर्म और जातिवाद भारतीय नहीं है। ये आर्य हैं जो विदेशों से आकर भारत-भूमि पर कब्जा जमाये हुए हैं। समस्त मूलनिवासी द्रविड़ों को एकत्रित होकर अपनी स्वाधीनता और मुक्ति के लिए इनके विरूद्ध संग्राम चलाना होगा।* और पेरियार की उस पुकार ने जादू-सा असर किया था। इसीलिए जब कांशीराम सामाजिक परिवर्तन का लक्ष्य लेकर सार्वजनिक जीवन में उतरे तो वे पेरियार के मूलनिवासीवाद को अपनाने से खुद को न रोक सके। कांशीराम के मूलनिवासीवाद पर फुले से ज्यादा पेरियार का प्रभाव है। उन्होंने भी पेरियार की भांति अपने अनुसरणकारियों को सिन्धु सभ्यता के सृजनकार पुरखों की धरती विदेशी आर्यो से मुक्त करने का गुहार लगाया; पेरियार की भाषा में ही कहा हिन्दू धर्म विदेशी आर्यों का धर्म है। मूलनिवासीवाद ने ही परस्पर शत्रुता से लबरेज शूद्रातिशूद्रों की 6000 जातियों को बहुजन समाज में परिणम होने की प्रक्रिया शुरू की। इसी मूलनिवासीवाद के कारण कुछ पशमांदा मुसलमान जातियां बहुजन समाज में शामिल हुईं। यह मूलनिवासीवाद ही बहुजनों में भाईचारा स्थापित करने में सहायक हुआ। इसी भाईचारे के आधार पर कांशीराम दावा करते हैं कि उन्होंने 6000 जातियों में से 600 को जोड़कर बहुजन समाज में तब्दील कर दिया है। उनका दावा है यदि 1000 और जातियों को वे जोड़ लेते तो बहुजन समाज को शासक बनाकर परिवर्तन की आंधी बहा देंगे। इन 1000 अतिरिक्त जातियों को जोड़ने में कोई सबसे प्रभावी रोल अदा कर सकता है तो पेरियार का मूलनिवासीवाद ही। अत: हम भविष्य में भी मायावती को पेरियार के सवाल पर जोखिम उठाने का दृश्य चाक्षुस करते रहेंगे।

सामाजिक परिवर्तन में पेरियारवाद की उपयोगिता का निष्कर्ष निकालने पर मुख्य रूप

से तीन बातें उभरकर सामने आती हैं। पहला, पेरियारवाद सदियों से हिन्दू आरक्षण व्यवस्था के तहत् संपत्ति सहित तमाम आर्थिक व सांस्कृतिक स्रोतों से वंचित किये गये लोगों को राष्ट्र के प्रत्येक क्षेत्र में भागीदारी हासिल करने के लिए किसी भी सीमा तक जाने के लिए प्रेरित करता है। पेरियार ने आत्मसम्मान के आंदोलन के माध्यम से ऐसा दृष्टान्त स्थापित किया था;

दूसरा, पेरियारवाद का ईश्वर, धर्म, शास्त्र और ब्राह्मणवाद के विरूद्ध कठोर संग्राम चलाने का निर्देश, अंधविश्वास और जाति के ध्वंस का समान तो मुहैय्या कराता ही है, उससे भी आगे सामाजिक परिवर्तन में विराट बाधक दैविक गुलामी (Divine Slavery) से निजात दिलाने में अतिप्रभावी भूमिका अदा करता है। ध्यातव्य है कि डिवाइन स्लेवरी से वीभत्स-संतोषबोध की उत्पत्ति होती है; संतोषबोध उन्नततर जीवन की महत्वाकांक्षा (Aspiration) कपूर की भांति उड़ा देता है। शूद्रातिशूद्रों के वीभत्स-संतोषबोध के कारण ही, श्रेणी समाजों में जैसे असंख्य क्रान्तियों का इतिहास रचित हुआ, वैसा भारत में न हो सका;

तीसरा, पेरियारवाद में निहित 'मूलनिवासीवाद' देश के उद्योग-व्यापार, फिल्म-टी.वी., प्रिन्ट व इलेक्ट्रॉनिक मीडिया इत्यादि सहित समस्त आर्थिक व सांस्कृतिक स्रोतों व शासनतंत्र पर कब्जा जमाये आर्यों के विरूद्ध मूलनिविासियों को तो गोलबंद करता ही है, इससे भी आगे वह भ्रातृत्व के कंगाल भारत को भ्रातृत्व से समृद्ध करता है। इससे परस्पर शत्रुता से लबरेज 6000 वंचित मानव समूहों में भाईचारा व सद्भाव पैदा होता है।

अगर उपरोक्त निष्कर्ष सही है तो पेरियार विरोधी ही बतायें सामाजिक सुधार नहीं, सामाजिक परिवर्तन के लिए फुले, शाहू, नारायण गुरू और आंबेडकरवाद के साथ मिलकर पेरियारवाद जो सामान मुहैय्या कराता है, उसका विकल्प क्या गांधीवाद, लोहियावाद, मार्क्सवाद, हेडगेवारवाद और कबीरवाद में है? अगर नहीं है तो सामाजिक परिवर्तन की दिवानी मायावती क्यों नहीं पेरियार को आर्यावर्त में स्थापित करने का उपक्रम चलावें और क्यों नहीं दलित लेखक पेरियारवाद से प्रेरणा लें? इसका जवाब देने का विनम्र अनुरोध पेरियार विरोधियों के समक्ष यह तुच्छ लेखक कर रहा है।

यदि कांशीराम न होते?

क्या हिन्दी पत्रकारिता में ही समाज की सारी गतिविधियों, कार्यक्रमों और योजनाओं में दलित का पक्ष और दृष्टिकोण की प्राय: पूरी तरह अनदेखी और हिन्दू मानसिकता की अभिव्यक्ति होती है? अगर हिन्दी के ढेरों मूर्धन्य सवर्ण पत्रकारों की बात मानी जाय तो उत्तर 'हां' लगता है। इनके अनुसार हिन्दी पत्रकारिता हिन्दू पत्रकारिता है और यह हिन्दू आत्मश्लाघा की पराकाष्ठा है। चर्चित पत्रकार मंगलेश डबराल के अनुसार हिन्दी पत्रकरिता की इस दुर्भाग्यपूर्ण परिणति का कारण यह है कि उत्तर भारत के ज्यादातर हिन्दी अखबारों के मालिकों और पत्रकारों के बहुत क्षुद्र स्वार्थ बन गये हैं। उत्तर प्रदेश राजनैतिक रूप से शक्तिशाली तो सांस्कृतिक रूप से अत्यन्त दरिद्र भी है। यह दरिद्रता हिन्दी अखबारों में प्रकट होती है। कुछ अखबारों के पत्रकार या तो नेता हैं या विभिन्न पार्टियों के एजेंट। यह एक बड़ा दुर्भाग्य है कि हिन्दी पत्रकारिता पूरे समाज के बारे में एक व्यापक अंतर्दृष्टि रखने के बाजाए एक घटिया हिन्दू मानसिकता की अभिव्यक्ति करती रही है।

लेकिन क्या यही अंतिम सत्य है कि एकाधिक कारणों से सिर्फ हिन्दी पत्रकारिता में ही घटिया हिन्दू मानसिकता की अभिव्यक्ति होती रही है या अब होती है? नहीं, समग्र भारतवर्ष की पत्र-पत्रिकाओं में ही, जिनके मालिक, संपादक और पत्रकार के रूप में सवर्णो का प्रभुत्व है, ऐसी मानसिकता की अभिव्यक्ति होती हैं। और इसका कारण मात्र वही नहीं है, जो डबराल जी ने बताये हैं; बल्कि वह डॉ. आंबेडकर के इस समाजशास्त्रीय अध्ययन में निहित है। उन्होंने 'जाति का उन्मूलन' में कहा है– *हिन्दुओं में उस चेतना का सवर्था अभाव है जिसे समाज विज्ञानी समग्र वर्ग की चेतना कहते हैं। उनकी चेतना सर्व-वर्ग से संबंधित नहीं है। हरेक हिन्दू में जो चेतना पाई जाती है, वह उसकी अपनी जाति के बारे में होती है। जब भी कोई समुदाय अपने स्वार्थ की रक्षा की भावना से प्रेरित होता है तो उसमें असामाजिकता की भावना पैदा हो जाती है। यह असामाजिकता की भावना ही अर्थात् अपने स्वार्थ की भावना विभिन्न जातियों के एक-दूसरे से अलग होने का एक ऐसा ही विशिष्ट लक्षण है, जैसा कि अलग-अलग राष्ट्रों का। ब्राह्मणों का मुख्य उद्देश्य यह है कि गैर-ब्राह्मणों के विरूद्ध अपने स्वार्थ की रक्षा करें और गैर-ब्राह्मणों का उद्देश्य यह है कि ब्राह्मणों के विरूद्ध अपने स्वार्थ की रक्षा करें। इसलिए हिन्दू समुदाय विभिन्न जातियों का संग्रह मात्र नहीं है, बल्कि वह शत्रुओं का समुदाय है। उसका हर विरोधी वर्ग स्वयं अपने लिए और अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए जीना चाहता है।*

समाज विज्ञानियों द्वारा चिन्हित की गई इस चेतना का व्यतिक्रम शायद ही कोई हिन्दू हो । हजारों वर्षो से अपनी प्रतिभा से जनगण की विस्मित करने वाली ब्राह्मण या गैर-ब्राह्मण हिन्दू हस्तियां भी समग्र वर्ग की चेतना से पूरी तरह समृद्ध नहीं रही। इसीलिए हम इतिहास में पाते हैं कि राजसत्ता का सहयोग पाकर जब राजा राममोहन राय और पंडित विद्यासागर जैसे महामानव भारतीय समाज को कुछ देने के लिए आगे आये तो उन्होंने अपनी सर्वाधिक उर्जा क्रमश: सती

प्रथा के अवसान और विधवाओं के पुनर्विवाह में खर्च किया। सती और विधवा प्रथा प्रधानतः ब्राह्मण वर्ग अर्थात् इन दोनों महामानवों के समाज की समस्यायें थीं। सर्व वर्ग की चेतना के अभाव के कारण ही स्वाधीनेत्तर भारत के प्रधानमंत्री के सर्वोच्च पद पर बैठे लोग, जो ज्यादातर सवर्ण जातियों से रहे, गैर-दलित और दलित समाज के मध्य विद्यमान आर्थिक विषमता की खाई को पाटने के लिए आवश्यक कदम न उठा सके। भारत के वर्तमान प्रधानमंत्री के पहले जो ब्राह्मण प्रधानमंत्री देश के भाग्य निर्माता रहे उन्होंने तो इस चेतना के अभाव में अपने शत्रु पक्ष को ध्वस्त करने व सजातीय वर्ग की स्वार्थ की रक्षा के लिए देश की सुरक्षा तक से जुड़े सार्वजनिक उपक्रमों को औने-पौने दामों में बेचने का अभियान चलाया। सर्व वर्ग की चेतना की दरिद्रता हिन्दू समाज की इतनी क्रूर सच्चाई है कि इससे मोक्ष के लिए संसार त्याग करने वाले साधु-सन्यासी तक मुक्त नहीं रहे। इसीलिए तो जब मंडलोत्तर भारत में बहुजनों की जाति चेतना के कारण सवर्ण सत्ता पर संकट आया, 'ब्रह्म सत्य, जगत मिथ्या' का उद्घोष करने वाले साधु-संतों के वेश में छिपे ब्राह्मण राम जन्मभूमि उद्धार के नाम पर आंदालेन छेड़कर, देश की कई हजार करोड़ की संपदा और असंख्य लोगों की प्राणहानि कराकर, सत्ता की लगाम अंततः एक ब्राह्मण प्रधानमंत्री के हाथ में थमा दिये।

जब बड़े-बड़े समाज सुधारक, राजनेता, साधु-सन्यासी तक सर्व वर्ग की चेतना से समृद्ध नहीं रहे, तब कलम की दुनियां की प्रतिभायें, जिनमें अधिकांश के लिए लेखन मिशन नहीं प्रोफेशन है, ही कैसे अपवाद हो सकती हैं? इसलिए हिन्दुओं द्वारा रचित साहित्य में विविधतामय भारत के सभी वर्गों की समस्याओं का अपेक्षित प्रतिबिंबन नहीं हुआ। इसीलिए आज मुख्यधारा के साहित्य का दूसरा नाम सवर्णवादी साहित्य है। भारत का लेखक वर्ग बातें तो अखिल मानवता, वसुधैव कुटुम्ब की करता रहा है पर स्व-वर्णवादी सोच के कारण इसके विश्व मानस का क्षितिज इतना संकुचित रहा कि ये ज्यादातर अपने जाति/वर्ण तक सीमित रहे। चूंकि लेखन जगत पर प्रभुत्व सवर्णों का रहा है इसलिए इस पवित्र दुनिया को सर्व वर्ग की चेतना से समृद्ध करने की जिम्मेवारी इन पर रही, जिसमें वे विफल रहे। अगर ये वर्णवादी मानसिकता से पीड़ित नहीं रहते तो अपनी प्रतिभा का अधिकत्तम उपयोग देश की उस चौथाई आबादी के हित में किये होते जिसकी मानवीय सत्ता मनुष्य के रूप में अस्वीकृत है एवं जो देश की संपदा संस्थाओं से सदियों से बहिष्कृत है।

लेखकों की इस वर्णवादी सोच से भारतीय पत्रकारिता भी पूरी तरह अभिशप्त है। इस सोच के कारण 26 करोड़ की दलित (अस्पृश्य-आदिवासी) आबादी से अंगुलियों पर गिने जाने भर लोगों को बड़ी मुश्किल से राष्ट्र के विचारों का निर्माण करने वाली पत्रकारिता में थोड़ा-बहुत स्पेस मिल पाया है। ऐसा नहीं कि स्पेस का संकट मात्र हिन्दी में ही है। अंग्रेजी सहित बांग्ला, मराठी इत्यादि अन्य भारतीय भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं में स्थिति लगभग हिन्दी जैसी ही है। इनमें भी समाज की सारी गतिविधियों, कार्यक्रमों और योजनाओं में दलितों के पक्ष और दृष्टिकोण की काफी हद तक अनदेखी की जाती है। इसकी ताजा मिसाल आजादी की 57 वीं वर्षगांठ पर प्रकाशित देश की सर्वाधिक लोकप्रिय हिन्दी और अंग्रेजी की दो साप्ताहिक पत्रिकाओं का विशेषांक है। इन दोनों की ही प्रकाशन तिथि 23 अगस्त 2004 है। इनमें हिन्दी की साप्ताहिक पत्रिका 'इंडिया टुडे' में आजादी की 57 वीं जयंती पर राष्ट्रीय

उपचार को ही वास्तविक उत्सव बनाने का स्लोगन देते हुए, भारत को बेहतर बनाने के लिए 57 उपायों पर अमल करने के लिए राष्ट्र के समक्ष अपील की गई है। इन उपायों में बूंद-बूंद बचाओ, छत की छाया, रोशनी की आस से लेकर दे दाता के नाम, बच्चों की भरमार, जरूरी जंगल, बात जड़ों की तक सहित जो कुल 57 कर्मसूचियां हैं, उनमें 'डाइवर्सिटी' का कोई उल्लेख नहीं है। जबकि डाइवर्सिटी 21वीं सदी का प्रमुख दलित एजेण्डा है। सदियों से सपंदा, संस्थाओं, व्यापार-उद्योग से पूरी वंचित किये गये दलितों को भूमंडलीकरण की आंधी से बचाने का उपाय मात्र 'डाइवर्सिटी' में ही है। इसीलिए भोपाल घोषणा के रूप में लागू 'डाइवर्सिटी' को अपनाने की अपील तत्कालीन राष्ट्रपति ने 25 जनवरी 2002 को की थी और आज सामाजिक विवेक सम्पन्न सवर्ण तक इसके समर्थन में आगे आ रहे हैं। लेकिन 'इंडिया टुडे' वालों के लिए लगता है 'डाइवर्सिटी' कोई मायने नहीं रखती है। डाईवर्सिटी के प्रति इंडिया टुडे से बहुत भिन्न रुख सवर्णों के नियंत्रण वाली दूसरी पत्र-पत्रिकाओं का भी नहीं है। सभी अपने-अपने तरीके से इस मुद्दे को दबा रही है। जबकि वर्णवादी भारतीय पत्रकारिता के विपरीत लोकतांत्रिक चेतना से सम्पन्न अमरीकी पत्रकारिता ने डाइवर्सिटी को लागू करवाने के लिए अमरीकी उद्योगपतियों को मजबूर करने का अभियान चलाया था।

यह तो हिन्दी वालों का बड़प्पन ही कहा जायेगा कि हिन्दी की रोटी खाने के बावजूद वे हिन्दी पत्रकारिता को हिन्दू पत्रकारिता कहने का साहस प्रदर्शित करते हैं। लेकिन अंग्रेजी वालों को क्या कहा जाय जो वेश-भूषा और आचार-व्यवहार में अंग्रेज और अमरीकनो जैसा लिबरल दिखने का तो प्रयास करते रहते हैं पर, मूल रुप से इनकी सोच वर्णवाद की धुरी पर घूर्णित होती रहती है। इनकी नियंत्रण वाली पत्र-पत्रिकाओं में बस इतना फर्क रहता है कि साधु-सधुआईनों के प्रवचनों की जगह सेक्स के लिए कुछ ज्यादा स्पेस रहता है पर, विचारों का निर्माण करते वक्त उन में घटिया न सही पर, हिन्दू मानसिकता की अभिव्यक्ति व दलित पक्ष की अनदेखी होती ही रहती है। अगर यकीन न हो तो कोई भी 23 अगस्त 2004 का अंग्रेजी 'आउट लुक' का अंक देखकर इसकी परीक्षा ले सकता है।

वैसे तो यह सभी ईमानदार बुद्धिजीवी कबूल करते हैं कि कला, फिल्म, साहित्य, पत्रकारिता जगत के भारतीय प्रतिभाधर बराबर से ही पश्चिम वालों से प्रेरणा लेते रहे हैं। आउट लुक वालों ने भी पश्चिम के कल्पना विलासी कुछ इतिहास प्रेमियों से प्रेरणा लेकर आजादी के 57वीं जयंती वाले अपने विशेषांक में कुछ अजीबोगरीब कल्पनायें की हैं। इसमें उन्होंने भारतीय समाज को अपनी काबलियत से प्रभावित करने वाली हस्तियों के जीवन से जुड़ी उन घटनाओं के न होने की कल्पना की है, जिनके कारण ही वे विकसित होकर श्रद्धा के पात्र बने; इन घटनाओं के बिना आज इनका वजूद जिस रूप में है शायद नहीं रह पाता। इसमें छोटी बड़ी 90 घटनाओं का जिक्र है। मसलन क्या होता यदि-भारत-पाक बंटवारा न होता, गांधी पर लगाया गोडसे का निशाना चूक जाता, 62 का युद्ध चीन से भारत जीत जाता, शास्त्री जी की अचानक ताशकंद में मृत्यु न होती, इंदिरा जी इमरजेंसी न लगातीं, संजय गांधी की विमान दुर्घटना में मौत न होती, बाबरी मस्जिद का ताला न खुलता, रामायण सिरियल का दूरदर्शन पर प्रसारण नहीं होता, हर्षद मेहता पकड़ा नहीं जाता, आडवाणी प्रधानमंत्री बने होते, मेधा पाटेकर नर्मदा नहीं जाती, भारत 83 का विश्व कप क्रिकेट हार जाता, नूरजहां के रुप में लता की कोई प्रतिद्वन्दी होती, जंजीर फिल्म में यदि देवानंद चुन लिए गये होते,

दीवार में अमिताभ की जगह राजेश खन्ना होते, सुष्मिता सेन मिस यूनिवर्स न बनती, शिशु सुनील गावस्कर को माधव मंत्री नर्सिंग होम में बदलने से न बचा लिया गया होता; आदि-आदि। इन 90 घटनाओं में दलितों से संबंधित मात्र दो घटनायें इसमें स्थान पा सकी हैं। इनका संबंध डा. आंबेडकर के धर्मान्तरण और रिजर्वेसन से है। इसमें साक्षात्कार के माध्यम से यह जानने की कल्पना की गई है कि 21 वर्ष पूर्व ही डा. आंबेडकर बौद्ध बन गये होते और लागू होने के दस वर्ष बाद ही आरक्षण खत्म हो गया होता तो?

यह कितने हैरत की बात है कि स्वाधीनोत्तर भारत में आउट लुक वालों को राजनीति, फिल्म, खेल-कूद, पर्यायवरण, सौन्दर्य, लेखन, गायन इत्यादि क्षेत्र की ढेरों हस्तियों के बीच डॉ. आंबेडकर के रूप में बहुजन समाज का इकलौता व्यक्ति मिला जिसके जीवन से जुड़ी दो घटनाओं पर कल्पना की दौड़ लगाने की कोशिश की गई। महात्मा गांधी, आंबेडकर, शास्त्री, इंदिरा गांधी इत्यादि जैसी कुछेक और हस्तियों को छोड़कर बाकी के न होने या होने से भारत समाज पर क्या कोई खास असर पड़ता? क्या सुनील गावस्कर के क्रिकेटर गावस्कर बन जाने से खेलों की दुनियां में भारत की स्थिति में फर्क आया? क्या अमिताभ के कारण भारत हॉलीवुड के करीब पहुंच गया? इसी तरह इस विशेषांक में स्थान पाने वाले शाहरूख खान, अजहारूद्दीन, बिपासा बसु, मल्लिका साराभाई, रजनीकान्त, विनोद खन्ना, सलीम-जावेद, अरूंधती राय इत्यादि के होने न होने से भारत पर क्या खास असर पड़ जाता? राष्ट्र को नाम मात्र प्रभावित करने वाले ऐसे लोगों में कुछ को छांटकर बहुजन समाज के पेरियार, मायावती, अछूतानंद, एस. के. विश्वास, चन्द्रभान प्रसाद, जगजीवनराम, लालू प्रसाद यादव, राजेन्द्र यादव इत्यादि के लिए जगह बनाई जा सकती थी। कम से कम कांशीराम को तो स्थान दिया ही जाना चाहिए था।

अगर आउट लुक वालों में भारतीय समाज की समस्त गतिविधियों, कार्यक्रमों और योजनाओं में दलितों के पक्ष और दृष्टिकोण के उपेक्षा करने की प्रबल भावना न होती तो वे भारत के जड़ समाज में परिवर्तन की तरंगे पैदा करने वाले कांशीराम के विषय में यह सवाल- *यदि पूना के ईआरडीएल में नौकरी करते हुए कांशीराम दलित कर्मचारी दीनाभाना की बर्खस्तगी की घटना से न जुड़ते तो?- उठाते हुए अपने विशेषांक में कम से कम आधा पृष्ठ का स्पेस देते। इस सवाल से जूझते हुए टिप्पणीकार कम से कम यह अवश्य लिखता। तब- हजारों साल की दास जातियों में शासक बनने की महत्वाकांक्षा पैदा नहीं होती; लाखों पढ़े-लिखे नौकरीशुदा लोगों में पे बैक टु दी सोसाइटी का भावना नहीं पनपती; दलित साहित्य में फुले-पेरियार- आंबेडकर की क्रांतिकारी चेतना का उग्र प्रतिबिंबन नहीं होता; पहली लोकसभा चुनाव के मुकाबले धीरे-धीरे 14 वीं लोकसभा चुनाव तक पिछड़ी जाति के सांसदों की संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि और सवर्ण सांसदों की संख्या में सोचनीय गिरावट नहीं दिखती; किसी दलित पार्टी को राष्ट्रीय पार्टी के रूप में देखना सपना होता; लालू प्रसाद यादव, मुलायम सिंह यादव इत्यादि शूद्रों की राजनैतिक हैसियत आज जैसी नहीं होती; अधिकांश पार्टियों के अध्यक्ष के रूप में ब्राह्मण ही नजर आते; विभिन्न सवर्ण पार्टियों में दलित-पिछड़ों की आज जैसी पूछ नहीं होती और तब कांशीराम के जातिय चेतना के हथियार का मुकाबला धार्मिक चेतना के राजनीतिकरण से करने के लिए संघ परिवार हिन्दुत्व, हिन्दुइज्म या हिन्दू धर्म को कलंकित करने के लिए मजबूर नहीं होता।*

प्रकाशन परिचय

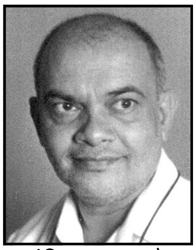

शांति स्वरूप बौद्ध

सम्यक् प्रकाशन भगवान् बुद्ध, बोधिसत्व बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर, ज्योतिबा फुले, साहू जी महाराज तथा अन्य सामाजिक क्रान्तिकारियों के मिशन के व्यापक प्रचार-प्रसार और पुनर्प्रतिष्ठापन को समर्पित है, जो सस्ते और रियायती मूल्य पर मूल्यवान साहित्य उपलब्ध कराता है। इसका एक और लक्ष्य ब्राह्मणवाद के वैचारिक-सांस्कृतिक भ्रमजालों से जनमानस को मुक्त कराना भी है। इसकी स्थापना प्रसिद्ध बौद्ध चिंतक एवं विश्व विख्यात चित्रकार शान्ति स्वरूप बौद्ध ने की है। अब तक इस प्रकाशन से 350 से अधिक छोटी-बड़ी पुस्तकें प्रकाशित की जा चुकी हैं। स्त्रियों और बच्चों के साथ ही मजदूर वर्ग के सांस्कृतिक विकास को ध्यान में रखते हुए सरल भाषा में सचित्र पुस्तकें तैयार करने में इस प्रकाशन का बहुत योगदान है। प्रकाशन का अपना एक सम्पादक मंडल है, जो उचित जांच-परख और समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर पुस्तकों का चयन करता है। प्रकाशन हमेशा इस बात के प्रति जागरूक है कि पाठकों को ब्राह्मणवाद और अंधविश्वास के अंधेरे से बाहर निकाला जाय, लेकिन ऐसे किसी भी प्रकाशन से सख्त परहेज किया जाए, जो किसी भी प्रकार का अंधविश्वास पैदा करता हो।

पुस्तक सूची

उदान जगदीश काश्यप	40
भिक्खु धर्मरक्षित कृत	
इतिवुत्तक	30
सुखी ग हस्थी के लिए बुद्ध उपदेश	40
कुशीनगर का इतिहास	75
कुशीनगर का इतिहास (सजिल्द)	160
बौद्ध चर्या पद्धति एन. के. केन	25
अम्बेडकरःजीवन दर्शन वि.कु.पुजारी	50
बाबा साहेब आंबेडकर क त	
नागपुर का धम्मोपदेश	5
द रिडल्स ऑफ रामा एण्ड क ष्णा	15
बुद्ध या कार्ल मार्क्स	20
जातिवाद का बीजनाश	35
धम्मचक्कप्पवत्तन सुत्त	20
भारत में जातिवाद	15
साम्प्रदायिक गुत्थी और....	15
डॉ. विमलकीर्ति कृत	
थेरीगाथा (सचित्र) पेपरबेक	175
थेरीगाथा (सचित्र) सजिल्द	300
सुतनिपात	70
सचित्र फुले जीवनी	50
सचित्र फुले जीवनी (सजिल्द)	100
शाहूजी सचित्र जीवनी (पेपरबेक)	50
शाहूजी सचित्र जीवनी (सजिल्द)	100
डा. जगन्नाथ उपाध्याय कृत	
भारतीय संस्क ति को बौद्ध–देन	35
बौद्ध संस्क ति बनाम ब्राह्मणवाद (PB)	200
बौद्ध संस्क ति बनाम ब्राह्मणवाद (HB)	450
राहुल सांक त्यायन कृत	
बौद्ध धर्म का उत्थान और पतन	5
बुद्ध के मूल सिद्धान्त	5
बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर (सचित्र)	10
नवदीक्षित बौद्ध	10
महापरिनिब्बाण सुत्त अनु.	30
स्वामी धर्मतीर्थ कृत	
ब्राह्मणवादियों ने बौद्ध धर्म.... ?	5
सोहन लाल शास्त्री कृत	
बाबा साहेब के सम्पर्क में 25 वर्ष(PB)	170
बाबा साहेब के सम्पर्क में 25 वर्ष(HB)	300
अछूतों के कल्याण का सही रास्ता	15
भारत में बोधिव क्ष कैसे सूखा ?	10
मनुस्म ति की शव परीक्षा	25
देश आगे कैसे बढ़े ?	10

सोहन लाल शास्त्री कृत

दलितों के मुक्तिदाता बा.सा.अम्बेडकर	10
हिन्दू कोड बिल और बाबा	15
हिन्दू कोड बिल और अम्बेडकर (PB)	70
हिन्दू कोड बिल और अम्बेडकर (HB)	150
हिन्दू समाज रचना....	15
भगवान् बुद्ध का अमर सन्देश	15

शान्ति स्वरूप बौद्ध कृत

बोधिपथ (सचित्र)	15
शान्तिपथ (सचित्र)	10
धम्मपद	15
बच्चों के 5000 नाम	20
भगवान बुद्ध का प्रथम उपदेश	10
भगवान बुद्ध (सचित्र)	25
बुद्ध के वैद्य जीवक (सचित्र)	20
सुनीत (सचित्र)	20
पटाचारा (सचित्र)	20
महाप्रज्ञावती खेमा (सचित्र)	20
भद्रा कुण्डलकेसा (सचित्र)	20
ऐसे थे हमारे बाबा साहेब (सचित्र)	40
रमाबाई अम्बेडकर (सचित्र)	20
कलन्दकनिवाप (सचित्र)	20
किसा गौतमी (सचित्र)	15
अंगुलिमाल (सचित्र)	20
पूर्ण स्थविर (सचित्र)	10
अनाथपिण्डिक (सचित्र)	20
विनयधर उपालि (सचित्र)	15
अम्बपाली (सचित्र)	20
सुजाता (सचित्र)	20
चिंचा माणविका (सचित्र)	20
मिगारमाता विशाखा (सचित्र)	20
यशोधरा (सचित्र)	20
महापजापति गौतमी (सचित्र)	20
महामाया (सचित्र)	20
राहुल भद्द (सचित्र)	20
खुज्जुत्तरा (सचित्र)	20
ऐसे थे भगवान् बुद्ध	20
देवदत्त (सचित्र)	20
रट्ठपाल (सचित्र)	20
उप्पलवण्णा (सचित्र)	20
प्रक ति (सचित्र)	20
उत्तरा नन्दमाता (सचित्र)	20
सारनाथ (सचित्र)	30
बोधगया (सचित्र)	50
सचित्र भीम जीवनी	50
सचित्र भीम जीवनी (सजिल्द)	100
सचित्र बुद्ध जीवनी	50
सचित्र बुद्ध जीवनी (सजिल्द)	100
सचित्र बुद्ध कथा	75
सावित्रीबाई फुले सचित्र जीवनी (PB)	50
सावित्रीबाई फुले सचित्र जीवनी (HB)	100
दीक्षाभूमि (सचित्र)	40
भगवान बुद्ध : व्यक्तित्व परिचय	60

एड.रावसाहेब मोहन कृत

यशवंतराव आंबेडकर (सचित्र)	25

सिद्धार्थ बौद्ध कृत

धम्म सेनापति सारिपुत्र (सचित्र)	20
कुणाल (सचित्र)	20

भद्रशील रावत क त

शूद्रों की स्थिति और डॉ. अम्बेडकर	10
भारत की गुलामी के सात कारण	75
घोड़े का अण्डा	10
रतनलाल गीतमाला	15
भगवान कौन और कैसे ?	15
भगवान बुद्ध का मध्यम मार्ग	10
माता पिता की सेवा का सुखद परिणाम	5
बुद्ध की द ष्टि में 7 प्रकार की पत्नियां	2.50
राष्ट्र निर्माण में बाबा साहेब...	30
भगवान बुद्ध की दिन–चर्य्या	15
चलो बुद्ध के पथ पर	15
चरित्र निर्माण में पंचशील की भूमिका	35
हिन्दूसाहित्य वर्ण-व्यवस्था व जातिभेद	15
आत्मा परमात्मा और अवतारवाद....	15
धम्मपद (पालि–हिन्दी)	25

नानक चंद रत्तू कृत

डॉ. अम्बेडकर संस्मरण-स्म तियां (PB)	150
डॉ. अम्बेडकर संस्मरण-स्म तियां (HB)	300
डॉ.अम्बेडकरःकुछ अनछुए प्रसंग(PB)	150
डॉ.अम्बेडकरःकुछ अनछुए प्रसंग (HB)	300

डॉ. धर्मकीर्ति कृत

बौद्ध धर्म में अनात्मवाद	70
मैं अनीश्वरवादी क्यों ?	70
बाबा साहेब का नरक से छुटकारा	15
समस्त जाट जाति प्रच्छन्न बौद्ध हैं	50
क्या बाबा साहेब का धर्मान्तरण राजनीति से प्रेरित था ?	5
बाबा ने ऐसा कहा (कुण्डलीसंग्रह)	30
अयोध्या में बौद्धों का बावरी महाविहार	20

मैंने हिन्दू धर्म क्यों छोड़ा ?	60
मैं बौद्ध क्यों हुआ ?	30
महान दार्शनिक—आचार्य धर्मकीर्ति	40
महान दार्शनिक—आचार्य नागार्जुन	40
महान दार्शनिक—आचार्य दिग्नार्ग	30
महान दार्शनिक—आचार्य वसुबंधु	40
महान दार्शनिक—आचार्य असंग	50
महान दार्शनिक—आचार्य सरहर्पा	40
महान दार्शनिक—आचार्य शान्तिदेव	75
महान दार्शनिक—आचार्य चन्द्रकीर्ति	35
महान दार्शनिक—आचार्य आर्यदेव	75
महान दार्शनिक—आचार्य शान्तरक्षित	35
महान दार्शनिक—भिक्खु नागसेन	75
बुद्ध धर्म—शंकाए और समाधान	70
समस्त मुण्डा जाति बौद्ध है	15
बौद्ध धर्म में शून्यवाद (PB)	75
बौद्ध धर्म में शून्यवाद (HB)	160
महान् बौद्ध दार्शनिक (HB)	750
जाति विध्वंसक भगवान बुद्ध	125
डॉ. संघमित्रा चौधरी कृत	
भारत में बौद्ध धर्म का उत्कर्ष और ह्रास	30
मैं बौद्ध क्यों हूं ?	5
जुगल किशोर बौद्ध कृत	
मन के साधे सब सधे	15
बौद्ध धर्म में कर्म का सिद्धान्त	50
बौद्ध धर्म की प्रासंगिकता	30
धम्मघोष	15
अत्ता हि अत्तनो नाथो	20
धम्मदेस्सी पराभवो	40
सब्बदुक्खा पम्मुच्चति	35
एतं मंगल मुत्तं	40
एस धम्म संनन्तनो	40
राजग ह (PB)	100
राजग ह (PB)	250
मोहनदास नैमिशराय कृत	
डॉ. भीमराव अम्बेडकर (सचित्र)	25
झलकारी बाई (सचित्र)	20
डॉ. भदन्त आनन्द कौसल्यायन (सचित्र)	20
पूर्वोदय बुद्ध विहार आगरा (सचित्र)	20
आग और आंदोलन (कविता संग्रह)	25
शीलप्रिय बौद्ध कृत	
जाति आधारित भेदभाव-डबरन सम्मेलन	10
कुशल प्रश्न : कुशल उत्तर (अनुवाद)	20
सच्चे सुख का मार्ग	10
बोधिसत्व की आचार संहिता	20
तथागत बुद्ध : जीवन और देशनाएं	10
बुद्ध और लोकतंत्र	10
आप ही शान्ति दूत हैं	10
पूनापैक्ट क्या,क्यों-किसके लिए (PB)	80
पूनापैक्ट क्या,क्यों-किसके लिए (HB)	170
बोधिसत्व गुरू रविदास (लघु नाटिका)	20
अछूतानन्द सचित्र जीवनी (PB)	50
अछूतानन्द सचित्र जीवनी (HB)	100
मधुकर पिपलायन कृत	
रावण को बुद्ध का उपदेश	10
दानवीर वेस्सन्तर (सचित्र जातककथा)	10
धम्मपद और दस पारमिताएं (सचित्र)	15
आदर्श बौद्ध कथाएं— भाग 1 (सचित्र)	30
आदर्श बौद्ध कथाएं— भाग 2 (सचित्र)	30
आदर्श बौद्ध कथाएं— भाग 3 (सचित्र)	30
आदर्श बौद्ध कथाएं— भाग 4 (सचित्र)	30
आदर्श बौद्ध कथाएं— भाग 5 (सचित्र)	30
आदर्श बौद्ध कथाएं— भाग 6 (सचित्र)	30
आदर्श बौद्ध कथाएं— भाग 7 (सचित्र)	30
भारतीय समाज में वर्णभेद	25
सोपारा (सचित्र)	20
बौद्ध महिलाओं के प्रेरणा प्रसंग (PB)	70
बौद्ध महिलाओं के प्रेरणा प्रसंग (HB)	150
महान सम्राट अशोक (सचित्र)	70
महान सम्राट अशोक (सचित्र)	125
तिपिटक परिचय	100
भगवान बुद्ध की जन्म स्थली—लुम्बिनी	70
एच.एल. दुसाध कृत	
हिन्दू आरक्षण और बहुजन संघर्ष	395
वर्ण व्यवस्था : एक वितरण व्यवस्था	295
स्वरूप चन्द्र कृत	
पिछड़ा वर्ग और डॉ. अम्बेडकर	20
दलित अन्तर्द्वंद्व (दलित कहानियां)	75
गुरु रविदासःदर्शन एवं सामाजिक चिन्तन	25
बुद्ध और उनके अनुचर आ.कौसल्यायन	60
डा. एल.बी.राम अनंत कृत	
भगवान को नमस्कार	15
बौद्धों की बाईस प्रतिज्ञायें	10
जी.पी. बौद्ध कृत	
आर्य नीति का भण्डा—फोड़	25
क्या गांधी के हरिजन हिन्दू हैं	30
डॉ. अम्बडेकर बेवरले निकोलस	5
शोरी का शोर बाली व आनंद स्वरूप	10

बुद्ध संघ प्रेमी कृत
शम्बूक वध 20
बुद्ध या युद्ध (गीत) 10
आरक्षण की ललकारः ..आनन्द स्वरूप2.50
बुद्ध पचासा (सचित्र) बाबुराम शाक्य वैद्य 5
भन्ते नागसेन महाथेरो कृत
भीम भजनावली (कविता संग्रह) 15
गारी धम्मप्रकाश (गीत संग्रह) 5
शायर देवीदास गुलदे कृत
भीम जाग ति गीत माला (गीत) 15
बौद्ध जाग ति गीत माला (गीत) 15
बुद्ध बारामासी गजराज सिंह बौद्ध 5
बाबासाहेब विनोदी स्वभाव दामोदरमोरे 10
बौद्ध जीवन मार्ग नागरत्न 50
श्याम सिंह कृत
आत्मा और पुनर्जन्म 15
संविधान सभा में डॉ. अम्बेडकर (HB)100
संत रैदास की मूल विचार धारा 60
संत रैदास की मूल विचार धारा (HB) 150
डॉ. भिक्खु सत्यपाल कृत
कच्चायन न्यासो I भाग (पालि व्याकरण)300
धम्म संगहो त तीय भाग 65
भारत के सा.क्रांतिकारी दे.कु. बैसन्तरी 75
बौद्धों के आठ महातीर्थ चन्द्रसैन बौद्ध 40
बौद्ध महिला गायन (गीत) शोभा बौद्ध 15
तिनका तिनका आग ज.प्र. कर्दम 70
सूरजपाल चौहान कृत
छू नहीं सकता 10
हैरी कब आएगा ? (कहानी संग्रह) 40
मेरा गांव (कविता संग्रह) 10
गारीबुद्ध ज्ञानमाला (गीत) भि. राष्ट्रपाल 5
बौद्ध गीत माला डॉ. डी.आर. बौद्ध 5
तथागत भीम गुणगान-सचित्र पागलबाबा 20
पी.लक्ष्मी नरसू कृत
बौद्ध धम्म का नैतिक पथ 25
बौद्ध धम्म में नारी 10
बौद्ध धर्म और जातिवाद 20
चार महान श्रेष्ठ सत्य और आष्टांगिक मार्ग20
श्रेष्ठ सत्य और आष्टांगिक मार्ग 20

शब्द थके जरूर हैं (काव्य) चि.कटारिया 100
डॉ.अम्बे. जीवन-चिन्तन 1 चां.भ.खैरमोडे175
ताराराम कृत
बुद्ध धर्म का मूल तत्व 75
धम्मपद : गाथा और कथा 1500
वज्रसूची डॉ.संघसेन सिंह 10
विजय (कविता) होशियार सिंह शंबर 50
बौद्ध महिला गीत मंजरी प्रेम लता 15
बौद्ध विवाह जरूरी क्यों भि.धम्मरत्न 10
संसार व मानव जीवन भदन्त धम्मरत्न 30
कृषि,वन-व क्ष,पर्या... डॉ. सुमन (PB) 140
कृषि,वन-व क्ष,पर्या... डॉ. सुमन(HB) 200
बसपा और संरचनात्मक परि... डॉ.वि.कुमार 30
डॉ. मंजू सुमन कृत
दलित महिलाएं (PB) 125
दलित महिलाएं (HB) 250
दलित नारी एक विमर्श (PB) 150
दलित नारी एक विमर्श (HB) 350
डॉ. महीपाल सिंह 'महीप' कृत
बुद्ध वचन की पहचान 100
बुद्ध वचन की पहचान (HB) 250
धम्मपद—काव्य अनुवाद (PB) 80
धम्मपद—काव्य अनुवाद (HB) 175
बौद्ध जागरण गीत भिक्खु प्रज्ञादीप 20
बुद्ध चरित चंद्रोदय विनीत विक्रम बौद्ध300
दलित दस्तावेज (PB) एम.आर.विद्रोही 125
दलित दस्तावेज (HB) एम.आर.विद्रोही300
मराठी संत साहित्य में बौद्ध अवधारणाएं
विश्वनाथ धर्माजी शिंगाडे 350
पुष्फंजलि सेतल संघसेनो 80
टॉर्च ऑफ इण्डिया एम.एल. संखवार 15
भगवान बुद्धःजीवन-उपदेश क.कु.बौद्धी 75
फुले का समाज दर्शन डॉ.स.आगलावे 120
नारी के उद्धारक डॉ.आंबेडकर कु.मेघवाल 75
धूल का पंछी यादों के पंख डॉ.निमगडे250
बौद्ध जागरण गीत भिक्खु प्रज्ञादीप 20
सा.न्याय के लिए सा.शिक्षा राम खोब्रागड़े 50
भारतीयधर्म और डॉ.आंबेडकर आशुतोशेन्द्र 20
बहुजन नायक कांशीराम सतनाम सिंह 60

सम्यक प्रकाशन
भीमसेवा का आश्वासन